नागरिक और नागरिकता

यह पहली कृति मेरे पूज्य पिताजी

को

समर्पित

प्राक्कथन

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय नागरिकों पर नया उत्तरदायित्व आ गया है। अब देश की पुनः रचना का समय आ गया है। अतः प्रत्येक भारतीय नागरिक को केवल नागरिक शास्त्र के मूलतत्वों ही से परिचित नहीं होना है, किन्तु उन मौलिक तत्वों को कार्यरूप में परिणित कर देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाना है, जिससे देश का लाभ हो। अतः इस पुस्तक में नागरिक शास्त्र के विभिन्न तत्वों को केवल पठन-पाठन का ही विषय न बनाकर उसको व्यवहारिक व उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। दैनिक जीवन के उदाहरणों को लेते हुये विभिन्न विषयों का विवरण किया गया है, जिससे पाठकों के हृदय पर नागरिक शास्त्र के सिद्धान्तों का और दैनिक जीवन की समस्याओं का घनिष्ट सम्बन्ध अंकित हो। यथा सम्भव मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की पृष्ठ भूमि पर विभिन्न विषय समझाने का प्रयत्न किया गया है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को मानव समाज के समुचित लाभ की दृष्टि से समझाने व सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

भारतीय गणतन्त्र संविधान पूर्णतया लोकतन्त्रात्मक दिशा की ओर झुका हुआ है। इस संविधान की सफलता के लिये नागरिकों को लोकतन्त्र सिद्धान्तों तथा उसके व्यवहारिक रूप से पूर्णतया परिचित कराना आवश्यक है। स्वस्थ प्रजातन्त्रात्मक भावना ही प्रजातन्त्र को सफल बना सकती है। अतः इस पुस्तक में प्रजातन्त्रात्मक भावना की उत्पत्ति के साधन, कुटुम्ब समूह, समाज इत्यादि की रचना के सिद्धान्त क्या होने चाहिये, विद्यार्थियों के सम्मुख क्या ध्येय होने चाहिये, उच्च नागरिकता की सृष्टि कैसी होनी चाहिये, समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व का सच्चा अर्थ क्या है इत्यादि

विषयों पर यथोचित प्रकाश डाला गया है। नागरिकों की समस्याओं व सम्बन्धों को नवीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

यह पुस्तक इण्टरमीडियेट कक्षाओंके पाठ्य-क्रमानुसार लिखी गई है। आज नागरिक शास्त्र पर अनेकों पुस्तकें लिखी गई हैं। किन्तु यह पुस्तक अपनी इन विशेषताओं तथा विशिष्ट ध्येयवादिता के कारण आवश्यक प्रतीत होती है। यह पुस्तक विद्यार्थियों और अध्यापकों के सम्मुख इसलिये रक्खी जाती है कि वे उससे लाभ उठा सकें और देश की रचना नूतन विचार धारा के अनुरूप कर सकें।

मैं आशा करती हूँ कि पाठकगण पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करते हुये रचनात्मक सुझाओं द्वारा मुझे अनुग्रहीत करेंगे।

'स्वतन्त्रता दिवस'
१५ अगस्त, १९५२
काशी

शुभदा तेलंग

विषय-सूची (संक्षेप)

————

विषय-सूची (विस्तारपूर्वक)

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय १०

साधन, सामाजिक कुरीतियों को दूर करना, आधुनिक राज्य इन कार्यों को भी करता है, अपाहिज, दरिद्र, अनाथ तथा बूढ़ों का भी प्रबन्ध करता है।

सरकार व सरकार के विभिन्न कार्य क्षेत्र

अध्याय ११

अध्याय १२

२०१–२२३

सरकार के अंग तथा उनका सम्बन्ध और अधिकार विभाजन का सिद्धान्तः—राज्य और सरकार की तुलना, अधिकार विभाजन का सिद्धान्त अधिकार विभाजनवादियों की दलीलें ये हैं—विभाजन सिद्धांत की समालोचना, सरकार के कार्य विभाजन का अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त, विधान मण्डल अथवा व्यवस्थापिका सभा के कार्य, विधान मण्डल की अवधि, दो सभाओं से लाभ, दो सभाओं से हानि, दोनों सभाओं का सम्बन्ध, कार्य कारिणी, कार्यपालिका की नियुक्ति की रीतियां, वंशानुगत कार्य पालिका, मनोनीत कार्य पालिका, निर्वाचित कार्य पालिका, कार्य पालिका के गुण। सर्व श्रेष्ठ शासक के कार्य, परराष्ट्र सम्बन्धी अधिकार, कानून निर्माण सम्बन्धी अधिकार, शासन सम्बन्धी सैनिक अधिकार, न्याय सम्बन्धी कार्य। न्याय विभाग, न्यायाधीशों की नियुक्ति, न्यायालयों के कार्य।

अध्याय १३

२२४–२३५

संविधान अथवा शासन विधानः—शासन विधानकी परिभाषा, संविधान की आवश्यकता, स्पष्ट, सरलता तथा निश्चित भाषा व्यापकता, अधिकारों की घोषणा, परिवर्तनशील, स्वतंत्र न्यायपालिका। संविधानका वर्गीकरण, आलोचना, नमनीय तथा अनमनीय संविधान, संग्रहीत विकसित अलिखित, परिवर्तनशील एवं नमनीय संविधान के गुण–दोष। अपरिवर्तनशील, निर्मित लिखित, अनमनीय संविधान के गुण–दोष। एकात्मक तथा संघात्मक शासन विधान।

अध्याय १४

२३६-२४३

स्थानीय स्वशासन—स्थानीय सरकार का महत्व, स्थानीय संस्थाओं के मुख्य कार्य, स्थानीय संस्थाओं को सफल बनाने के उपाय।

अध्याय १५

२४४-२८३

मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणाली—मताधिकार की शर्तें वयस्कमताधिकार, वयस्कमताधिकार के पक्ष व विपक्ष में तर्क, सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार, शिक्षा के आधार पर मताधिकार, स्त्रियाँ और मताधिकार, मत देने की विधि, एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र, बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र, परोक्ष तथा अपरोक्ष निर्वाचन पद्धति—गुण व दोष, एकमत प्रणाली—गुण एवं दोष, कार्यात्मक प्रतिनिधित्व, सीमित मताधिकार, एकत्र मताधिकार, बहुमताधिकार, एक परिवर्तनीय मत-विधि, लिस्ट प्रणाली, पृथक निर्वाचन, सुरक्षित स्थानों सहित संयुक्त निर्वाचन, अच्छे निर्वाचन विधि के गुण।

अध्याय १६

२८४-३०३

राजनैतिक दल—राजनैतिक दलों की परिभाषा, राजनैतिक गुट, सम्मिलित राजनैतिक सरकार, राजनैनिक दलों के निर्माण के आधार, द्विदल और अनेक दल पद्धति, राजनैतिक दलों के गुण और दोष।

अध्याय १७

३:४-३१८

लोकमत तथा जनमत—जनमत का वास्तविक अर्थ, जनमत की उत्पत्ति एवं स्रोत, लोकमत निर्माण करने के तथा व्यक्त करने के आधुनिक

नागरिक और नागरिकता

अध्याय १

नागरिक शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र तथा अन्य विषयों से सम्बन्ध

नागरिक शास्त्र की उत्पत्ति :—नागरिक शास्त्र का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द सिविक्स (Civics) है। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के सिविटास (Civitas) शब्द से हुई है। आधुनिक योरोपीय सभ्यता के जनक रोम और ग्रीस ही हैं। प्राचीन काल में रोम और ग्रीस में सिविटास (Civitas) तथा पॉलिटिक्स (Politics) शब्द की उत्पत्ति हुई थी। सिविटास शब्द का अर्थ नगरराज्य है, जो प्राचीनकाल में ग्रीस में पाये जाते थे। भारतीय शब्द नागरिक का सम्बन्ध भी नगर के रहने वाले से ही था। ग्रीस में प्रत्येक नगर स्वतन्त्र राष्ट्र था और प्रत्येक नगर राजनैतिक और सामाजिक जीवन की पूर्णतया स्वतन्त्र इकाई था। इन नगर राज्यों में राजनैतिक और सामाजिक जीवन की सुन्दर व्यवस्था की गई थीं इसी शास्त्रीय व्यवस्था का नाम सिविक्स अथवा नागरिक शास्त्र था। उस काल में इस शास्त्र का क्षेत्र बहुत ही सीमित था। नागरिक

शास्त्र में मनुष्य का नगर राज्य तथा नगर समाज के प्रति अधिकार तथा कर्त्तव्यों का ही अध्ययन किया जाता था। इस प्रकार नागरिक शास्त्र का जन्म लैटिन भाषा के सिविटास शब्द से हुआ और इस शब्द का बहुत ही सीमित अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा। अतः नागरिक भी वह व्यक्ति है जो नगर की राजनैतिक सदस्यता के योग्य है तथा नगर में रह कर नगर के सामूहिक जीवन से लाभ उठाने वाला हो। कालान्तर से इस शास्त्र का विस्तार हुआ। राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये कई नगर राज्य अपनी स्वाधीनता त्याग कर एक दूसरे में मिल गये। ये सम्मिलित राज्य राष्ट्र कहलाने लगे। परिणाम स्वरूप कर्त्तव्यों और अधिकारों की सीमा भी बढ़ी। अब नागरिक शास्त्र का क्षेत्र केवल नगर से ही सीमित न रहा। नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य, राष्ट्रीय अधिकार और कर्त्तव्य में परिणित हुये। अर्थात् नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध अब केवल नगर के राजनैतिक और सामाजिक जीवन से ही न रहा। अतएव एक ही राष्ट्र में रहने वाले व्यक्ति अब नागरिक कहलाने लगे। अर्थात् राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये नगर राज्य अपनी स्वाधीनता त्याग कर एक दूसरे में मिल गये। इस प्रकार राजनैतिक संस्थाओं का आकार व शासन बड़ा व विस्तृत हो गया। ये कालान्तर में राष्ट्र कहलाने लगे।

नागरिकता का महत्त्व :—अधिकांश पूर्वीय देशों में नागरिकता की भावना का अभाव पाया जाता है। कोई भी राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता है, जब तक वहाँ के अधिकाँश नागरिकों में सच्ची नागरिकता की भावना का जन्म न हो। विशुद्ध सामाजिक भावना ही समाज को व्यवस्थित तथा सङ्गठित रख सकती है। राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन को यही भावना दृढ़ रख सकती है। प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करते हुये भी पाश्चात्य देश अपने राष्ट्र को सुसङ्गठित तथा सुरक्षित इसी भावना के कारण रख सके हैं।

पाश्चात्य देशों के नागरिकों में नागरिकता की भावना कूट कूट कर भरी है। उच्च सभ्यता तथा संस्कृति को प्राप्त करने पर भी पूर्वीय देश अपनी स्वाधीनता शुद्ध नागरिकता के अभाव के कारण ही खो बैठे। इसी भावना के अभाव के कारण पूर्वीय देश पिछड़े हुये हैं।

नागरिक शास्त्र क्या है :—यूनान के दार्शनिक अरस्तू ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। क्योंकि समाज के बिना मनुष्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। आरम्भ से ही मनुष्य समाज में रहा है और अभी समाज में रह रहा है और भविष्य में रहेगा। मनुष्य के रग रग में प्रेम, मैत्री तथा अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध की प्रबल इच्छा सदैव विद्यमान रहती है। इस प्रकार स्वभाव से प्रेरित होकर तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य समाज बनाता है। मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, धार्मिक इत्यादि अनेकानेक आवश्यकतायें हैं। अन्य मनुष्यों के साथ आदान प्रदान से ही इन आवश्यकताओं की पूर्ति वह कर सकता है। अतः नागरिक शास्त्र वर्तमान सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू का अध्ययन करता है। क्योंकि समाज द्वारा ही व्यक्ति के भाव, आचार-विचार, आदत इत्यादि ढाली जाती है। अतः नागरिक शास्त्र इन विषयों का भी अध्ययन करता है क्योंकि इन सब का प्रभाव नागरिक तथा नागरिकता पर पड़ता है।

नागरिक शास्त्र व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यक्ति का कुटुम्ब से, तथा कुटुम्ब का राष्ट्र से पारस्परिक सम्बन्ध का भी अध्ययन करता है।

सामाजिक जीवन की नींव लेन देन के व्यवहार पर ही स्थिर रह सकती है। समाज से व्यक्ति कुछ लेता है, और व्यक्ति समाज को कुछ देता भी है। साथ ही साथ सामूहिक जीवन को सुरक्षित रखने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ त्याग भी करना पड़ता है। नागरिक शास्त्र इन्हीं सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसी प्रकार मनुष्य को कुटुम्ब के प्रति, ग्राम के प्रति, नगर के प्रति, समाज के प्रति, संस्थाओं के प्रति अधिकार तथा

कर्त्तव्य होते हैं। नागरिक शास्त्र इन्हीं सम्बन्धों तथा समस्याओं की विवेचना करता है। तथा इन पारस्परिक सम्बन्धों पर राष्ट्र तथा समाज के हित की दृष्टि से प्रकाश डालता है।

नागरिक शास्त्र का क्षेत्र तथा उसका विस्तार :—पैदा होते ही हर व्यक्ति का प्रथम सम्बन्ध उसके कुटुम्ब से होता है। यही मनुष्य का पहला समाज है। बच्चा जब कुछ बड़ा होता है तब उसका सम्बन्ध उसके पड़ोसियों से, स्कूल से तथा अन्य संस्थाओं से होता है। युवावस्था और प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति का सम्बन्ध नगर, जिला, गाँव, प्रान्त और राष्ट्र से होता है। जीवन से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य की आवश्यकताओं का अन्त नहीं है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन की अलग अलग अवस्था में मनुष्य का समाज और राष्ट्र के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध आता है। इस सम्बन्ध को हम "लेन देन" का सम्बन्ध कह सकते हैं। अर्थात् समाज से प्रत्येक व्यक्ति बहुत कुछ लाभ उठाता है। जैसे खाना, कपड़ा, जानमाल की रक्षा, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति इत्यादि मनुष्य समाज द्वारा ही करता है। समाज क्या है? मनुष्यों का सङ्गठन ही समाज है। अर्थात् हरेक व्यक्ति के सहयोग से ही इन विभिन्न कार्यों की पूर्ति हो सकती है। इस सामाजिक "लेन देन" को नागरिक शास्त्र में कर्तव्य तथा अधिकार कहते हैं। एक लेखक ने नागरिक शास्त्र की व्याख्या करते हुये कहा है—"नागरिक शास्त्र वह विद्या है जो हमारे अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती है।" अर्थात् समाज के अंग होने के नाते ही मनुष्य समाज से बहुत कुछ लाभ उठाता है। जैसे पानी की व्यवस्था, सफाई की व्यवस्था, शासन व्यवस्था, बिमारियों के लिये अस्पताल की व्यवथा इत्यादि। जब हमें समाज से यह अधिकार (फायदे) प्राप्त हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन सब का दुरुपयोग न करें। किन्तु इनकी सुचारु रूप से व्यवस्था करने में समाज की मदद करें, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का हित सामूहिक जीवन से ही सम्भव है और सामूहिक जीवन पर ही निर्भर है। नागरिक शास्त्र में

हम इन्हीं विविध कर्त्तव्यों और अधिकारों का अध्ययन करते हैं। इसकी भित्ति पर ही राष्ट्र और समाज का निर्माण सम्भव है। नागरिक शास्त्र अधिकारों से कर्त्तव्यों को ही अधिक महत्व देता है, क्योंकि कर्त्तव्य वह सूक्ष्म तन्तु है जो मानव समाज को स्थायी रखने में सहायक है।

नागरिकता का अध्ययन ही नागरिक शास्त्र कहलाता है। प्रो० पुणताम्बेकर ने कहा है—"नागरिक शास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।" ए० जी० गोल्ड के अनुसार "नागरिक शास्त्र उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई पुरुष या स्त्री अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति कर सके। और राजनैतिक सम्प्रदाय के सदस्य होने के लाभ प्राप्त कर सके।" मनुष्य का कुटुम्ब के प्रति कर्त्तव्य और अधिकार राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य और अधिकार धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक संस्थाओं के प्रति कर्त्तव्य और अधिकार—इन सब का सम्पूर्ण ज्ञान ही नागरिक शास्त्र कहलाता है। नागरिक शास्त्र व्यक्ति को उपयुक्त नागरिक बनाना सिखलाता है। नागरिक शास्त्र हमें कर्त्तव्य और अधिकारों का ज्ञान कराता है। और साथ ही साथ विभिन्न संस्थाओं के प्रति मनुष्य का सम्बन्ध निर्धारित करता है। सुखमय सामाजिक जीवन के लिये और सामाजिक उन्नति के लिये छोटी छोटी बातों का जानना और समझना भी परमावश्यक है। सड़क पर कैसे चलना चाहिये, सफाई कैसे रखनी चाहिये, वोट कैसे देना चाहिये, समाज को और राज्य को सुसङ्गठित रखने के लिये और उन्नत बनाने के लिये किन गुणों की आवश्यकता है, सद्व्यवहार क्या है? सामाजिक नियम क्या है, जिला बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड क्या है इत्यादि। इन सब की विवेचना भी नागरिक शास्त्र करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कुटुंम्ब से, अपने समाज से और अपने राष्ट्र से बहुत प्रकार के लाभ उठाता है। और सामूहिक जीवन सुदृढ़ बनाने के लिये अपने आचार-विचार, भावनायें व्यवहार इत्यादि को उन्हीं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। नागरिक शास्त्र इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों

का अध्ययन करता है तथा सामूहिक जीवन को स्थिर और शान्तिमय बनाने के उपाय ढूँढता है। नागरिक शास्त्र व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में सच्चा नागरिक बनने की शिक्षा देता है। सामूहिक जीवन की बुनियाद ही सच्ची और सुस्वस्थ नागरिक पर निर्भर है। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से ही प्रत्येक नागरिक समाज के सुख, शान्ति, सुव्यवस्था और उन्नति में सहायक हो सकता है। अतः नागरिक शास्त्र मनुष्य को इन विषयों की जानकारी कराता है।

मानव समाज में सङ्घर्ष तथा वैमनस्य पाया जाता है। एक ही प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिये सङ्घर्ष हो सकता है, तथा प्रतिकूल इच्छाओं की पूर्ति के लिये भी सङ्घर्ष हो सकता है। अर्थात् मनुष्य की बहुत सी इच्छायें और आवश्यकतायें ऐसी होती हैं जो दूसरे मनुष्य के आवश्यकताओं और इच्छाओं से मेल नहीं रखती हैं। ऐसी स्थिति में समाज, कुटुम्ब तथा संस्थाओं में सङ्घर्ष पैदा होता है। सङ्घर्ष सामाजिक जीवन में कटुता उत्पन्न करता है। तथा सामाजिक व राजनैतिक उन्नति में रोड़े डालता है। सङ्घर्ष मनुष्य में विनाशकारी भावना को उत्पन्न करता है।

मानव समाज में सङ्घर्ष, कलह, वैमनस्य के साथ ही साथ प्रेम तथा सहयोग भी दिखलाई पड़ता है। नागरिक शास्त्र सङ्घर्ष और कलह को घटा कर प्रेम और सहयोग की स्थापना करना चाहता है। अर्थात् प्रतिकूल प्रवृत्तियों को हटा कर अनुकूल वातावरण की स्थापना करना चाहता है, जिससे राष्ट्र और समाज में शान्ति, सुव्यवस्था के साथ ही साथ उन्नति भी सम्भव हो।

मनुष्य में "अधिक" की होड़ जन्म से ही पायी जाती है। वह होड़ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सञ्चय के लिये होती है। इसी कारण नगर में, राष्ट्र में और जगत् में अशान्ति और अव्यवस्था पाई जाती है। नागरिक शास्त्र इस पर ग़ौर करता है, और संसार में शान्ति और सुव्यवस्था

लाने का मार्ग दिखलाता है। और मनुष्य को रचनात्मक कार्य की ओर प्रवृत्त करता है। क्योंकि सहयोग, प्रेम, सद्भाव और श्रद्धा ही समाज का आधार है अर्थात् नागरिक शास्त्र वह विज्ञान है जो श्रेष्ठतम सामाजिक जीवन की दशाओं का अध्ययन करता है।

मनुष्य की विभिन्न इच्छायें, अभिरुचि, आकांक्षायें तथा इच्छायें होती हैं। दिन प्रति दिन, वर्ष प्रति वर्ष, युग प्रति युग ये बढ़ती और बदलती हैं। नागरिक शास्त्र इनकी पूर्त्ति का मार्ग दिखलाता है तथा प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को सम्भव बनाता है।

वर्तमान सामाजिक जीवन का प्रत्येक विषय जैसे परिवार, राज्य, धर्म, धार्मिक संस्थायें, आर्थिक संस्थायें, सांस्कृतिक सङ्गठन, विवाह-पद्धति, शिक्षा, दण्ड-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था, नीति, अनीति इत्यादि सभी नागरिक शास्त्र के अध्ययन तथा विवेचना के विषय हैं। क्योंकि नागरिक शास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। सामाजिक जीवन के हर पहलू से यह शास्त्र सम्बन्धित तथा प्रभावित है। अर्थात् गेड्स और मावेल के अनुसार "नागरिक शास्त्र वह विज्ञान है जो नगर के सम्पूर्ण जीवन, तथा समस्त समस्याओं का अध्ययन करता है। तथा नगर, केन्द्र तथा प्रान्त के राजनैतिक सम्बन्ध का भी अध्ययन करता है।"

आजकल विज्ञान के युग में संसार अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो रहा है। एक नागरिक केवल नगर से ही सम्बन्धित नहीं होता है परन्तु प्रत्येक नागरिक का राष्ट्र के सभी पहलुओं से सम्बन्ध होता है। आजकल एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से आर्थिक, बौद्धिक, व्यापारिक इत्यादि सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है। इसलिये नागरिकों का सम्बन्ध केवल अपने राष्ट्र से ही सीमित नहीं है। किन्तु आवागमन की सुविधा के कारण दूसरे राष्ट्रों से भी सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है। नागरिक का सम्बन्ध स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रत्येक पहलू से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ रहा है। इसलिये नागरिक शास्त्र का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। नागरिक का

कर्त्तव्य केवल कुटुम्ब पड़ोसियों और राष्ट्र से ही सीमित नहीं है। परन्तु नागरिक के कर्त्तव्य की सीमा अन्य राष्ट्रों की ओर भी बढ़ गई है।

किसी समाज का पूर्ण ज्ञान केवल वर्तमान परिस्थिति के अध्ययन से ही नहीं हो सकता है। भूतकाल के विचारों का, संस्थाओं का, व्यवहार का तथा रीति रिवाज का प्रभाव वर्तमान स्थिति पर भी पड़ता है। अतएव भूतकाल की प्रतिक्रिया का प्रभाव वर्तमान समाज पर भी पड़ता है। वर्तमान समाज भी अपनी छाया भविष्य के मानव समाज पर डालेगा। यदि हम भविष्य के लिये कुछ आदर्श निश्चित न करें तो नागरिक शास्त्र का अध्ययन अपूर्ण ही रह जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक नागरिक भूतकाल से प्रभावित है। अर्थात् भूतकाल वर्तमान पर प्रभाव डालता है और वर्तमान भविष्य पर प्रभाव डालेगा। इस प्रकार नागरिक शास्त्र का भूत, भविष्य, तथा वर्तमान से घनिष्ट सम्बन्ध है। भूतकाल में परिस्थिति के अनुसार नागरिक के क्या विचार थे, क्या अधिकार और कर्त्तव्य थे और वर्तमान में क्या हैं और भविष्य में क्या होंगे—इस सब का अध्ययन नागरिक शास्त्र द्वारा होता है। अर्थात् भूतकाल में किस प्रकार समस्याओं को हल किया गया तथा भूतकाल के विभिन्न प्रयोगों का क्या असर हुआ, तथा उन प्रयोगों के हानि और लाभ को देख कर समझ कर नागरिक शास्त्र वर्तमान को ढालता है अर्थात् भूतकालीन सामाजिक जीवन से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं और उस ज्ञान के आधार पर वर्तमान तथा भविष्य के समाज की रचना कर सकते हैं। अतएव आदर्श समाज की रचना वर्तमान सामाजिक परिस्थिति के अनुसार भूतकाल के ज्ञान तथा सञ्चित अनुभवों की भित्ति पर ही हो सकती है। डा० ई० एम० व्हाइट के अनुसार "नागरिक शास्त्र मानव शास्त्र की वह शाखा है जो नागरिकों से सम्बन्धित समस्त विषयों (सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक) का विचार करती है। इसके साथ ही साथ वह नागरिकता के अतीत, भूत, भविष्य, वर्तमान, स्थानीय, राष्ट्रीय एवं विश्वव्यापी पहलुओं

का भी विश्लेषण करती है । इस प्रकार नागरिक शास्त्र का क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत है । जैसे जैसे समाज का और सभ्यता का विकास होगा, वैसे वैसे इस शास्त्र का भी विस्तार और विकास होता जायेगा । अतएव मनुष्य के विकास के साथ ही साथ इस शास्त्र का भी विकास होगा । अर्थात् नागरिक शास्त्र विकासमय शास्त्र है ।

नागरिक शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध :— नागरिक शास्त्र का विभिन्न सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ट सम्बन्ध है । नागरिक के नाते प्रत्येक व्यक्ति को समाज की स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है । साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति को शासन तथा शासन पद्धति का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है । उसी प्रकार समाज के नैतिक जीवन का तथा नैतिक विचारों का प्रभाव भी नागरिक के जीवन पर पड़ता है । इसलिये नागरिक को नीतिशास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ता है, नागरिक के दिन प्रति दिन के जीवन में आर्थिक परिस्थिति तथा राष्ट्र के आर्थिक व्यवस्था का भी गहरा प्रभाव पड़ता है । इसलिये प्रत्येक नागरिक को अर्थशास्त्र की मोटी मोटी बातें भी समझनी पड़ती हैं । कुटुम्ब तथा पड़ोसियों के सुख दुख में ही प्रत्येक नागरिक का सुख दुख सम्मिलित है । इस प्रकार प्रत्येक नागरिक को स्वास्थ्य, न्याय, मनोविज्ञान आदि विभिन्न विषयों का भी अध्ययन करना आवश्यक है । प्रत्येक क्षेत्र में नागरिक के कर्त्तव्य असीमित हैं । इस कारण नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी असीमित है ।

नागरिक शास्त्र तथा इतिहास :—इतिहास और नागरिक शास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है । इतिहास मानव जीवन की कथा है । इतिहास ऐतिहासिक काल से आज तक के मानव विचारों की तथा कार्यों की गाथा है । किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि इतिहास नागरिक शास्त्र का मूल है और नागरिक शास्त्र इतिहास का फल है । इतिहास भूतकाल के विचारों, संस्थाओं, आन्दोलनों तथा समस्याओं का संग्रह है । मानव जीवन का

सर्वांगीण चित्र इतिहास में ही पाया जाता है। इतिहास में मनुष्य के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, तथा नैतिक जीवन की चर्चा होती है। उसमें कला, साहित्य, रीति रिवाज का भी वर्णन होता है। इतिहास में समाज तथा संस्थाओं के उत्थान और पतन का अध्ययन होता है। भारतीय इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है कि किस प्रकार फूट और नागरिकता के अभाव के कारण हिन्दुस्तान हजारों वर्षों से दासता की बेड़ी में जकड़ा हुआ पड़ा रहा। इतिहास द्वारा ही वंशपरम्परागत राज्य-पद्धति के दोष और गुण का पता चलता है। किस प्रकार हिन्दुओं की धार्मिक असहिष्णुता ही भारत के विभाजन का महत्त्वपूर्ण कारण बनी,—इत्यादि इत्यादि विषयों के गुण और दोष इतिहास द्वारा ही विदित होते हैं। इतिहास मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक इत्यादि प्रयोगों की प्रयोगशाला है। और यह भूतकालीन प्रयोग वर्तमान तथा भविष्य के सामाजिक तथा राजनैतिक रचना के लिये मार्गदर्शक हो सकते हैं। अर्थात् नागरिक शास्त्र का यथायोग्य अध्य यन इतिहास की पृष्ठभूमि पर ही हो सकता है। क्योंकि भूतकाल की संस्थाओं और समस्याओं का असर वर्तमान संस्थाओं, विचारों और समस्याओं पर भी पड़ता है। वर्तमान समस्याओं को गत अनुभवों द्वारा समझाया और सुलझाया जा सकता है। अतः इतिहास और नागरिक शास्त्र में गहरा सम्बन्ध है। नागरिक शास्त्र का मुख्य कर्तव्य है—राजनैतिक तथा सामाजिक आदर्श की सृष्टि। यह सृष्टि पूर्व इतिहास के अनुभवों पर योग्य रीति से की जा सकती है।

नागरिक शास्त्र और मनोविज्ञान :—मनोविज्ञान शास्त्र मनुष्य के हृदय तथा मस्तिष्क से निकले हुये भावों तथा विचारों का अध्ययन करता है। अर्थात् मनोविज्ञान मनुष्य के व्यक्तित्व के अलग अलग पहलुओं पर प्रकाश डालता है। भिन्न भिन्न परिस्थिति में मनुष्य क्या सोचता है, उसके क्या भाव होते हैं, उसकी क्या प्रतिक्रियायें होती हैं, उसके प्रतिक्रियाओं का क्या सामूहिक रूप होता है, इत्यादि सब का ज्ञान मनोविज्ञान

शास्त्र द्वारा होता है। मनुष्य के भावों और विचारों का प्रभाव मनुष्य के कार्यों पर, देश की सरकार पर, तथा समाज पर पड़ता है। नागरिक शास्त्र का ध्येय समाज तथा राष्ट्र को सुखमय तथा शान्तिमय बनाना है। इसलिये व्यक्तियों के विचार, भावना, रीतिरिवाज, प्रतिक्रियायें इत्यादि भी जानना नागरिक शास्त्र के अध्ययन का एक मुख्य अंग है। समाज अथवा राष्ट्र की रचना, सुधार, उन्नति नागरिकों के प्रवृत्ति के तद्रूप ही होनी चाहिये, नहीं तो समाज में संघर्षात्मक प्रवृत्तियाँ जाग उठेंगी और समाज तथा राष्ट्र में उथल पुथल मच जायेगी। मनुष्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन मनोविज्ञान शास्त्र में ही किया जाता है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र तथा मनोविज्ञान शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदर्श नागरिक तथा उत्तम नागरिकता की रचना मनोविज्ञान शास्त्र की सहायता से ही सम्भव है।

नागरिक शास्त्र तथा अर्थशास्त्र :—अर्थशास्त्र में धन का उत्पादन, वितरण, उपभोग तथा विनिमय का अध्ययन किया जाता है। हरेक व्यक्ति को कम से कम इतनी आर्थिक शक्ति होनी चाहिये कि वह अपने लिए तथा अपने कुटुम्बियों के लिये पर्याप्त भोजन, वस्त्र तथा निवास स्थान की व्यवस्था कर सके। तथा सभ्य और सुसंस्कृत जीवन-यापन की व्यवस्था कर सके। प्रत्येक नागरिक को समाज में आर्थिक समानता तथा अपना आर्थिक जीवन उन्नत बनाने का अवसर प्राप्त होना चाहिये। जिस व्यक्ति को उदर-निर्वाह तक की शक्ति नहीं है, वह अधिकार तथा कर्त्तव्य का पालन किस प्रकार कर सकेगा? तथा ऐसी दयनीय अवस्था में वह समाज रचना में किस प्रकार भाग ले सकेगा? जिस समाज में धन का वितरण ठीक तथा न्यायपूर्ण नहीं है, जिस समाज में बहुत निर्धन तथा अत्याधिक धनी व्यक्ति बसते हैं, ऐसे समाज में क्या शान्ति सम्भव है? भूखे, समाज की शान्ति को भंग करेंगे और ये ही राष्ट्र और संसार की शान्ति को भी भङ्ग करेंगे। जैसे जैसे ये जाग्रत होने लगेंगे, वैसे वैसे वे अपनी अवस्था को सुधारने का प्रयत्न करेंगे। ऐसे असमानतापूर्ण समाज में आर्थिक सङ्घर्ष

अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार व्यापार, कर, अकाल इत्यादि सभी का प्रभाव नागरिक के जीवन पर पड़ता है। इसलिये अर्थशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वस्थ भावना, कर्त्तव्य-परायणता, सच्चाई, परिश्रम ईमानदारी, जनहित, समाजहित, यह सब आदर्श नागरिकता के चिह्न हैं। काफी सीमा तक सन्तोषप्रद आर्थिक दशा तथा आर्थिक स्थिरता इन गुणों के बीजारोपण तथा वृद्धि में सहायक हैं। अतः आर्थिक स्थिरता के बिना सुस्वस्थ नागरिकता सम्भव नहीं। अतः अर्थशास्त्र व नागरिक शास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है।

नागरिक शास्त्र और भूगोल :—भूगोल शास्त्र में देश की आब-हवा, प्राकृतिक बनावट, उपज, खनिज पदार्थ इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। भौगोलिक स्थिति का प्रभाव मनुष्य के संस्कृति पर, संस्थाओं पर तथा समाज पर पड़ता है। भौगोलिक स्थिति के कारण ही इंगलैंड के सामुद्रिक शक्ति का विकास हुआ। भौगोलिक कारणों से ही हिन्दू संस्कृति सिन्धु तथा गङ्गा नदी के तट पर फैली। भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार ही आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज, बनते हैं। और इन्हीं का प्रभाव समाज, सरकार, और राष्ट्र पर पड़ता है। इसलिये भूगोल तथा नागरिक शास्त्र में सम्बन्ध है।

नागरिक शास्त्र और राजनीति :—राजनैतिक शास्त्र राज्य और सरकार के प्रकृति, उत्पत्ति, विकास और सङ्गठन का अध्ययन करता है। राजनीति शास्त्र राज्य का विधान, कानून और राज्य के सिद्धान्त इत्यादि विषयों पर विवेचना करता है। राजनीति शास्त्र व्यक्ति व राज्य का सम्बन्ध निश्चित करता हैं। नागरिक शास्त्र राज्य के अन्दर रहने वाले व्यक्तियों को आदर्श नागरिक बनाने का प्रयत्न करता है। और नागरिक शास्त्र राज्य द्वारा निर्धारित अधिकार तथा कर्त्तव्यों की व्याख्या करता है। नागरिक शास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है। क्योंकि नागरिक शास्त्र केवल व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध का ही अध्ययन नहीं करता लेकिन व्यक्ति का समुदाय से, राष्ट्र

से, तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सम्बन्ध पर भी विचार करता है। मानव समाज के लिये सरकार आवश्यक है। सरकारी नियम, कानून के बिना राज्य और समाज में उथल पुथल मच जायेगी और उसकी रचना असम्भव सी हो जायेगी। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सुसङ्गठित राज्य में ही सम्भव है। इसलिये राजनीति तथा नागरिक शास्त्र में सम्बन्ध है।

कानून और नागरिक शास्त्र :—सामाजिक जीवन को सुगमता से चलाने के लिये कानून का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कानून द्वारा ही अधिकार की सीमा निश्चित की जाती है। तथा कानून द्वारा ही सुन्दर सामाजिक जीवन में विघ्न डालने वाले व्यक्ति को दण्डित किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन सुचारु रूप से चलने के लिये कानून की आवश्यकता है। कानून परिस्थिति के अनुसार, समय के अनुसार तथा देश के अनुसार बदलते जाते हैं और पुराने कानून संशोधित किये जाते हैं। इस काल में हरिजनों के नागरिक अधिकार, स्त्रियों को वोट तथा समता का अधिकार, मजदूरों को हड़ताल का अधिकार इत्यादि अधिकार सर्वमान्य हैं। बहुत ही कम व्यक्ति इन पर आपत्ति करते हैं।

नीति शास्त्र, धर्म तथा नागरिक शास्त्र :—नीति शास्त्र में उचित अनुचित, धर्म अधर्म, अच्छा बुरा, झूठ सच इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र, सत्य, प्रेम, सदाचार, सहानुभूति, श्रद्धा इत्यादि को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर समाज का वातावरण शुद्ध बनाना चाहता है। प्रत्येक समाज को स्थिर और स्थायी रखने के लिये नैतिक उन्नति बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि दुर्भावना, दुराचार, असंयम, अनीति इन भावनाओं की वृद्धि से समाज का वातावरण विषाक्त हो जाता है। इन दुर्भावनाओं से समाज और राज्य में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध में अनिश्चितता और अस्थिरता पैदा हो जाती है। नीतिशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य है, परस्पर प्रेम, सहानुभूति और सद्व्यवहार की भावनाओं को समाज में बढ़ाना। नागरिक शास्त्र का लक्ष्य भी विश्व-बन्धुत्व की

भावना को बढ़ाना ही है । इस प्रकार प्रेम, विशुद्ध आचरण तथा सद्-व्यवहार द्वारा ही आदर्श तथा सुखी समाज और राष्ट्र का निर्माण हो सकता है । अतः इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

धर्म मनुष्य के आन्तरिक जीवन की शुद्धि पर जोर देता है । धर्म मनुष्य को पूर्ण, उत्तम तथा पवित्र जीवन की ओर अग्रसर करता है । धर्म आत्मा और परमात्मा के विषय में बतलाता है । धर्म का अच्छा और बुरा दोनों ही प्रकार का प्रभाव होता है । धर्म के कारण सङ्घर्ष, घृणा और असहिष्णुता की भावना बढ़ती हुई दिखलाई देती है परन्तु कोई भी धर्म ऐसी भावनाओं को प्रोत्साहना नहीं देता है । ऐसी सङ्कुचित मनोवृत्ति हटा कर धर्म के यथार्थ तथा असली रूप को जगाना ही नागरिक का कर्त्तव्य है ।

समाज शास्त्र और नागरिक शास्त्र :—समाज शास्त्र में समाज की उत्पत्ति, विकास, अभ्युदय, सङ्गठन इत्यादि के विषय में अध्ययन करते हैं। अर्थात् समाज शास्त्र मनुष्य के सङ्गठित जीवन के हर एक पहलू पर विचार करता है । नागरिक और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध है । अथवा नागरिक और समाज एक ही सूत्र में बँधे हुये हैं । इस लिये नागरिक शास्त्र समाज शास्त्र से ली हुई सामग्री की भित्ति पर ही स्थित हैं। नागरिक शास्त्र समाज शास्त्र का एक आवश्यक अंग है । समाज शास्त्र का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है क्योंकि समाज शास्त्र मानव जीवन के अथ से इति तक के इतिहास की पूँजी (कोष) है।

नागरिक शास्त्र कला है अथवा शास्त्र है :—किसी भी विषय को वास्तविक जीवन में प्रयोग करना ही कला है । कला का अर्थ है ज्ञान को व्यवहारिक रूप देना । कुछ विद्वानों का कथन है कि नागरिक शास्त्र कला है और रसायन शास्त्र अथवा गणित शास्त्र के समान अटल शास्त्र नहीं है । केवल ज्ञानोपार्जन से ही मनुष्य अच्छा या बुरा नागरिक नहीं बन जाता है क्योंकि पढ़े लिखे बुद्धिमान व्यक्ति भी अनागरिकता का व्यवहार करते हुये

पाये जाते हैं। यहाँ पर अनागरिकता के कुछ उदाहरण देना यथार्थ होगा। जैसे पानी पीने के बाद नल को खुला छोड़ देना, रेल के डिब्बे में स्थान होने पर भी दूसरे यात्रियों को स्थान नहीं देना, केले के छिलके रास्ते पर फेंकना, अपने घर की कतवार गली में फेंकना, नालियों का दुरुपयोग करना, पढ़ने के समय विद्यार्थियों का शोर मचाना, खास करके जब अन्य विद्यार्थी पढ़ना चाहते हैं, विद्यार्थियों द्वारा पुस्तकों, मेजों, कुर्सियों इत्यादि का दुरुपयोग करना, अन्न की कमी के समय अधिक अन्न और वस्त्र का संचय करना, काले बाजार को अपरोक्ष रूप से प्रोत्साहन देना, समाज हित को सर्वथा भूलकर स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर अपने पद तथा रुपयों का दुरुपयोग करना, न्याययुक्त करों को न देना, बिना टिकट यात्रा करना इत्यादि ये सब अनागरिकता के चिह्न है। नागरिक शास्त्र के केवल अध्ययन से ही मनुष्य अच्छा नागरिक नहीं बनता है। कुछ व्यक्तियों में तो जन्म से ही अच्छी नागरिकता की प्रेरणा होती है। सच्ची नागरिकता कला है। केवल पढ़ने लिखने से ही अथवा परीक्षा में उत्तीर्ण होने से ही सच्ची नागरिकता की भावना का उदय नहीं होता है। सच्ची नागरिकता सतत् प्रयास से, प्रयोग से और क्रमशः चरित्र निर्माण से हासिल की जा सकती है। जैसे जैसे नागरिकों का नैतिक चरित्र बल बढ़ेगा वैसे वैसे नागरिकता की भावना बढ़ेगी। और एक विशुद्ध वातावरण की सृष्टि समाज में होगी। नागरिक शास्त्र मानव प्रकृति से सम्बन्धित है तथा यह व्यवहारिक ज्ञान है। इन सब के साथ ही साथ नागरिक शास्त्र का अध्ययन क्रम बद्ध शास्त्रीय पद्धति से होना चाहिये और होता रहना चाहिये जिससे नागरिक शास्त्र का पूर्ण ज्ञान नागरिकों के दिल और दिमाग में होता रहे। इस दृष्टि से देखते हुये कहा जा सकता है कि नागरिक शास्त्र एक कला है। क्योंकि जीवन में इसका प्रयोग किया जा सकता है। एक अच्छे नागरिक के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने दैनिक जीवन में नागरिक शास्त्र के नियमों का पालन करें। क्या नागरिक शास्त्र की गणना रसायन शास्त्र से की जा

सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर हाँ और नहीं में दिया जा सकता है। नागरिक शास्त्र मनुष्य प्रकृति से सम्बन्धित है। मनुष्य, देश, परिस्थिति, रुची तथा समय के अनुसार बदलता है। इसलिये मनुष्य पर रसायन शास्त्र के सम्पूर्ण नियम लागू नहीं हो सकते हैं। रसायन शास्त्र के नियम अटल सत्य के समान है। किन्तु नागरिक शास्त्र के नियम परिवर्तन शील होते हैं। नागरिक शास्त्र को शास्त्रीय पद्धति द्वारा अध्ययन किया जा सकता है, तथा किया जाना चाहिये। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि मनुष्य प्रकृति जटिल है उसको समझना और शास्त्रीय रूप देना आसान नहीं है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखने की बात है कि मनुष्य प्रकृति पर वातावरण, जाति तथा वंश परम्परा का असर पड़ता है। अर्थात् मनुष्य स्वभाव और मनुष्य प्रकृति रसायनिक पदार्थों की तरह कलपुर्जों में नापा नहीं जा सकता है। नागरिक शास्त्र में सम्भावनाओं का अनुमान किया जा सकता है। नागरिक शास्त्र का प्रयोग सजीव व्यक्तियों पर होता है और रसायन शास्त्र का प्रयोग निर्जीव, भौतिक वस्तुओं पर होता है, जिनका गुण और प्रभाव सदैव एक सा ही रहता है। परन्तु मनुष्य में इच्छा शक्ति है। एक ही परिस्थिति में दो व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं में अन्तर पाया जाता है। इसलिये नागरिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र एक ही तौल से नापे नहीं जा सकते हैं। नागरिक शास्त्र कला है तथा शास्त्रीय पद्धति से इसका अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु रसायन शास्त्र तथा गणित शास्त्र के समान इसके प्रयोग अटल तथा अचल नहीं हो सकते हैं। नागरिक शास्त्र का क्रमबद्ध अध्ययन किया जा सकता है, इसलिये इसे विज्ञान कहते हैं।

नागरिक शास्त्र की उपयोगिता :— (१) नागरिक शास्त्र की उपयोगिता मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में पायी जाती है प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समाज अथवा राष्ट्र का सदस्य होता ही है। नागरिक शास्त्र मनुष्य को योग्य नागरिक बनने की शिक्षा देता है। नागरिक शास्त्र नागरिक के संघर्ष घटाकर परस्पर मेल जोल तथा सहयोग स्थापन करना सिखलाता

है। अर्थात् नागरिक शास्त्र साथ रहने और साथ काम करने की कला से प्रत्येक नागरिक को परिचित कराता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्यों में सहयोग तथा सहानुभूति का पाठ पढ़ाता है।

(२ ' मनुष्य ने विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों द्वारा विनाशकारी शक्तियाँ जैसे लोहा, कोयला, बिजली इत्यादि को वश में कर लिया है। नागरिक. शास्त्र इन विनाशकारी शक्तियों को मानव समाज की भलाई के लिये प्रयोग करना सिखलाता है। परन्तु यदि संसार में अनागरिकता की भावना की वृद्धि हुई, तो मानव समाज का नाश निश्चित है। जब तक समाज नागरिक शास्त्र के वसूलों पर नहीं चलेगा, तब तक समाज तथा राष्ट्र की नींव पक्की नहीं हो सकती है।

३—प्रतिदिन राष्ट्र के कार्य जटिल एवं कठिन होते जाते हैं। आज के नवयुवक और नवयुवतियाँ कल के नागरिक हैं। इस कारण उन्हें सरकार के विषय में, राष्ट्र के विषय में, तथा समाज के विषय में पूर्ण ज्ञान होना चाहिये जिससे वे नागरिकता प्राप्त कर लेने पर अपने धर्म और कर्तव्यों को यथायोग्य करें। नागरिकता की ठीक-ठीक शिक्षा के बिना कोई नागरिक राष्ट्र और सरकार की जटिल समस्याओं को न सुलझा सकता है और न समझ सकता है।

४—समस्त संसार एक राष्ट्र होने जा रहा है। आवागमन के सुलभ साधनों के कारण विभिन्न जाति, विचार, रंग, आचार-विचार, अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्प्रान्तीय व्यक्तियों के सम्पर्क में नागरिक आ रहे हैं। नागरिक शास्त्र वह कला है जो इन विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों को निर्धारित करती है तथा नागरिक को ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित करने का ज्ञान दिलाती है।

५—परिवर्तनशील संसार की समस्यायें विद्युत गति से बदल रही हैं। नागरिक शास्त्र नागरिक को इनसे मुखातिब होना सिखलाता है।

६—प्रजातन्त्र राज्य में प्रत्येक नागरिक को वोट देने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार इस स्वाधीनता तथा समानता के युग में प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय, धार्मिक और आर्थिक समस्याओं को समझकर, उस पर अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार अमल करने का अवसर प्राप्त होता है। नागरिक शास्त्र में इन विविध कर्त्तव्यों और अधिकारों का क्रमबद्ध पठन होता है।

७—स्वस्थ, उन्नत तथा आदर्श सामाजिक जीवन के लिये प्रेम सद्भावना, सहानुभूति, सेवा, विश्वबन्धुत्व, कर्त्तव्यनिष्ठा, त्याग इत्यादि भावनाओं की आवश्यकता है। नागरिक-शास्त्र इन भावनाओं को प्रोत्साहित करता है तथा संघर्ष, असहिष्णुता, द्वेष, कलह, इत्यादि भावनाओं का अन्त करना नागरिक को सिखलाता है। नागरिक शास्त्र प्रत्येक परिस्थिति में तथा विभिन्न सम्बन्धों में सच्चे कर्त्तव्य एवं अधिकारों का ज्ञान नागरिकों को कराता है।

विद्यार्थियों के लिये इसकी उपयोगिता :—आज के विद्यार्थी कल के नागरिक हैं। विद्यार्थियों को समाज का, राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करना है। सार्वजनिक संस्थाओं को चलाना है। बड़ी-बड़ी पद-पदवियाँ ग्रहण करनी हैं। वोट देना है, व्यवस्थापिक सभाओं की सदस्यता ग्रहण करनी है। कुसमय में देश, राष्ट्र तथा समाज की रक्षा करनी है। इसलिए विद्यार्थियों के लिए नागरिक शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। विद्यार्थी जीवन में ही विद्यार्थियों को सहयोग, उत्तरदायित्व की भावना, अधिकार और कर्त्तव्य की जानकारी, स्वार्थत्याग, कर्त्तव्य-निष्ठा इत्यादि नागरिकता की भावनाओं का बीजारोपण करना आवश्यक है।

अध्याय २

समाज

समाज की परिभाषा :—बोल-चाल की भाषा में मनुष्य-समूह को समांज कहते हैं। (१) समाज मनुष्य का वह सामूहिक सम्बन्ध है जिसके द्वारा मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके तथा जिसमें सङ्घर्ष एवं प्रतिद्वन्द्विता का गौण स्थान हो। (२) मनुष्य के सब प्रकार के सम्बन्धों और उसकी सब प्रकार की संस्थाओं के समूह का नाम समाज है। मनुष्य ने इन्हें समान उद्देश्यों की प्राप्ति तथा रक्षा के निमित्त स्थापित किया है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के ध्येय की पूर्ति के लिए बनाया है।

मनुष्य के चिरस्थायी सम्बन्ध को समाज कहते हैं। किसी आकस्मिक समूह को समाज नहीं कहा जा सकता है। मनुष्य के उस विशाल समूह को समाज कहते हैं जिसमें सङ्गठित तथा एकत्रित जीवन की इच्छा हो, स्थाई सम्बन्ध हो, व्यापक उद्देश्य हो, शान्तिमय तथा नियम बद्ध जीवन हो और पारस्परिक सहायता और सहयोग की इच्छा विद्य-मान हो।

समाज की उत्पत्ति के मूलकारण :—मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं। समाज के बिना मनुष्य का जीवन शुष्क, दुःखी, उत्साहहीन तथा असम्भव है। मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा ही समाज की स्थापना का मुख्य कारण है। मनुष्य एकान्त में नहीं रह सकता है। वह अन्य मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है। तदुपरान्त स्त्री और पुरुष में नैसर्गिक आकर्षण होता है। यही आकर्षण समाज की सर्वप्रथम सीढ़ी है। इस नैसर्गिक आकर्षण के कारण ही कुटुम्ब बनते हैं। बाल बच्चे माता पिता रक्त-सम्बन्ध के कारण

साथ रहने लगते हैं। बच्चा जन्म से ही दूसरों पर निर्भर रहता है। पशु-पक्षियों के बच्चे जन्म के कुछ समय बाद ही स्वावलम्बी हो जाते हैं। परन्तु मानव सन्तान, खान पान, रक्षा इत्यादि सभी बातों के लिये कई वर्षों तक दूसरों पर निर्भर रहती है। प्रकृति का नियम ही ऐसा मालूम देता है कि जन्म से ही मनुष्य समाज से घिरा रहे। इसके अतिरिक्त समाज की स्थापना का दूसरा कारण है मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति। मनुष्य की बहिर जगत की विभिन्न आवश्यकतायें अन्य मनुष्यों के सहयोग के बिना पूरी हो ही नहीं सकती हैं। इस प्रकार मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण तथा मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त समाज की स्थापना होती है। किसी विद्वान ने सच ही कहा है कि मनुष्य के अन्तः-करण में भी समाज है, तथा बहिर्जगत् में मनुष्य सदा समाज से ही घिरा हुआ है।

सामाजिक जीवन की आवश्यकता :—(१) मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज की आवश्यकता :—मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्त्ति अकेले नहीं कर सकता है। मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज की आवश्यकता होती है। मनुष्य को खाना, कपड़ा, मकान इत्यादि की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इन आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति वह समाज के अन्य व्यक्तियों की सहायता से ही करता है। इसके अलावा एकान्त में रहने वाले व्यक्ति को अपनी जान और माल का खतरा होता है। अपनी और अपनी वस्तुओं की रक्षा वह समाज में रह कर ही कर सकता है। इस प्रकार जान और माल की रक्षा के निमित्त मनुष्य को समाज बनाना ही पड़ता है।

(२) मनुष्य के भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये :—मनुष्य का मन अपने समान दूसरों से मानसिक, शारिरिक, आध्यात्मिक, भौतिक और भावात्मक सम्बन्ध स्थिर करने के लिये सदैव लालायित रहता है। इसके बिना वह पागल हो जायेगा। क्योंकि मनुष्य अकेला रह ही नहीं

सकता है। इस प्रकार आन्तरिक प्रेरणा के कारण और बाह्य जगत् की आवश्यकताओं के कारण मनुष्य समाज की स्थापना करता है। मनुष्य के मन की गढ़न ही ऐसी है। यदि कोई व्यक्ति अपने मन पर अत्याचार करके एकान्त में रहे तो क्रमशः उसकी सब प्रवृत्तियाँ नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगी। और उसका विकास रुक जायेगा। कदाचित् कुछ वर्षों के उपरान्त वह जानवरों की तरह हो जायेगा।

मनुष्य केवल शारीरिक सुखों से ही तृप्त नहीं होता। जब बच्चा बड़ा होता है, तो उसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके लिये पाठशालाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। मनुष्यों को ईश्वर के भजन की आवश्यकता होती है। इसलिये मन्दिर और मस्जिद बनवाने पड़ते हैं। इस प्रकार मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति समाज द्वारा ही हो सकती है।

(३) मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये :—समाज के बिना मनुष्य का विकास हो ही नहीं सकता है। उसकी स्वाभाविक प्रेरणायें समाज के बिना कुंठित हो जायेंगी। मनुष्य के पूर्ण विकास के लिये अन्य मनुष्यों की आवश्यकता होती है। मातृत्व की भावना का विकास बच्चों द्वारा ही हो सकता है। खेल कूद की भावना का विकास सङ्गी साथियों द्वारा ही हो सकता है। अनुशासन की भावना का विकास भी समाज में ही हो सकता है। इसी प्रकार आज्ञा-पालन, प्रेम, भक्ति, सहानुभूति इत्यादि भावनाओं का विकास समाज के अतिरिक्त हो ही नहीं सकता है।

समाज के प्रकार :—साथ रहने और काम करने से अनेक प्रकार के सम्बन्ध पैदा होते हैं। कुछ स्थाई होते हैं और कुछ अस्थाई। माँ का अपनी सन्तान से सम्बन्ध स्थाई है। रेल-यात्रा में मिलने वाले यात्रियों का परस्पर सम्बन्ध अस्थाई है। अनेकों प्रयोजनों से आने वाले सम्बन्ध को समाज कहते हैं। समाज क्या है? मनुष्य के विविध सम्बन्धों को, जो विभिन्न गुत्थियों से बँधे हैं—जिनका रूप स्थाई या अस्थाई है—ऐसे सभी सम्बन्धों

को समाज कहते हैं। अथवा अनेकों समुदायों का समूह जिसके द्वारा मनुष्य अपनी बौद्धिक, धार्मिक, और आर्थिक इच्छाओं की पूर्ति करता है— वह समाज है।

समाज चिरस्थायी है और साथ ही साथ प्रगतिशील और परिवर्तनशील भी है। जब तक संसार में मानव रहेगा तब तक मानव-समाज भी रहेगा। केवल उसकी सीमा और रूप आवश्यकतानुसार तथा विचारानुसार बदलता रहेगा। प्रत्येक समाज के कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं जो पृष्ठ भाग में सदैव रहते हैं। जैसे हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चन तथा यहूदी समाज अपने स्वजातीय गुणों के कारण ही पहचाने जाते हैं।

प्राकृतिक दशा में समाज की गढ़न सादी थी। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ीं और मनुष्य के मस्तिष्क की गढ़न जटिल होने लगी वैसे उसके मानसिक परिवर्तन का प्रतिबिम्ब समाज पर पड़ा और समाज की गढ़न भी जटिल होने लगी। अर्थात् जैसे मनुष्य में कृत्रिमता आने लगती है वैसे-वैसे समाज भी जटिल और कृत्रिम होने लगता है।

समाज स्वाभाविक भी है, और कृत्रिम भी। कुटुम्ब जाति इत्यादि स्वाभाविक समाज के उदाहरण हैं तथा आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक समाज कृत्रिम समाज के उदाहरण हैं।

मानव जाति को समाज की देन :— (१) सर्वप्रथम समाज मनुष्य के जान और माल की रक्षा करता है। मनुष्य चाहे बाल्यावस्था में हो, युवावस्था में हो, चाहे वृद्धावस्था में हो, प्रत्येक मनुष्य अपनी रक्षा अपने आप नहीं कर सकता। मनुष्य को समाज की यह पहली देन है। स्वरक्षा के बाद अन्न वस्त्र तथा रहने के स्थान का प्रश्न आता है। अर्थात् शरीर के पोषण का भी आवश्यक प्रश्न है। जैसे-जैसे संसार विज्ञान युग में अग्रसर होता जा रहा है, वैसे-वैसे मनुष्य की आर्थिक आवश्यकतायें दिन दूनी रात चौगुनी होती जा रही हैं। अन्न, वस्त्र तथा रहने के स्थान के अलावा मनुष्य को आभूषण, कागज, मोटर, रेल, दवाई इत्यादि की भी

आवश्यकता होती है। इन सब की पूर्ति समाज ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त अर्थ के बनाने तथा सञ्चय करने के ज्ञान का भंडार समाज ही है। किसान तथा व्यवसायी अपने अनुभव अपने पुत्र, अन्य कुटुम्बियों और अपने पड़ोसियों को हस्तान्तरित करता है। इस प्रकार पुश्त दरपुश्त इन अनुभवों की वृद्धि होती जाती है और साथ ही साथ यह संचित ज्ञान समाज के कोष में अङ्कित होता जाता है।

२—बौद्धिक वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक, ज्ञान का भी कोष समाज ही है। असाधारण व्यक्ति पुरातन ज्ञान की नींव पर नये विचार तथा नये आविष्कारों को भी जन्म देते हैं और साधारण व्यक्ति इस ज्ञान के कोष से लाभ उठाते हैं। अर्थात् समाज के कारण ही ज्ञान की रक्षा होती है। उसी सञ्चित ज्ञान की भित्ति पर नवीन अविष्कार तथा विचारों की सृष्टि होती है।

३—इसी प्रकार समाज संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करता है। समाज ही कला, रीति-रिवाज, आचार-विचार इत्यादि को जीवित रखता है और उनके विकास में सहायता पहुँचाता है।

४—ज्ञान की वृद्धि सभ्यता संस्कृति की उन्नति तथा सुसङ्गठित आर्थिक जीवन के लिए शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता है, समाज ही विविध कार्यों को अलग-अलग मनुष्यों में योग्यता तथा रुचि के अनुसार बाँटता है। समाज ही मनुष्य के कार्यों की सीमा निर्धारित करता है। अर्थात् मनुष्य केवल प्राण-रक्षा के लिए ही नहीं परन्तु अपने पूर्ण विकास के लिए तथा अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज पर अवलम्बित है।

संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि समाज ही ज्ञान की वृद्धि में सहायक है। समाज ही ज्ञान का पोषक और रक्षक है। सभ्यता और संस्कृति की उन्नति समाज के कारण ही सम्भवनीय है। सामाजिक जीवन द्वारा मनुष्यों में विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है। सामाजिक ज्ञान कोष

की सहायता से ही नवीन आविष्कार और खोज सम्भव हो सकता है। मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति तथा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक इत्यादि उन्नति सामाजिक जीवन से ही सम्भव हो सकती है। मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास समाज द्वारा ही होता है। अर्थात् समाज ही मनुष्य की सर्वतोमुखी उन्नति का मुख्यतम आधार-स्तम्भ है।

समाज एक दिन में नहीं बनता है। धीरे धीरे अनेक शक्तियों द्वारा समाज बनता है। प्रत्येक समाज की भाषा, साहित्य, सङ्गीत, कला, रीति रिवाज सभ्यता संस्कृति विचार तथा भौगोलिक सीमा पृथक् होती है। और इन्हीं गुणों द्वारा प्रत्येक समाज की पहिचान होती है। क्योंकि प्रत्येक समाज की व्यक्तिगत विशेषता होती है।

समाज और व्यक्ति :—व्यक्तियों के समूह को ही समाज कहते हैं। व्यक्ति के बिना समाज हो ही नहीं सकता है। व्यक्ति और समाज का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। व्यक्ति समाज से लाभ उठाता है और समाज व्यक्ति से। क्योंकि वे एक दूसरे पर पूर्णरूपेण अवलम्बित हैं। उसी प्रकार समाज का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। और व्यक्ति का समाज पर। समाज ही व्यक्ति के विकास का साधन है। और व्यक्ति के विकास और उन्नति पर ही समाज का विकास और उन्नति निर्भर है। जो दोष और गुण अधिक मात्रा में अधिकाधिक व्यक्तियों में पाये जाते हैं वे दोष और गुण समाज में भी पाये जाते हैं। घूसखोरी, अत्याचार, असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता अथवा दया, धर्म, सहानुभूति, नागरिकता, प्रजातन्त्रात्मक भावना इत्यादि दोष और गुण यदि व्यक्ति में विद्यमान हैं तो वे समाज में भी अवश्य होंगे।

हर समाज में देखा गया है कि कुछ महान व्यक्ति अपनी तपश्चर्या और त्याग से अपने समाज का स्तर ऊँचा उठाते हैं, जैसे महात्मा गाँधी, ईसा मसीह, मुहम्मद, अशोक, बुद्ध इत्यादि। प्रत्येक समाज में कुछ वर्षों

के बाद बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। मनुष्य, रूढ़ी का दास बन जाता है। जब समाज संकीर्ण हो जाता है तो पुरानी परिपाटी को बिना सोचे विचारे पीटने लगता है, ऐसा समाज अपनी ताज़गी खो देता है। कट्टर सनातनी समाज परिस्थिति और समयानुसार बदलते हुये नये विचारों को ग्रहण करने की शक्ति भी खो बैठता है। ऐसे समय कुछ महान व्यक्ति बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार नये विचारों को समाज के सम्मुख रखते हैं। फिर धीरे धीरे साधारण जनता उनका अनुसरण करने लगती है। इसी प्रकार समाज सुधार होता है। और प्रत्येक समाज में इसी प्रकार परिवर्तन होता है।

समाज और व्यक्ति भिन्न नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि समाज व्यक्तित्व का नाश करता है। और समाज मनुष्य की स्वाधीनता हरण करके उसको अनेकों बन्धनों से जकड़ता है। क्या यह सत्य है? समाज का कार्य सुचारु रूप से चलने के लिये समाज को कुछ न कुछ बन्धन बनाने ही पड़ते हैं। नहीं तो सामाजिक-जीवन असम्भव हो जायेगा। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि समाज के बिना व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। समाज और व्यक्ति इन दो शक्तियों में कुछ हद तक प्रतिद्वन्द्विता सदैव रहती है परन्तु जब समाज की संकीर्णता इतनी बढ़ जाती है कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का भी नाश करने लगती है तब समाज में संघर्ष पैदा होता है, और कुछ व्यक्ति उस संकीर्णता को तोड़ कर नये विचारों की रचना करते हैं। इसी प्रकार समाज की प्रगति होती है।

व्यक्तिगत व सामाजिक कार्य :—मनुष्य के कार्य दो विभागों में बांटे जा सकते हैं। व्यक्तिगत तथा सामाजिक। व्यक्तिगत कार्य वे हैं जिनके करने से समाज पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है। और सामाजिक कार्य वे हैं जिनके आचरण से समाज के अन्य व्यक्तियों पर भी असर पड़ता है। परन्तु साथ ही साथ यह कह देना आवश्यक है कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों की मीमाँसा बहुत स्पष्ट रीति से नहीं हो

सकती है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ सीमा तक अपने कार्यों से दूसरे पर प्रभाव डालता है। इसलिये व्यक्तिगत कार्यों का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। उदाहरणार्थ यह व्यक्ति विशेष पर ही निर्भर है, कि वह किस प्रकार का अन्न खाये, वह किस राजनैतिक दल का सदस्य बने, वह कौन कौन सी संस्था का सदस्य बने, अथवा जीविकोपार्जन के लिये नौकरी करे अथवा व्यापार करे इत्यादि। निम्नलिखित कार्य सामाजिक कार्य कहलाये जायेंगे, क्योंकि इनके करने से समाज पर प्रभाव पड़ता है जैसे यदि मेरा ध्येय अपने पुत्र को डाकू बनाने का हो, अथवा यदि मैं किसी की सम्पति की चोरी करूँ अथवा प्रधानमन्त्री की हत्या के लिये षडयन्त्र करूँ इत्यादि। इन कार्यों से व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्य की सीमा का उल्लंघन करके समाज में और दूसरे व्यक्तियों में भय और अशान्ति पैदा करता है। जिससे समाज में खलबली मच सकती है। इसलिये जब मनुष्य समूह में रहते हैं तब उन्हें कुछ नियमों और कानूनों का पालन करना ही पड़ता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति मनमाना व्यवहार करें तो सामूहिक जीवन नष्ट हो जायेगा। जब ये नियम कठोर और अपरिवर्तनशील हो जाते हैं तब समाज सुधार की आवश्यकता होती है। समाज सुधार में इसी बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि समाज सुधार ऐसा ही होना चाहिये जिससे समाज की रचना अटूट रहे और वे समाज की नींव को धक्का न पहुँचावे क्योंकि समाज और व्यक्ति का अन्योन्याश्रय संबन्ध है। क्योंकि समाज व्यक्तियों की सर्वतोमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और व्यक्ति समाज की। व्यक्ति समाज का निर्माता है और समाज व्यक्ति का पोषक है।

सम्प्रदाय अथवा उपसमाज :—(Cowmunitis) सम्प्रदाय मनुष्य का वह समूह है जिसमें जीवन की सभी मौलिक अवस्थाओं में एक दूसरे से सम्बन्ध हो। सम्प्रदाय में मनुष्य के सभी सामाजिक सम्बन्ध तथा मनुष्य जीवन के सभी पहलू तथा आवश्यकतायें और इच्छायें अन्तर्गत है।

प्रत्येक सम्प्रदाय के लिये निश्चित भूमि-भाग तथा निश्चित जन-समूह आवश्यक है। ग्रामीण समाज, नगर समाज, शहर समाज, राष्ट्र समाज इत्यादि उपसमाज अथवा सम्प्रदाय के उदाहरण है। सम्प्रदाय में समान रीति रिवाज, समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान आर्थिक जीवन तथा एकता की भावना आवश्यक है।

ग्रामीण समाज :—मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन में ग्रामीण समाज की स्थापना हुई। उस समय जीवन सरल और साधारण था और कृषि उनका मुख्य व्यवसाय था। ग्राम में ही ग्रामवासियों की आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन होता था। ग्रामीण समाज के सब व्यक्ति एक कुटुम्ब की भांति एक दूसरे के सुख दुःख में सहयोग देते हुये रहते थे। इनका शासन पञ्चायत द्वारा होता था। और ग्राम के बड़े बूढ़ों पर ही शासन का दायित्व था।

शहर समाज :—बंक, व्यापार, व्यवसाय, कल कारखानों के आविष्कार के बाद ग्रामीण जीवन में परिवर्तन हुआ और शहरों और नगरों की स्थापना हुई। आवागमन के सुगम साधनों के कारण भांति-भांति के लोगों का निकट सम्बन्ध आने लगा। मनुष्य संकुचित ग्रामीण जीवन से निकल कर शहर निवासी बना। प्रत्येक शहर के रहन-सहन का ढाँचा तैयार होने लगा। क्योंकि प्रत्येक शहर का रहन-सहन विशिष्ट प्रकार का होने लगा। प्रत्येक शहर के निवासियों के रहन-सहन में साम्यता होने पर भी कुछ विभिन्नता भी पाई जाती है।

राष्ट्र सम्प्रदाय :—एक ही भाषा बोलने वाले, एक ही धर्म का पालन करने वाले, एक ही संस्कृति, रीति रिवाज, जाति में गुँथे हुये एक ही इतिहास से बँधे हुये तथा निश्चित भूमि भाग पर रहने वाले व्यक्ति-समूह को राष्ट्र-समाज अथवा राष्ट्र-सम्प्रदाय कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संघ व लीग ऑफ नेशन्स :—संसार आज इस ओर भी दृष्टि क्षेप कर रहा है।

अध्याय ३

कुटुम्ब

कुटुम्ब की उत्पत्ति तथा इतिहास :—समाज का सबसे पहला, सबसे छोटा, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण चरण कुटुम्ब ही है। इसका रूप आदि काल से बदल रहा है, और बदलता जायगा। कुटुम्ब की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं सम्भोग की इच्छा, सन्तति प्रेम और उसकी रक्षा। आज कल कुटुम्ब का अर्थ है पति पत्नी और सन्तान। परन्तु हिन्दुस्तान तथा चीन में सम्मिलित अथवा अविभक्त कुटुम्ब पद्धति थी और अभी भी विद्यमान है। सम्मिलित कुटुम्ब का अर्थ है चाचा, चाची, दादा, दादी, भाई, बहन, बाबा भतीजा तथा अन्य निकटवर्ती सम्बन्धी का सम्मिलित जीवन-यापन। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण, नौकरी चाकरी के निमित्त तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचारों से प्रभावित होकर सम्मिलित कुटुम्ब-पद्धति प्रायः टूटती जा रही है। प्रायः विभक्त कुटुम्बों का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

अनुमान से ऐसा मालूम होता है कि आदि काल से स्त्री और पुरुष समूह में रहते थे और जीवन यापन सामूहिक रूप से करते थे। ऐसे जीवन में संघर्ष की मात्रा अधिक थी। क्रमशः ये हबशी लोग निश्चित भूमि भाग पर रहने लगे। धीरे-धीरे जंगली जीवन त्याग कर सभ्य जीवन की ओर बढ़े। क्रमशः कुटुम्ब और परिवार का विकास हुआ। धीरे-धीरे यह समूह छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होने लगा। ये टुकड़े कुटुम्ब कहलाने लगे।

आजकल कुटुम्ब का अर्थ है विवाहित स्त्री और पुरुष और उनकी

संतान। आदि काल में स्त्री और पुरुष का स्थायी सम्बन्ध नहीं था। प्राचीन काल में माँ और बच्चों से ही कुटुम्ब बन जाता था। और माता के नाम से ही कुटुम्ब की पहचान होती थी। माता ही कुटुम्ब की रक्षक और पोषक थी। ऐसे परिवार मातृप्रधान कहलाने लगे। क्रमशः इनमें परिवर्तन हुआ क्योंकि इनमें व्यवहारिक कठिनाईयाँ पैदा होने लगी। स्त्री पुरुष का स्थाई वैवाहिक सम्बन्ध होने लगा। पुरुष का केवल प्रजनन का ही कार्य न रहा। अब स्त्री और सन्तान का रक्षक और पोषक पिता ही माना जाने लगा। इस प्रकार के कुटुम्ब पितृप्रधान कहलाने लगे।

पूर्वीय देशों में अविभक्त अथवा सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति प्रचलित है। पाश्चात्य देशों में व्यक्तिगत कुटुम्ब पद्धति प्रचलित है।

सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति :—जब भाई-भाई, चाचा-चाची, दादा-दादी, एक ही घर में रहते हैं और सामूहिक रूप से कुटुम्ब की सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। तो ऐसे परिवार को सम्मिलित कुटुम्ब कहते हैं। ऐसे परिवारों में घर का बड़ा बूढ़ा ही कर्त्ता कहलाता है। वही घर का संरक्षक होता है तथा परिवार का प्रत्येक व्यक्ति उसके आदेश तथा आज्ञा का पालन करता है।

सम्मिलित कुटुम्ब के गुण :—सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति में आर्थिक स्थिरता, आपत्ति काल अथवा बिमारी इत्यादि के समय देख-भाल और धन के अपव्यय से बचत, ये मुख्य गुण हैं। सम्मिलित कुटुम्ब में ही विधवाओं बूढ़ों और बेकारों की देख भाल सम्भव है। सब लोगों की आर्थिक रक्षा सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति में ही सम्भव है।

(२) जब बहुत लोग बहुत दिनों तक एक साथ रहते हैं तो उनमें अपनत्व, प्रेम, आदान प्रदान, परस्पर सहयोग, सहायता और सहिष्णुता की भावना पैदा होती है। रक्त सम्बन्ध इन भावनाओं को दृढ़ बनाता है। इस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब द्वारा सच्ची नागरिकता की भावनाओं का उदय

होता है। अन्य व्यक्तियों के साथ रहने से मनुष्यों में विशाल दृष्टिकोण का भी उदय होता है।

अविभक्त कुटुम्ब पद्धति के अन्त होने के कारण उपरोक्त दोनों ही कार्यों को राज्य तथा अन्य सम्प्रदायों को करना पड़ रहा है। बूढ़ों, बेकारों, अपाहिजों की देख रेख का भार अब सर्वस्वी राज्य पर आ पड़ा है। उसी प्रकार पवित्र नागरिक भावनाओं की जागृति भी राज्य को करनी पड़ रही है। राज्य प्रचार द्वारा, संस्थाओं द्वारा, इसको करता है। जब ये कार्य राज्य के कर्मचारियों द्वारा होते हैं तो करने वालों में केवल कर्तव्य की भावना होती है। प्रेम और सहानुभूति का स्पर्श कम होता है। स्वतंत्रता, स्वाधीनता तथा व्यक्तित्व के विकास इत्यादि नवीन विचारों के आ जाने से तथा आर्थिक दशा में परिवर्तन के कारण सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति टूटने लगी है। और जहाँ जहाँ पर यह पद्धति विद्यमान भी है वहाँ पर परिवर्तित मनोवृत्ति के कारण परिवर्तित भावना के कारण अथवा परिस्थिति के कारण संघर्ष, असहिष्णुता, द्वेष प्रतिद्वन्द्विता ही नजर आता है।

दोष :—(१) सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति में कुछ व्यक्ति तो कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये दिन रात प्रयास करते हैं। परन्तु अधिकांश कुटुम्बी बेकार, आलसी और निस्तेज बन जाते हैं। सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये अवसर नहीं मिलता है। विचारों की विभिन्नता तथा स्वभाव की विभिन्नता के कारण संघर्ष, वैमनस्य, द्वेष, असहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति शान्ति, उन्नति तथा सुख का द्वार बन्द कर देती है।

व्यक्तिगत कुटुम्ब पद्धति के गुण :—इस कुटुम्ब पद्धति में कलह तथा संघर्ष की सम्भावना कम होती है। व्यक्तित्व के विकास के लिये अच्छा अवसर मिलता है। माता पिता का बच्चों से निकट सम्बन्ध आता है। माता पिता के सच्चे प्रेम से पला हुआ बालक सहज और स्वाभाविक बन जाता है। घर में शान्त तथा प्रेम पूर्ण व्यवहार की सम्भावना अधिक

होती है। और प्रत्येक माता पिता को यह सन्तोष होता है कि वह अपने बच्चों का अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार पालन-पोषण कर रहे हैं। और उनका उपार्जित धन उनकी सन्तान की भलाई में ही व्यय हो रहा है।

दोष :—छोटे छोटे कुटुम्ब के होने से बच्चों में स्वार्थ की मात्रा बढ़ती है। परस्पर सहयोग की भावना का उदय ही उनमें नहीं हो पाता है। आपत्तिकाल में व्यक्तिगत कुटुम्ब के कुटुम्बियों को किसी का सहारा नहीं होता है। व्यक्तिगत कुटुम्ब में रहने वाले व्यक्ति अपने ही सुख और आराम में लिप्त हो जाते हैं। ऐसे कुटुम्ब में सम्पत्ति का अपव्यय होता है। यदि पति-पत्नी में वैमनस्य अथवा मतभेद आ जाता है, तो दोनों ही का जीवन असहनीय हो जाता है। अलग-अलग विचार और स्वभाव के लोगों के साथ रहने से दूसरों को समझने की इच्छा और परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। छोटे कुटुम्ब में ऐसी शिक्षा मिल नहीं पाती है।

परिवर्तनशील कौटुम्बिक सम्बन्ध :—कुटुम्ब तथा कुटुम्बियों का एक दूसरे से सम्बन्ध समय, स्थान और देश के अनुसार बदलता जाता है। आदि काल में एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। परन्तु सभ्यता के विकास से एकपत्नीव्रत ही अच्छा समझा जाने लगा है। वैदिक काल में स्त्री पुरुष में समता और समानता थी। स्त्री को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्ण अवसर दिया जाता था। क्रमशः भारत में स्त्रियों की स्थिति दयनीय होने लगी। घर गृहस्थी, चूल्हा चक्की ही उनके जीवन का क्षेत्र और उद्देश्य माना जाने लगा। वे चहरदीवारी में बन्द कर दी गई। भारत में स्त्रियाँ अशिक्षा के अन्धकार में डूब गई। उन्हें किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। घर के अन्दर उनका स्थान गौण था। समय बदला, नये विचारों के प्रभाव से स्त्रियों में जागृति हुई। सर्वप्रथम स्त्रियाँ शिक्षित होने लगीं। आज स्त्रियाँ घर में, समाज में,

राष्ट्र में, पुरुषों से समान अधिकार माँग रही हैं। आज वे पति से संगिनी और सहधर्मिणी का सम्बन्ध चाहती हैं, दासी का नहीं। भारत में आज स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार मिलने जा रहा है। स्त्रियाँ विवाह-विच्छेद की माँग पेश कर रही हैं। भारत में स्त्रियों को सब प्रकार की नौकरियाँ करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। इन सब परिवर्तनों से स्त्री पुरुषों के सम्बन्ध में भी परिवर्तन होगा। और साथ ही साथ कौटुम्बिक जीवन में भी परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। इस प्रकार समय समय पर कौटुम्बिक सम्बन्ध बदलते जायेंगे और बदलते जा रहे हैं।

कुटुम्ब पद्धति को समूल नाश करने की समय समय पर योजनायें हुई हैं। १९१७ की क्रान्ति के पश्चात् रशिया में कुटुम्ब पद्धति को नाश करने का निश्चय किया गया। कौटुम्बिक जीवन के स्थान पर सामूहिक भोज-नालय, सामूहिक गृह तथा राज्य की ओर से बच्चों के संगोपान की व्यव-स्था इत्यादि की योजना की गई। परन्तु इतना करने पर भी रशिया में कुटुम्ब पद्धति का उदय हुआ। इस प्रकार की योजनायें समय समय पर कई देशों में हुई हैं, पर वे कुटुम्ब पद्धति के नाश में असफल रही हैं। सम्भवतः कुटुम्ब मनुष्य स्वभाव का एक अङ्ग है। मालूम देता है कुटुम्ब किसी न किसी प्रमाण में विद्यमान रहेगा।

कुटुम्ब पवित्र नागरिकता की पाठशाला है :— (१) शिक्षा, दीक्षा, रक्षा व सहायता की देन—संभोग तथा स्त्री पुरुष का आकर्षण ही कुटुम्ब के उत्पत्ति का कारण है। शिशु अवस्था में हर एक बालक को प्रेम और रक्षा की आवश्यकता होती है। कम से कम पन्द्रह सोलह वर्ष की आयु तक बच्चा अपने माता पिता पर ही जीवन, भोजन, शिक्षा, रक्षा आदि के लिये निर्भर है। कहा जाता है कि शिशु के जीवन के पाँच छः वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। इस समय उनका मन और भाव लचीला होता है। व्यवहार आदतें, भाव, विचार, रहन-सहन, की पद्धति इत्यादि को बनाने और बिगाड़ने का समय यही है। इन्हीं पाँच वर्षों के अन्दर अन्दर

और दिमाग की प्रवृत्तियाँ ढाली जाती हैं। जिसका प्रभाव आजीवन रहता है। अर्थात् कुटुम्ब पर अथवा माता पिता पर सन्तान को बनाने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।

कुटुम्ब ही में बच्चा भाषा तथा बोलने चालने का ज्ञान प्राप्त करता है। शिशु-अवस्था में बच्चा बड़ों का अनुकरण करता है। बच्चा माता पिता, भाई, बहन के सम्पर्क में आकर व्यवहार, रीति रिवाज, बोलने चालने का ढङ्ग इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक विषयों की रुचि भी कुटुम्ब द्वारा ही सन्तान को प्राप्त होती है। इस प्रकार घर के बड़े बूढ़े कुटुम्ब की संस्कृति तथा सभ्यता अपनी सन्तान को प्रदान करते हैं। बच्चा कुटुम्ब के वातावरण को आत्म-सात् करता जाता है। साधारण व्यक्ति जिस वातावरण में पलता है वह उसी वातावरण का अनुसरण अपने जीवन में करता है। असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि वाले महान व्यक्ति जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी, शिवाजी, नेपोलियन, ईसा मसीह इत्यादि की प्रतीभा तो किसी भी वातावरण में प्रस्फुटित होती है। ये सब युग-पुरुष हैं। इस लिये उपरोक्त बातें केवल साधारण व्यक्तियों के लिये ही सत्य है।

(२) आर्थिक दृष्टि से कुटुम्ब का महत्त्व :—कुटुम्ब राष्ट्र की आर्थिक इकाई है। आर्थिक दृष्टि कोण से भी कुटुम्ब का बहुत महत्व है। कुटुम्ब के सबल तथा बुद्धिमान व्यक्ति धनोपार्जन करके बच्चों, बूढ़ों और अन्य कुटुम्बियों का जो काम-काज करने योग्य नहीं है पालन-पोषण करते हैं। प्रत्येक कुटुम्ब का कुछ विशिष्ट व्यवसाय होता है, और बाप से बेटा उसे सीखता है। इस प्रकार बाल्यकाल से ही अनुकूल वातावरण में पलने से बच्चा स्वाभाविक रूप से उस व्यवसाय में विशेष योग्यता प्राप्त करता है। जैसे कुम्हार अथवा बढ़ई का लड़का बाल्यकाल से ही कुम्हारगिरी अथवा बढ़ईगिरी में प्रवीण हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य अपने कुटुम्ब को सुख चैन से रखने के लिये ही धनोपार्जन करता है। और धन को आर्थिक संकट के लिये अथवा किसी

अनिश्चित खर्च के लिये बचाता है। कुटुम्ब ही एक ऐसा बन्धन है जो मनुष्य को धन के अपव्यय से रोकता है। कुटुम्ब व्यवस्था के कारण ही वैयाक्तिक सम्पत्ति की प्रथा का निर्माण हुआ है। इस प्रकार मनुष्य को धन-संग्रह की प्रेरणा कुटुम्ब के कारण ही होती है। अतएव सम्पत्ति का संग्रह और सदुपयोग कुटुम्ब के कारण ही सम्भव है।

(३) **संस्कृति और कलाओं का पोषक :**—प्रत्येक कुटुम्ब की व्यक्तिगत परम्परा तथा रीति-रिवाज होते हैं। प्रत्येक कुटुम्ब का नैतिक और आध्यात्मिक स्तर भी होता है संगीत, कला, चित्रकला इत्यादि कलाओं की उन्नति भी कुटुम्ब में ही सम्भव है। इस प्रकार कुटुम्ब, संस्कृति तथा सभ्यता का पोषक है। क्योंकि बाल्यकाल में बच्चा बड़ों का अनुकरण करता है और कुटुम्ब के वातावरण से अनजाने बहुत कुछ सीखता है।

(४) **चरित्र-निर्माण :**—कुटुम्ब ही बालक के स्वभाव और चरित्र का निर्माण करता है। चरित्र तथा स्वभाव, सञ्चित कर्म, वातावरण, शिक्षा तथा वंशपरम्परा की देन है। राज्य और समाज का अच्छा सेवक बनने के गुण बहुत हद तक मनुष्य कुटुम्ब से सीखता है। क्योंकि चरित्र का निर्माण कुटुम्ब द्वारा ही होता है। इस प्रकार एक आदर्श कुटुम्ब सच्चे नागरिकता की पहली पाठशाला है। सत्य है कुटुम्ब ही बच्चे को बनाता है अथवा बिगाड़ता है।

(५) **सेवा-भाव, सहानुभूति त्याग सहिष्णुता इत्यादि गुणों का निर्माण :**—एक आदर्श कुटुम्ब ही आदर्श नागरिक को बना सकता है। आदर्श नागरिक जीवन की रचना, प्रेम, सहिष्णुता, त्याग, सेवा-भाव तथा सहानुभूति की नींव पर ही हो सकती है। ये सब गुण बच्चा कुटुम्ब के वातावरण से ही सीख सकता है। कुटुम्बियों का परस्पर प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता बड़ों का छोटों के प्रति त्याग, और सेवा-भाव ही कुटुम्ब का वातावरण शान्त, स्वास्थ्य-प्रद और सुखमय बना सकता है। जहाँ प्रेम होगा वहाँ सहिष्णुता, सहानुभूति, परस्पर-सहयोग, सहनशीलता

इत्यादि भावों का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। त्याग और सेवा-भाव प्रेम की सहचरी है। ये स्वाभाविक गुण हैं। यदि कुटुम्ब में ऐसा वातावरण होगा तो बच्चा उसे सीखेगा। और इन गुणों का अनुकरण करेगा। क्रमशः ये गुण व्यक्ति के स्वभाव के अंग बन जायेंगे। समाज और राज्य की नींव बल-प्रयोग से नहीं, किन्तु इन्हीं गुणों से सुदृढ़ हो सकती है। कुटुम्ब जिन गुणों का निर्माण आज अपनी सन्तान में करेगा वे ही गुण उसे भविष्य के नागरिक-जीवन में काम आयेंगे।

(६) अनुशासन तथा आज्ञा-पालन :—बाल्यकाल में बच्चा, माता पिता के अनुशासन में रहता है और वह माता पिता से शिक्षा, सभ्य-जीवन तथा सुखी आर्थिक जीवन के अधिकारों का भागी होता है। उसी प्रकार बच्चा कुटुम्ब में रह कर ही छोटे भाई बहनों की रक्षा, बड़ों की सेवा तथा आज्ञा-पालन के गुण सीखता है, इसी तरह व्यक्ति कुटुम्ब से उदारता, सदाचार इत्यादि गुण भी सीखता है। ये गुण नागरिक जीवन को सफल बनाने के लिये आवश्यक हैं। उपरोक्त गुणों की सृष्टि कुटुम्ब ही में हो सकती है। क्योंकि कुटुम्बियों में रक्त-सम्बन्ध होता है। कुटुम्बी सुख दुःख के साथी होते हैं। तथा वे एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं। इन कारणों से उनमें स्वाभाविक प्रेम होता है। स्वस्थ, सुखमय नागरिक जीवन की सृष्टि के लिये कुटुम्ब एक महत्वपूर्ण इकाई है।

(७) अनागरिक प्रवृत्तियों का दायित्व कुटुम्ब पर :—इस प्रकार नागरिक जीवन को आदर्श बनाने के लिये कुटुम्ब पर बहुत हद तक जिम्मेदारी है। यदि कुटुम्ब में शान्त, पवित्र प्रेम पूर्ण तथा लेन देन का वातावरण हो और यदि प्रत्येक कुटुम्बी को नागरिकता की शिक्षा दी जावे, तो हमारा नागरिक जीवन सुखमय और सुव्यवस्थित हो सकेगा। आज कल हम देश, विदेश में भ्रष्टाचार, दुष्टता, स्वार्थता, संघर्ष, अधिक की होड़, भेदभाव और लोभ की मात्रा को बढ़ता हुआ पाते हैं, और इसी कारण देश विदेश में दुःख, दरिद्रता और अशान्ति को भी पाते हैं। इन सब

प्रवृत्तियों के वृद्धि का कारण बहुत हद तक कुटुम्ब की प्रारम्भिक शिक्षा तथा कुटुम्ब का अशान्त और अतृप्त वातावरण ही है। सच है नागरिकता का प्रथम पाठ बच्चा माता के चुम्बन, और पिता के गोद में सीखता है। (मजिनी)

(८) अर्थ और अनागरिक-प्रवृत्ति :—उपरोक्त बातें बहुत हद तक सत्य हैं। परन्तु अर्थ के बिना सुसङ्गठित और सुखी कुटुम्ब की सृष्टि हो ही नहीं सकती है। अभाव ही मनुष्य के अन्दर अनागरिक प्रवृत्तियों को जगाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये पर्याप्त धन चाहता है। कुटुम्ब की सुख और शान्ति इस पर भी निर्भर है। यदि कुटुम्ब में अपने भरण पोषण के लिये धन का अभाव होता है, तो कुटुम्बियों में अनागरिक मनोवृत्ति का उदय होता है। प्रत्येक व्यक्ति के भरण पोषण के लिये पर्याप्त धन अथवा नौकरी की व्यवस्था करना, राज्य और समाज का सर्वश्रेष्ठ दायित्व है। परन्तु मानव-समाज में क्या देखते हैं? एक तरफ विपुल-धन-सञ्चय और धन का अपव्यय, दूसरी ओर धन का अभाव-दारिद्रय और भूखमारी, अर्थात् मानव-समाज में सब ओर आर्थिक असमानता दिखलाई देती है। प्रत्येक राज्य का यह दायित्व है कि वह धन का यथायोग्य तथा न्याय-युक्त बँटवारा करें। जिससे कौटुम्बिक जीवन में आर्थिक अभाव न हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो अनागरिक प्रवृत्तियों की वृद्धि होती जायेगी। प्रथम कुटुम्ब में तत्पश्चात् समाज में उथल-पुथल मच जायेगी। इससे सुसङ्गठित समाज और कुटुम्ब की रचना एक सुखस्वप्न ही रह जायेगा। व्यक्ति और कुटुम्ब का अन्योन्याश्रय सम्बंध है। व्यक्ति कुटुम्ब पर निर्भर है, और कुटुम्ब व्यक्ति पर। जब व्यक्ति का स्तर ऊँचा उठेगा, तो कुटुम्ब का स्तर भी ऊँचा होगा। और जब कुटुम्ब का स्तर ऊँचा होगा, तब समाज का स्तर ऊँचा होगा और जब समाज का स्तर ऊँचा होगा, तो राज्य का स्तर भी ऊँचा होगा। इस प्रकार ये सब एक दूसरे से बँधे हुये हैं।

अध्याय ४

समुदाय

समुदाय की परिभाषा :— (१) समुदाय मनुष्यों का सुसंगठित गिरोह है, जिसमें निश्चित ध्येय हो, जो मनुष्यों के अनेकानेक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त बना हो, जिसको स्थाई रखने के लिये तथा जिनके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विशिष्ट प्रकार का अनुशासन हो, जिसमें समुदाय के नियमों का पालन आवश्यक हो।

(२) कोल (Cole) के शब्दों में "समुदाय व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो निश्चित नियमों के अनुसार, परस्पर सहयोग द्वारा विशिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये काम करें।"

संस्थाओं के रूप :— (१) समुदाय कई प्रकार के होते हैं। जैसे कुछ समुदाय आकार में बड़े होते हैं और कुछ छोटे। अर्थात् किसी की सदस्यता अधिक होती है और किसी की कम। जैसे परिवार या कुटुम्ब की सदस्यता अन्य समुदायों से कम होती है। (२) संस्थाओं का वर्गीकरण उनके अधिकारों के क्षेत्र के अनुसार भी किया जाता है। कुछ संस्थाओं के अधिकार की सीमा स्थानीय होती है जैसे म्यूनिसिपलबोर्ड इत्यादि। कुछ राष्ट्रीय होती है जैसे राज्य और कुछ के अधिकारों की सीमा अन्तर्राष्ट्रीय होती है जैसे थियोसॉफिकल सोसाइटी, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सङ्घ इत्यादि। (३) कुछ संस्थाओं का सङ्गठन सरल होता है और कुछ का जटिल। जैसे कुटुम्ब का सङ्गठन सरल होता है और राज्य का जटिल। (४) कुछ समुदाय स्थाई होते हैं और कुछ अस्थाई। स्थाई समुदाय वे हैं जिनकी उपयोगिता सदैव बनी

रहती है जैसे राज्य, कुटुम्ब, शिक्षालय इत्यादि। अस्थाई समुदाय वे हैं जिनकी उपयोगिता कुछ काल के लिये होती है और उस विशिष्ट कार्य की सिद्धि के बाद वे समाप्त कर दिये जाते हैं जैसे अकाल-निवारण-समिति भूडोल-पीड़ित-रक्षा-समिति, नाटक-समिति इत्यादि। (५) कुछ समुदाय स्वाभाविक अथवा जन्म सिद्ध होते हैं। इनकी सदस्यता अनिवार्य है। ये समुदाय वंशानुवंश चलते हैं जैसे कुटुम्ब, परिवार, जाति, राज्य। कुछ समुदाय कृत्रिम अथवा अस्वाभाविक होते हैं। इन समुदायों की सदस्यता स्वीकार करना या न करना, अथवा इनकी सदस्यता स्वीकार करके छोड़ देना प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है, जैसे धार्मिक समुदाय आर्थिक समुदाय, मनोरंजन समुदाय इत्यादि।

समुदायों की आवश्यकता तथा उपयोगिता :—(१) समाज में अनेक प्रकार की संस्थायें पायी जाती हैं। मालूम देता है कि समुदायों के बिना मानव जीवन अधूरा रह जायेगा। क्योंकि समुदाय के बिना मनुष्य के विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हो ही नहीं सकती है। मनुष्य की विभिन्न आवश्यकतायें होती हैं, जैसे अध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक इत्यादि। इन सब की पूर्ति वह अकेले नहीं कर सकता है। इन भिन्न भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे अन्य व्यक्तियों की सहायता तथा सहयोग की आवश्यकता होती है। अर्थात् मनुष्य समुदाय बनाकर ही अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की प्राप्ति कर सकता है। समाज जितना ही समृद्धशाली होगा और उसमें जितनी ही विभिन्न रुचि होगी उतने ही प्रकार के समुदाय उस समाज में पाये जायेंगे। जैसे जैसे मनुष्य उन्नत और सभ्य होता जायेगा वैसे वैसे समाज में समुदाय भी बढ़ते जायेंगे। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तथा मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास समुदायों द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सुखी और रसपूर्ण बनाने के लिये समुदायों का बहुत कुछ हाथ है।

(२) सम्मिलित प्रयत्न और सहयोग से मनुष्य बहुत अधिक सम्पादन करता है। प्रत्येक व्यक्ति यदि प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिये अथ से इति तक स्वयं प्रयास करे तो उसकी शक्ति का विन्यास और ह्रास हो जायेगा। इस प्रकार मेल जोल बाँट बटवारे से जो काम किया जाता है वह सुव्यवस्थित भी होता है और साथ ही साथ इसमें प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट गुणों का भी सदुपयोग होता है। इससे समाज का अधिक से अधिक फायदा होता है। उदाहरणार्थ यदि किसी वैज्ञानिक को अन्न उपार्जन के लिये खेती करनी पड़े तथा तन ढ़कने के लिये कपड़ा भी बुनना पड़े, विज्ञान में रुचि होने के कारण वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में जाकर प्रयोग भी करने पड़े, तो उस वैज्ञानिक की शक्ति का ह्रास होगा, और उसमें विशिष्ट गुणों का विकास नहीं हो पायेगा। इससे व्यक्ति और समाज का अहित होगा।

(३) मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क से ही अपनी उन्नति कर सकता है। एक ही संस्था अथवा समुदाय में रहने से और काम करने से व्यक्तियों का एक दूसरे से निकट सम्बन्ध आता है। इस प्रकार एक समुदाय के व्यक्ति सूक्ष्म प्रेम के बँधन में बन्ध जाते हैं। समुदाय अपरोक्ष रीति से मनुष्य को साथ लाता है। संस्था अथवा समुदाय में रहकर व्यक्ति अपने विचार दूसरे व्यक्तियों से प्रकट करता है। इस प्रकार प्रत्येक विषय पर अलग अलग दृष्टिकोण से विचार होता है इससे मनुष्य के विचार सुदृढ़ होते हैं और उनकी बौद्धिक उन्नति भी होती है। कभी कभी विपरीत विचारों के सङ्घर्ष से नये विचारों की भी उत्पत्ति होती है। संस्थाओं द्वारा ही लोकमत बनाया जाता है। और संस्थायें ही उसे जीवित रखती हैं। इस प्रकार समुदाय, बौद्धिक उन्नति, नवीन विचारों की सृष्टि तथा लोकमत बनाने में सहायक है।

(४) मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा समुदायों द्वारा ही कर सकता है। अधिकारों द्वारा ही मनुष्य की उन्नति सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति को

अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सावधान और सतर्क रहना पड़ता है। एक अकेला व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता है। अन्य व्यक्तियों के सहयोग से अथवा सामूहिक रीति से ही मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है। समुदाय ही व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा, राज्य के आक्रमण से, अथवा अन्य प्रतिद्वन्दी समुदाय के आक्रमणों से, कर सकता है। आजकल राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में सङ्घों का महत्त्व स्पष्ट है। सङ्घ बनाकर ही मिल मजदूर, छात्र, जमींदार, किसान, रेल मजदूर इत्यादि अपनी रक्षा करते हैं। निर्बल, असहाय मजदूर आज सङ्घों के कारण सबल हो गये हैं। इस प्रकार सङ्घ अथवा समुदाय व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करता है। उनमें जागृति और उत्साह पैदा करता है। उनके कल्याण तथा सुविधाओं के लिये सतत प्रयत्न करता है।

(५) अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि भौतिक जीवन सुखी, आनन्दपूर्ण, सुरक्षित तथा सम्पूर्ण बनाने के लिये मनुष्य को समाज और समुदाय की आवश्यकता है।

स्वाभाविक अथवा अकृत्रिम समुदाय

कुटुम्ब, परिवार, कुल तथा राज्य :—कुटुम्ब और परिवार के विषय में काफी विवेचना की जा चुकी है। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रक्त-सम्बन्ध के कारण ही कुटुम्ब, परिवार, तथा कुल की उत्पत्ति होती है। कुटुम्ब का विस्तृत रूप ही परिवार है। स्त्री, पुरुष, और उनकी सन्तान के अतिरिक्त दो पीढ़ियों तक के रक्त-सम्बन्ध वाले व्यक्ति परिवार में सम्मिलित है।

कुल :—कुटुम्ब मिल कर परिवार (Clan) बने। तथा परिवार मिलकर कुल (Tribe) बने। कुल क्या है ? कुल मनुष्य के उस समूह

को कहते हैं जिसमें परस्पर रक्त-सम्बन्ध हो, जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि से हो, जिनका समान रहन-सहन का ढंग हो, जिनका समान रीति रिवाज हो, जिनकी पूजा-अर्चा में समानता हो, तथा जो समान भाषा-भाषी हों। उपरोक्त समानता के कारण जिनमें परस्पर सहयोग तथा समान अनुशासन से रहने की भावना विद्यमान हो।

पुरातन काल में कुल का बूढ़ा व्यक्ति ही कुल का शासक होता था। कुल का प्रत्येक व्यक्ति इस वयोवृद्ध व्यक्ति का आदर करता था, और उसकी आज्ञा और अनुशासन को मानता था। शासन की प्रथम झलक अथवा राज्य शासन की प्रथम सीढ़ी परिवार और कुल के शासक में ही प्रतिबिम्बित हैं।

समाज का स्तर जब भ्रमण शील जीवन और कृषि जीवन में था उस समय परिवार और कुल की महत्ता बहुत अधिक थी। ये सामाजिक ढाँचे की नींव समझे जाते थे। उस काल में राज्य का छोटा मोटा रूप परिवार और कुल ही था। सामाजिक गुण की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से, अनुशासन की दृष्टि से, तथा प्रजनन की दृष्टि से परिवार और कुल का स्थान महत्त्वपूर्ण था। परन्तु आज विज्ञान युग में परिवार और कुल का स्थान गौण हो गया है। पुरातन काल में जो कर्त्तव्य परिवार और कुल के होते थे उनमें से अधिकांश कर्त्तव्य आज राज्य कर रहा है। दिन प्रतिदिन राज्य के कर्त्तव्यों और अधिकारों की सीमा बढ़ती ही जा रही है।

जाति :—जाति की विशेषता केवल हिन्दुस्तान में ही है। वर्णों की उत्पत्ति गुण और कर्म के अनुसार हुई। सामाजिक कार्यों का विभाजन ही वर्ण व्यवस्था का ध्येय था। क्रमशः वर्ण-व्यवस्था का परिवर्तन जाति व्यवस्था में हुआ वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण सर्वोच्च थे उसके बाद क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। इन सब के कर्त्तव्य निर्धारित किये गये थे।

क्रमशः वर्ण-भेद का रूपान्तर जाति-भेद में हुआ और साथ ही सङ्कीर्णता, असहिष्णुता तथा ऊँच नीच की भावना की उत्पत्ति हुई। कर्तव्यों के स्थान पर अधिकारों की ही लालसा बढ़ी। समाज का वातावरण अपवित्र होने लगा। आज हिन्दुस्तान में शत सहस्र जातियाँ है—जैसे वैश्य, शूद्र, कायस्थ, भूमिहार, इत्यादि तथा इसके अलावा हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चन, पारसी इत्यादि धर्मानुसार भेद भी माने जाते है। इनके बीच खान पान और विवाह सम्बन्ध निषेध हैं। जाति भेद के कारण ही भारत का नागरिक जीवन शतशः टुकड़ों में बँट गया। सङ्कीर्ण जातियता के कारण ही भारतीय नागरिकता का ठीक ठीक विकास नहीं हो पाया है।

जाति के कारण कुछ लाभ भी हुआ है। भारतीय संस्कृति, धर्म, विद्या, साहित्य और कला की उन्नति तथा विकास का श्रेय जाति प्रथा को ही है। स्वजातीय भावना ने ही विदेशियों के संहार से इसकी रक्षा की है।

कुटुम्ब, परिवार, कुल और जाति की सङ्कीर्णता की सीमा को पार करके राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाना ही सच्चे नागरिक का कर्त्तव्य है। राष्ट्र और समाज की उन्नति और परिवार, कुटुम्ब, कुल और जाति की उन्नति विपरीत नहीं है। इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सच्चे नागरिक को सतर्क तथा सावधान रहना चाहिये। अपने कुटुम्ब, परिवार, कुल तथा जाति का हित उसी सीमा तक करना चाहिये जिससे कि समाज के अन्य अङ्गों का अथवा अन्य समुदायों का अहित न हो। क्योंकि ये सब समाज के अङ्ग है। समाज के एक अङ्ग को दूसरे अङ्ग के हित की रक्षा करनी चाहिये। तभी समाज में समतुलन रहेगा। अर्थात् जाति का क्षेत्र जातिगत ही होना चाहिये, उसे राजनैतिक अथवा आर्थिक क्षेत्र में पदार्पण नहीं करना चाहिये। अतः जाति के अनुसार सरकारी पदों का वितरण, जाति के अनुसार शिक्षालयों में प्रवेश इत्यादि अक्षम्य है। सच्चे नागरिक को यही चाहिये कि समाज और राष्ट्र के अधिक लोकहित

को दृष्टिबिन्दु में रखते हुए कुटुम्ब, परिवार, कुल तथा जाति का हित करें।

राष्ट्र और राज्य :—राष्ट्र और राज्य भी अकृत्रिम अथवा स्वाभाविक समुदाय हैं। मनुष्य का संगठित, व्यवस्थित जीवन इन्हीं के द्वारा सम्भव है। जन्मतः ही मनुष्य इसका सदस्य बन जाता है। उसकी सदस्यता के लिये उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति और भौगोलिक एकता होने ही से राष्ट्र और राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति होती है। समान रहन सहन और समान विचारवाले व्यक्तियों का आकर्षण स्वाभाविक ही है। साथ रहने की इच्छा तथा समान अनुशासन की इच्छा राज्य और राष्ट्र के निर्माण का मूल कारण है। राष्ट्रीय प्रेम प्रशंसनीय भावना है। राष्ट्र और राज्य की उन्नति तथा रक्षा इसी भावना के बल पर होती है। परन्तु अच्छे नागरिक को संकीर्ण राष्ट्रीय प्रेम में फँस कर दूसरे राष्ट्रों का नाश करने या गिराने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। राष्ट्रीय प्रेम की भी सीमित मर्यादा है। स्व-राष्ट्र के हित के साथ ही साथ अन्य राष्ट्रों के हित की कामना ही अच्छे नागरिक का कर्त्तव्य है। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध अथवा संघर्ष से संसार की शान्ति भंग हो जायेगी और उससे प्रत्येक राष्ट्र का अहित होगा। क्योंकि संसार एक बृहत् समाज है। इस बृहत् समाज का कल्याण भी समाज के प्रत्येक अंग (राष्ट्र अथवा राज्य) के कल्याण पर ही निर्भर है। राष्ट्रीय प्रेम और अन्तर्राष्ट्रीय भावना विरोधात्मक नहीं है। वरन् प्रगाढ़ राष्ट्रीय प्रेम के साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण की भावना के होने ही से संसार के नागरिकों का कल्याण सम्भव है।

कृत्रिम तथा अस्वाभाविक समुदाय

कृत्रिम समुदाय मनुष्य कृत समुदाय होते हैं। अपने जीवन को पूर्ण तथा सफल बनाने के लिये अपनी भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए और किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिये मनुष्य इनकी स्थापना करता

है। जीवन रक्षा की प्रेरणा अथवा अस्तित्व को बनाये रखने की प्रेरणा ही अकृत्रिम समुदाय की उत्पत्ति का मूल कारण है। मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त हैं। इस लिये मनुष्य कृत समुदाय भी अनन्त है। यहाँ पर कुछ मुख्य-मुख्य समुदायों का ही विवरण किया जायेगा।

(१) धार्मिक समुदाय :—मनुष्य के जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। संसार के अधिकाँश व्यक्ति किसी न किसी धर्म के अनुयायी होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में कभी न कभी धर्म की आवश्यकता होती है। धार्मिक समुदाय मनुष्य के आन्तरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये बनाये जाते हैं। धर्म मनुष्य को नीति का मार्ग दिखलाता है और पवित्र जीवन की ओर आकृष्ट करता है। धार्मिक समुदाय धर्म का प्रचार धार्मिक शिक्षा और साहित्य का प्रचार तथा उपासना गृहों का निर्माण, उनकी रक्षा और अपने धर्म के अनुयायियों की रक्षा करता है। सच्चा धर्म मनुष्य को यथार्थ ज्ञान का बोध कराता है। प्रत्येक धर्म व्यक्ति को दया, प्रेम, सहिष्णुता, सेवा और बलिदान का पाठ पढ़ाता है। सच्ची नागरिकता के भी ये गुण हैं। समय समय पर दुनियाँ में ईश्वर ने भिन्न भिन्न रूप लेकर अवतार लिये हैं। क्राइस्ट, राम, कृष्ण, बुद्ध, मोहम्मद इत्यादि। इनकी मृत्यु के उपरान्त उनके अनुयायियों ने उस धर्म के प्रचार के लिये समुदाय बनाये। जब पुरातन धर्मों में बुराइयाँ आ जाती हैं तब समय समय पर धार्मिक आन्दोलन भी होते रहते हैं। जैसे हिन्दुस्तान में राम कृष्ण मिशन, ब्रह्म समाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी और आर्य समाज के आन्दोलनों ने वैदिक धर्म को पुनः जीवित किया। धार्मिक समुदायों ने दीन दुखियों की सेवा, समाज सुधार, चिकित्सालय इत्यादि खोल कर जनसेवा का बहुत अधिक कार्य किया है।

सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सामाजिक, राजनैतिक, और नैतिक जीवन पर इसका बहुत प्रभाव भी पड़ा है। इतिहास काल से धर्म को बचाने और बढ़ाने के लिये बहुत प्रयास

किये गये हैं। यहाँ तक कि धर्म के लिये बहुत युद्ध भी हुये हैं। धर्म के नाम पर बहुत अत्याचार भी हुये हैं और हो रहे हैं।

मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्येक समुदाय में प्रारंभ में पवित्र ध्येय और पवित्र वातावरण होता है। शनैः शनैः उनमें विकृति आने लगती है और सत्य-भावना अथवा आत्मा (Spirit) का लोप होने लगता है और उनमें आडंबर, अनीति, द्वेष इत्यादि का साम्राज्य फैल जाता है। धीरे धीरे ये समुदाय और खास करके धार्मिक समुदाय सङ्कीर्णता और असहिष्णुता से ओतप्रोत हो जाते हैं। ऐसे समय कुछ विद्वान् इनके सुधार का प्रयत्न करते हैं। अटल विश्वास ही धर्म की नींव है। अधिकांश मनुष्यों को तो ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता है। सन्तों के शब्दों पर तथा उनकी अनुभूति पर विश्वास करके ही मनुष्य ईश्वरोपासना में प्रवृत्त होता है। इसलिये धार्मिक समुदायों में असहिष्णुता, सङ्कीर्णता तथा अंधविश्वास का होना स्वाभाविक ही है।

सच्चा नागरिक और धर्म :—अच्छे नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता, धार्मिक सहिष्णुता, अन्य धर्मों का आदर तथा उनसे सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये। सच्चे धर्म का स्वरूप यही है, प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार उपासना करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। यही धार्मिक स्वतंत्रता है। आजकल धर्म व्यक्तिगत विषय माना गया है और राज्य-कार्यों से इसे पृथक् किया गया है। अब राज्य-कार्य केवल भौतिक विषयों से ही सीमित है और धार्मिक विषयों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। राज्य धार्मिक समुदायों की भी रक्षा करता है। यदि धार्मिक समुदाय किसी व्यक्ति अथवा राज्य का अहित करता हो तभी राज्य उसके कार्यों में हस्तक्षेप करता है क्योंकि लोकहित ही राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है।

(२) आर्थिक समुदाय :—आधुनिक आर्थिक जीवन जटिल होता जा रहा है। विज्ञान के अनेकों आविष्कारों के कारण अर्थ-सञ्चय करने के

साधन बढ़ गये हैं। अर्थ-सञ्चय की गति भी बढ़ गई है। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाई है और अपने सुख चैन के लिये प्रकृति के शक्तियों का उपभोग तथा उपयोग कर रहा है।

आज आर्थिक जीवन में सङ्घर्ष, होड़, ऊँच-नीच की भावना की वृद्धि हो रही है तथा सामाजिक जीवन में वर्गभेद की मात्रा अधिक होती जा रही है। जैसे धनाढ्य और दरिद्र, श्रमजीवी और श्रमिक, जमींदार और कृषक, मिलमालिक और मजदूर इत्यादि। इनके बीच सम्पत्ति के भेद के कारण भावना की चौड़ी खाई हो गई है। इस कल-कारखानों के युग में आर्थिक जीवन में विषमता आती जा रही है। आर्थिक समुदायों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है—पहला व्यवसाय के अनुसार सङ्गठित समुदाय -- जैसे अध्यापक, डाक्टर, वकील, मिलमालिक, मिल-मजदूर इत्यादि के समुदाय और दूसरा आर्थिक कार्य-सञ्चालन के लिये बनाये हुये समुदाय जैसे बंक, सहकारी समितियाँ, व्यापार-मंडल, कल-कारखाने इत्यादि। आर्थिक सङ्घर्ष के इस काल में व्यक्ति व्यवसायिक समुदायों द्वारा ही अपनी माँगों को समाज के सम्मुख रखता है, तथा इन्हीं के द्वारा अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा करता है। इसके कारण ही समान व्यवसाय वालों में सहयोग, एकता तथा उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। परन्तु इसके साथ ही आर्थिक समुदायों में अभाग्यवश सङ्कीर्णता स्वार्थपरता आ गई है। आर्थिक समुदाय के सदस्य सम्पूर्ण राष्ट्रहित को भूल कर अपने सङ्घ के हित का ही निरन्तर ध्यान रखते हैं। यह प्रवृत्ति राष्ट्र को आर्थिक दलों में विभाजित कर देगी। जिससे शोषण प्रवृत्ति तथा आर्थिक दलबन्दी को प्रोत्साहना मिलेगी। आर्थिक समुदाय के हित के साथ ही साथ लोकहित, राष्ट्रहित तथा समाजहित को नहीं भूलना चाहिये। राष्ट्रहित और आर्थिक समुदायों का हित विरोधात्मक नहीं है। दोनों ही का हित एक दूसरे के सहयोग पर निर्भर है।

अच्छे नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक हित की चिन्ता

करे, अपने आस-पास के आर्थिक सङ्घर्ष को शान्त करे तथा आर्थिक विषमता को घटाने का प्रयत्न करे।

(३) सांस्कृतिक समुदाय :—मनुष्य केवल अन्न वस्त्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता है। मनुष्य को ज्ञानप्राप्ति और ज्ञान के विकास की भी लालसा होती है। इसी को सम्भव बनाने के लिये मनुष्य अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है जैसे पाठशालायें, कालेज, वाचनालय इत्यादि। और साहित्य, कला, सङ्गीत, विज्ञान, इत्यादि विषयों की वृद्धि के लिये परिषदों की स्थापना भी करता है।

प्रत्येक देश की तथा प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रकार की संस्कृति होती है। जलवायु और प्राकृतिक बनावट के अनुसार संस्कृति में भिन्नता आती है। उच्चकोटि की संस्कृति की कसौटी नागरिकों का रहन सहन, शिक्षा, देश का धर्म, विचार, आचरण व्यवहार ही है। ये ही सुसंस्कृत जीवन के चिन्ह हैं। संस्कृति केवल ऊपरी आडम्बर नहीं है। वही देश उन्नत कहलायेगा, जहाँ के नागरिकों के विचार उच्चकोटि के होंगे, चरित्र बल में वृद्धि होगी, और नागरिक चरित्रवान होंगे, जहाँ अच्छी शिक्षा का प्रचार होगा और सामाजिक दशा उन्नत होगी। आर्थिक और राजनीतिक अवनति अथवा दासता संस्कृति के विकास में रोड़े डालती है।

सांस्कृतिक उन्नति, ज्ञानार्जन तथा ज्ञान का विकास ही हरेक समाज का उद्देश्य होता है। जिस समाज में ये बातें विद्यमान होंगी वह समाज सभ्य तथा सुसंस्कृत कहलायेगा। जिस समाज में ज्ञानार्जन की अभिलाषा अधिक मात्रा में होगी उस समाज की गणना उच्चकोटि के समाज में होगी।

शिक्षा ही मनुष्यों के विचारों का परिमार्जन करती है। शिक्षा ही मनुष्यों को भले-बुरे का ज्ञान कराती है और वही मनुष्यों को उच्च आदर्शों से परिचित कराती है। अच्छी शिक्षा द्वारा ही सच्ची नागरिकता का बीजारोपण हो सकता है। राष्ट्र और व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इनमें योग्यतानुसार भाग ले और ऐसे कार्यों को प्रोत्साहना दे। राष्ट्र और समाज

का कल्याण इसी में है। अर्थात् सांस्कृतिक समुदायों का निर्माण लोक-हितकारी और समाज हितकारी है। इसलिये सांस्कृतिक समुदायों में धर्म, लिंग, रङ्ग, जाति इत्यादि का भेदभाव नहीं होना चाहिये। प्रत्येक नागरिक को इसमें भाग लेने तथा प्रवेश करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। सांस्कृतिक समुदायों में सङ्कीर्णता आ जाने से समाज का वातावरण विषैला हो जायेगा। इसलिये प्रत्येक नागरिक का यह धर्म है कि वह सचेत और सावधान रहे।

(४) राजनीतिक समुदाय :—राज्य स्वाभाविक समुदाय है और उसके कार्य चलाने के लिये मनुष्यकृत समुदायों की आवश्यकता होती है। आर्थिक और राजनीतिक समुदायों का संगठन उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की देन है। प्रजातन्त्र राज्यों का कार्य राजनीतिक दलों के बिना हो ही नहीं सकता है। राजनीतिक दल समाज में आर्थिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जागृति करते हैं। इन दलों का मुख्य ध्येय यही है कि अपने दल की सरकार बना कर अपने विचारों और आदर्शों को कार्यान्वित करें।

प्रायः अनुभव यही है कि अधिकतर राजनीतिक दल समाज सेवा, स्वार्थ त्याग, लोकहित भूल कर संघर्ष शक्ति-लिप्सा और स्वार्थ परायणता में डूबे रहते हैं। संसार आज नैतिकपतन की परमसीमा पर पहुँच रहा है। और जब तक प्रत्येक नागरिक सच्चे धर्म और नीति का आचरण नहीं करेगा तब तक राजनैतिक वातावरण स्वच्छ और निर्मल नहीं हो सकेगा। यह समस्या संसार के समस्त नागरिकों के सम्मुख उपस्थित है। इसे जल्द से जल्द सुलझाना ही होगा। सरकार, राजनैतिक दल, धारा-सभा, नगरपालिका इत्यादि राजनैतिक समुदाय के उदाहरण हैं।

(५) लोकसेवा समुदाय :—कुछ लोगों में दया, लोकसेवा, दान, उदारता ये गुण स्वभावतः ही होते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति वही है जिसमें

मानवता हो, स्वार्थता का अंश कम हो। हरेक देश में दीन-दुखियों की कमी नहीं है। इन्हीं के सहायतार्थ जो सङ्घ बनते हैं वे लोकसेवा-सङ्घ कहलाते हैं। अनाथालय, विधवाश्रम, सेवासमिति इत्यादि तो स्थायी लोक-सेवा-सङ्घ हैं। भूकंप, बाढ़ से पीड़ितों की सेवा तथा सहायता के लिये अस्थायी रूप से भी संघ बनते हैं जिनका कार्य तत्कालिक होता है। ऐसे लोकसेवा कार्य में सरकार भी हाथ बँटाती है। परन्तु अधिकतर ये जनता की दानशीलता पर ही निर्भर रहते हैं। इनका वातावरण स्वच्छ, निर्मल, भेदभाव रहित होना चाहिये। तभी ये सच्ची लोक-सेवा कर सकेंगे।

६—**आमोद-प्रमोद के समुदाय**—आमोद-प्रमोद भी जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। परिश्रम के उपरान्त हरेक मनुष्य मनोरंजन चाहता है। नहीं तो मनुष्य का जीवन शुष्क हो जायेगा और दिमाग कुन्द हो जायेगा। मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मनोरञ्जनात्मक समुदायों की आवश्यकता होती है। क्लब, नाट्यशालायें, सिनेमा गृह, तैराकी क्लब इत्यादि का निर्माण मनोरञ्जन के ही लिए होता है।

मनोरञ्जन समुदाय में कुछ दोष भी पाये जाते हैं। इनमें कभी कभी धन का अपव्यय, दुराचार, अनैतिकव्यवहार इत्यादि भी पाया जाता है। अच्छे नागरिक को इन सब से दूर रहना चाहिए और इनका कार्य क्षेत्र केवल स्वच्छ पवित्र मनोरञ्जन ही होना चाहिए तथा इन समुदायों में नीतिपूर्ण आचरण पर ही जोर देना चाहिए जिससे कि समाज का वातावरण स्वच्छ और निर्मल बना रहे। मनोरञ्जन समुदायों का मुख्य ध्येय है, थकावट को दूर करना तथा वातावरण को बदल कर मनुष्य के चित्त को आह्लाद पहुँचाना जिससे वह दिन प्रतिदिन के कार्य दक्षतापूर्वक कर सके। साल पर साल बिना परिवर्तन के काम करने से जीवन शुष्क तथा नीरस हो जाता है। मनोरञ्जन समुदाय मनुष्य जीवन को नीरस एक रूपता से बचाता है।

अच्छे नागरिकों को इनके दुर्गुणों को नष्ट करके इनके गुणों को ग्रहण करना चाहिये। मनोरञ्जन समुदाय मनुष्य के लिए उपयोगी है।

७—सामाजिक सुधार समुदाय—मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है कि सामाजिक प्रथायें कालान्तर से विकृत हो जाती हैं। अपनी आत्मा को खो देती हैं। समाज दूषित और रूढ़ि ग्रस्त हो जाता है। ऐसा समाज नये विचारों को ग्रहण नहीं कर सकता है और नई परिस्थिति के अनुसार अपने को बदल नहीं सकता है। अर्थात् समाज का वतावरण सनातन अथवा दकियानूसी हो जाता है। ऐसे समाज का विकास और उन्नति सम्भव नहीं है। समाज के इन अत्याचारों को निःशेष करने के लिए, तथा दूषित और रूढ़ि ग्रस्त समाज में स्वस्थ वातावरण लाने के लिए, कुछ समाज सुधारक सामाजिक सुधार के लिए समुदाय बनाते हैं। जैसे जात-पात तोड़क सभा, विधवा विवाह बाल विवाह रोकने के संघ, दहेजप्रथा विरोधक समुदाय इत्यादि। समाज सुधार संघ लोगों में जागृति और चेतना पैदा करने का प्रयास करता है। भाषणों द्वारा, अखबारों द्वारा और कृतियों द्वारा समाज सुधारक अपने अपने विचारों का प्रचार करते हैं।

प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह समाज के स्तर को ऊँचा उठाये। तथा समाज की ऐसी कुप्रथाओं का निःशेष करे जो किसी-वर्ग-विशेष, जातिविशेष अथवा समाज के किसी अंग के पूर्ण विकास में बाधक हो।

सच्चा नागरिक और समाज सुधार—सच्चे नागरिक की ये बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। (१) इस सुधार से सामाजिक सम्बन्ध तथा सामाजिक संगठन पर दुष्परिणाम तो नहीं होगा? (२) सामाजिक रचना अव्यवस्थित तो नहीं होगी? (३) क्या इन सुधारों से समाज का वातावरण स्वच्छ होगा? (४) इन सुधारों से समाज का भविष्य उज्ज्वल होगा? (५) क्या इन सुधारों से समाज़ उन्नति के पथ पर अग्रसर

होगा ? (६) क्या इन सुधारों से व्यक्ति और समाज का विकास होगा ? और क्या ये सुधार समाज के लिए हितकर होंगे ?

सच्चे नागरिक को सम्पूर्ण समाजहित को दृष्टि में रखते हुए समाज सुधार करने चाहिये। अन्य देशों के प्रयोगों के परिणाम को देखते हुए, ऐतिहासिक दृष्टि कोण रखते हुए, तथा अपने देश की संस्कृति को समझते हुए समाज सुधार करने चाहिये।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय–लीग आफ नेशन्स और संयुक्त राष्ट्र संघ :—राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन जटिल हो गया है। आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर बौधिक तथा आर्थिक जीवन के लिये निर्भर है। विचारों और भावों के आदान-प्रदान के कारण राष्ट्र एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। प्रथम महासमर के बाद लीग आफ नेशन्स की स्थापना हुई और द्वितीय महासमर के बाद संयुक्तराष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। मनुष्य की आवश्यकता का घेरा जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा शान्ति सुव्यवस्था और सुखी जीवन के लिए अनेकानेक प्रयोग करता जाता है। इसलिए आधुनिक काल में कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों का संगठन हुआ है। प्रत्येक नागरिक को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ग्रहण करना आवश्यक है। नागरिक के कर्त्तव्य केवल राष्ट्र से ही सीमित नहीं वरन् उनकी सीमा अन्तर्राष्ट्रीय होती जा रही है। आज का मानव समाज "एक राज्य एक समाज" की दिशा में जा रहा है।

समुदाय और उपसमाज अथवा सम्प्रदाय :—समुदाय और उपसमाज अथवा सम्प्रदाय में भेद। (१) समुदाय संगठित होता है तथा उपसमाज असंगठित भी हो सकता है। (२) समुदाय क्षणिक होता है तथा अपने सदस्यों की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बनाया जाता है। उपसमाज में उन सब मनुष्यों का समावेश है, जो विभिन्न रुचि तथा विभिन्न ध्येयों से प्रेरित हैं। एक उपसमाज के अन्तर्गत अनेकानेक समुदाय होते हैं।

अध्याय ५

राज्य

राज्य समाज का उच्चतम, शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण समुदाय है, और यह एक स्वाभाविक समुदाय भी है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये इसकी सदस्यता अनिवार्य है। क्योंकि जन्म से ही मनुष्य किसी न किसी राज्य का सदस्य बन ही जाता है। मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर राज्य का अत्याधिक प्रभाव पड़ता है। राज्य ही एक मात्र समुदाय है जो अपने प्रत्येक सदस्य को आज्ञा पालन के लिये बाध्य कर सकता है। आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले को प्राणदण्ड भी दे सकता है। राज्य ही नागरिक को नागरिकता प्रदान करता है तथा उसे त्याग देने की आज्ञा दे सकता है। राज्य ही मनुष्य का संरक्षक, पोषक व हितचिन्तक है। राज्य प्रगतिशील विकासवान तथा परिवर्तनशील समुदाय है।

राजनीतिक शास्त्र के अनुसार जैसे देश, राष्ट्र, सरकार, संघराज्य के विभाग, तथा १६४७ के पूर्व भारत के देशी राज्य जयपुर, मैसूर, रामपुर इत्यादि इन शब्दों का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में किया जाता है। परन्तु बोलचाल की भाषा में ये सब राज्य के पर्यायवाची शब्द ही माने जाते हैं। अतः इनका गलत प्रयोग किया जाता है। कुछ राजनीतिक शास्त्र के विद्वान भी इन शब्दों को अदल-बदल कर प्रयोग करते हैं।

निश्चित भूमि भाग पर वास करनेवाला जनसमूह जो संगठित हो, राजनीतिक प्रभुत्व सम्पन्न हो, तथा जहाँ की अधिकांश जनता राजाज्ञा का पालन करती हो, वह राज्य है। इसके अतिरिक्त केवल विस्तृत भूमि भाग पर रहनेवाला जनसमूह, जिसके अन्तर्गत अनेकों समुदाय और संस्थायें हों,

परन्तु राजनीतिक एकता एवं राज्य प्रभुता विहीन हो, वह राज्य नहीं है। अर्थात् निश्चित भूमिभाग पर रहनेवाले जनसमूह में यदि राजनीतिक सँगठन का अभाव हो तो वह राज्य नहीं कहलायेगा।

राज्य की परिभाषा :—प्राचीन काल से लेकर आज तक विद्वानों ने राज्य की अनेकों परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। यहाँ पर कुछ परिभाषायें दे देना यथार्थ होगा।

(१) प्राचीन काल के महाविद्वान अरस्तू के अनुसार राज्य कुटुम्ब तथा ग्रामों का समूह है। नागरिक के लिये पूर्ण, सुखी स्वपर्याप्त तथा आदरणीय जीवन सम्भव करना ही इसका मुख्य ध्येय है। ग्रीस के नगर-राज्यों को ध्यान में रखते हुये यह व्याख्या की गई है। आधुनिक राज्यों के लिये यह व्याख्या अपूर्ण है। आधुनिक राज्यों में जिला, ग्राम, प्रान्त सभी भूमिभाग सम्मिलित हैं।

(२) राज्य लोकहितकारिणी संस्था है—यह व्याख्या भी अपूर्ण है।

(३) हालैण्ड ने राज्य की व्याख्या करते हुये कहा है "वह मनुष्य समुदाय जो निश्चित भूमिभाग पर रहता हो, तथा जहाँ का बहुसंख्यक दल अपनी शक्ति द्वारा विरोधी दल को तथा समस्त जनसमूह को अपना निर्णय स्वीकार करने के लिये बाध्य करता हो।" इस व्याख्या में राज्य स्वतन्त्रता का उल्लेख नहीं है। इसलिये यह व्याख्या भी अपूर्ण ही है।

(४) राज्य निश्चित भूमिभाग पर रहने वाला संगठित समाज है, जो नियमों का पालन करता है तथा राजाज्ञा को स्वीकार करता है।

(५) राज्य वह सर्वोच्च शक्ति है जो निश्चित भूमिभाग पर वास करने वाले प्रत्येक प्राणी को राजाज्ञा पालन करने के लिये बाध्य करती है, तथा उस भूमि भाग के अन्तर्गत सब संस्थाओं, समुदायों, समाजों, व्यक्तियों तथा समस्त चल अचल सम्पत्ति पर पूर्णरूपेण राज्यसत्ता को प्रस्थापित करती हो।

(६) प्रोफेसर गार्नर की राज्य की परिभाषा सर्वोत्तम है, क्योंकि

अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा यह श्रेष्ठ तथा पूर्ण है। "राज्य मनुष्यों के उस बहुसंख्यक संगठन को कहते हैं, जो एक निश्चित भूमिभाग में रहता हो, जिसकी सुसंगठित सरकार हो, जिसका राज्य के अन्दर पूर्ण आधिपत्य हो, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र हो तथा जिसकी आज्ञा का पालन अधिकांश जनता स्वभावतः ही करती हो।"

उपरोक्त परिभाषा से ज्ञात होता है कि राज्य के लिये निम्नलिखित चार अंग आवश्यक है—

(१) जनसमूह अथवा आबादी।
(२) निश्चित भूमिभाग अथवा प्रदेश।
(३) संगठन अथवा सरकार।
(४) राज्य-प्रभुता, राज्य-सत्ता अथवा स्वतन्त्रता।

उक्त चारों अंगों के बिना राज्य, राज्य ही नहीं हो सकता। इन चारों अंगों के अतिरिक्त राज्य में रहने वाले व्यक्तियों में अधिक से अधिक रूप में सामूहिक जीवन यापन की इच्छा तथा एकता की भावना का होना भी अत्यावश्यक है।

अब राज्य के आवश्यक तत्वों पर विचार किया जायेगा।

(i) **जनसंख्या :**—मनुष्यों की संगठित रूप से रहने की प्रबल इच्छा ही राज्य के उत्पत्ति का कारण है। मानव समाज के बिना राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिये, इसका कोई परिमाण अथवा मापदण्ड नहीं है। राज्य के लिये कितनी जनसंख्या होनी चाहिये यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। आमतौर से इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि राज्य का संगठन ४०० या ५०० मनुष्यों की जनसंख्या से नहीं हो सकता है, तथा राज्य का कार्य अथवा राज्य का संगठन अरबों मनुष्य के संगठन से व्यवस्थित रूप से नहीं हो सकता है।

आधुनिक राज्य और जनसंख्या :— (१) संसार में भारत और चीन जैसे राज्य मौजूद हैं जिनकी जनसंख्या लगभग ३६ करोड़ और ४० करोड़ है। इनके अतिरिक्त पनामा राज्य की संख्या ५ लाख की है।

(२) संसार के कुछ राज्यों की जनसंख्या प्रधानतः कृषि पर ही निर्भर है और कुछ व्यवसाय पर।

(३) प्रत्येक राज्य की सभ्यता, उन्नति, संस्कृति एक विशिष्ट प्रकार की है।

(४) साधारण तया एक राज्य के अन्दर एक ही जाति का होना आवश्यक नहीं समझा जाता है। परन्तु व्यवहार में श्वेत, काली तथा पीली जातियों में भेद भाव किया जाता है। श्वेतजाति काली और पीली जातियों को अपने राज्यों में सुगमता से प्रवेश करने में तथा उन्हें नागरिक के अधिकार प्रदान करने में कठिन प्रतिबन्ध लगाती है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में यह समस्या प्रस्तुत है।

जनसंख्या पर स्फुट विचार :— इस विवेचना से यही निष्कर्ष निकलता है कि :—

(१) जनसंख्या की सीमा को निश्चित नहीं किया जा सकता है परन्तु मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि जनसंख्या इतनी परिमित न हो कि शासितों और शासकों की संख्या में अन्तर हो तथा जनसंख्या इतनी अधिक हो कि शासन अव्यवस्थित व असम्भव हो जाय।

(२) जनसंख्या इतनी होनी चाहिये कि आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से आत्म निर्भर और स्वरक्षा में समर्थ हो।

संसार के छोटे राज्यों पर दृष्टिक्षेप करने से मालूम होता है कि छोटे राज्य सदैव खतरे में रहते हैं। उनके लिए सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर होना कठिन हो जाता है।

(३) इस युग में राज्य के अन्तर्गत जनसंख्या का संगठन जाति और धर्म के आधार पर करना अन्यायपूर्ण तथा अहितकर है। युगों के आदान-प्रदान के कारण जातियों में मिश्रण हो गया है। एक राज्य के अन्तर्गत एक से अधिक जातियाँ पाई जाती हैं, और एक राज्य के अन्तर्गत एक से अधिक धर्मों को माननेवाले पाये जाते हैं। जैसे स्विटजरलैण्ड और भारत।

(४) इस युग में राष्ट्रीय दृष्टिकोण को ही महत्व देते हुये अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(II) भूमिभाग :- राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व भूमि है। राज्य भूमिभाग से सीमित समुदाय है। अर्थात् राज्य का आधिपत्य निश्चित भूमिभाग से सीमित है। यह समुदाय निश्चित भूमिभाग के अन्तर्गत वायुमण्डल, खनिज पदार्थ, और सीमित जल सीमा पर भी अपना प्रभुत्व कायम रखता है, और निश्चित भूमिभाग पर स्थित सामाजिक जीवन को संगठित रूप देता है। भ्रमणशील जन समूह को राज्य की उपाधि नहीं दी जा सकती है। १९४७ के पूर्व यहूदी जाति एक संगठित जनसमूह था राज्य नहीं। पलस्तीन के विभाजन से यहूदी जाति को वासस्थान प्राप्त हो गया है। यहूदी जाति अब केवल सुसंगठित जनसमूह नहीं है, परन्तु अब इस जाति का निश्चित वासस्थान हो जाने से यहूदी राज्य की स्थापना हो चुकी है। इस प्रकार हरेक जाति अथवा सुसङ्गठित जनसमूह को निश्चित वास स्थान की आवश्यकता है।

संसार में बहुत प्रकार के राज्य पाये जाते हैं। कुछ राज्यों की सीमा विस्तृत होती है जैसे रशिया की तथा कुछ राज्यों का क्षेत्र फल कम होता है जैस लक्समबर्ग और मोनोको की। किसी राज्य की भूमि उपजाऊ होती है और किसी की मरुभूमि। कुछ राज्यों में समुद्री किनारा होता है और

कुछ में नहीं। इस प्रकार कुछ राज्यों की भौगोलिक स्थिति अच्छी होती है और कुछ की असन्तोष जनक होती है।

आधुनिक स्थिति को देखते हुए मोटे तौर से इतना ही कहा जा सकता है कि (१) जिन राज्यों के पास पर्याप्त कोयला, लोहा, पेट्रोल, हो, तथा जिन राज्यों की भूमि धनधान्य पूर्ण हो वह राज्य शक्तिशाली तथा प्रभावशाली हो सकते हैं। (२) जिन राज्यों का कटीला किनारा हो जिसके द्वारा सामुद्रिक व्यापार सुगमता से हो सके तथा जहाँ पर जहाजी बेड़ा ठहराने के लिये अच्छे बन्दरगाह हों, ऐसे राज्य प्रभावशाली और शक्तिशाली हो सकते हैं। (३) राज्य की सुरक्षा तथा दृढ़ता के लिये राज्य की स्वाभाविक सीमा पर पहाड़, नदी, अथवा समुद्र होना हितकर होता है।

जनसंख्या तथा भूमिभाग का सम्बन्ध :—आम तौर से इतना ही कहा जा सकता है कि जनसंख्या तथा भूमिभाग का अनुपात ऐसा हो कि निश्चित भूमिभाग जनसंख्या का भरण पोषण यथायोग्य कर सके। जनसंख्या इतनी हो कि निश्चित भूमिभाग पर अच्छी तरह रह सकें और अपनी प्रगति कर सके।

(III) सरकार अथवा राज्य संगठन :—सरकार वह मशीन है जो राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करती है। राज्य और राजनीतिक संगठन का अटूट सम्बन्ध है। राजनीतिक संगठन के बिना राज्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। राज्य की शक्ति सरकार में केन्द्रीभूत है। अर्थात् सरकार राज्य का प्राण है। जनता के कल्याण के लिये राज्य कुछ राजकर्मचारियों द्वारा जनता पर शासन करता है। इसी शासक वर्ग को सरकार कहते हैं। राज्य के निवासियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला, राजा, मन्त्री, पदाधिकारी, पुलीस, फौज, म्यूनिसिपल बोर्ड तथा राज्य के अन्य कर्मचारी जिनकी गणना शासक वर्ग में की जाती है। द्वितीय, राज्य का सम्पूर्ण जनसमूह जो शासित

राज्य का उपतत्व

(५) **प्रजा की भावना** :—राज्य सत्ता का सर्वोच्च गुण है, आज्ञा पालन। राज्य को स्थायी और अटूट रखने के लिये राजाज्ञा को स्वीकार करना एक महत्त्वपूर्ण गुण है। इसके लिये सरकार और प्रजा में अधिक से अधिक मात्रा में सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। अतः सरकार को प्रजा को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करना चाहिये और सरकार के प्रत्येक कार्य में प्रजा को निःस्वार्थ तथा पवित्र भावना से सहयोग देना चाहिये। प्रजातन्त्र राज्य की बुनियाद इसी ध्येय पर दृढ़ हो सकती है। हिटलर अथवा नेपोलियन के तानाशाही राज्य का शीघ्र अन्त होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। क्योंकि ऐसे शासन प्रबन्ध में राज्य का मुख्य ध्येय प्रजारञ्जन नहीं होता है, और राज्य प्रबन्ध में प्रजा का कोई हाथ नहीं होता है। भारत विभाजन की योजना की सफलता का मूल एवं श्रेष्ठ कारण था, मुसलमान जनता की बुलन्द आवाज। जनता के अविच्छिन्न तथा सतत् प्रयत्न के कारण ही प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में कई छोटे छोटे राज्यों की स्थापना हुई। जैसे पोलैंड, आस्ट्रिया हँगरी, जुगोस्लवाकिया इत्यादि, अर्थात् राज्य और राज्य-सत्ता का अस्तित्व जनता की राज्य में रहने की भावना व इच्छा पर ही निर्भर है। अतः प्रजा के सुख और सन्तोष ही में राज्य का पूर्ण-विकास, समृद्धि वरन् अस्तित्व सम्भव है।

क्या ये राज्य हैं ?

(१) संसार में अनेकों स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। उनमें महत्त्व-पूर्ण तथा शक्तिशाली राज्य फ्रान्स, सोवियट रशिया, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, चीन, भारत और ब्रिटेन हैं। संसार के सभी स्वतन्त्र राज्यों में राज्य के चारों मुख्य तत्त्व मौजूद हैं। अतः वे राज्य कहलाते हैं।

(२) यहूदी :—१९४७ तक यहूदी जाति एक उच्च प्रकार का संगठित जन-समूह था। परन्तु १९४७ तक इनके पास निश्चित भूमि-भाग

अथवा वास-स्थान नहीं था। परन्तु अब पलस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना हो गई है। निश्चित भूमि भाग की प्राप्ति से यहूदी जाति यहूदी राज्य में परिणित हो गई है।

(३) कनाडा आस्ट्रेलिया इत्यादि ब्रिटिश उपनिवेश हैं। ये ब्रिटिश साम्राज्य के अँग हैं। इनके पास जनसंख्या, निश्चित भूमि भाग और सरकार है। ये राज्य के अन्दरूनी मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय नीति के लिये ब्रिटिश साम्राज्य से सहयोग और परामर्श करते हैं। अर्थात् ब्रिटिश उपनिवेशों को पूर्ण राज्य-प्रभुता प्राप्त नहीं है। वे केवल अर्ध-राज्य-प्रभुता का उपभोग करते हैं।

(४) १९४७ के पूर्व जयपुर उदयपुर इत्यादि राज्य कहलाते थे। परन्तु ये ब्रिटिश राजसत्ता के मातहत थे। प्रत्येक कार्य के लिये ये ब्रिटिश सरकार के इशारे पर चलते थे।

(५) १९४७ से पहले हिन्दुस्तान पराधीन राष्ट्र था और ब्रिटिश सरकार के मातहत था। अब भी इसका ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध जारी है। परन्तु भारत अब पूर्ण स्वतन्त्र राज्य है।

(६) संघराज्य के विभिन्न अंग तथा स्थानीय स्वराज सँस्थाओं को कुछ अँश तक स्वाधीनता प्राप्त है। ये राष्ट्रीय हितकारिणी कार्यों के लिये केन्द्रीय सरकार के मातहत हैं। ये परिमित रूप में राजप्रभुता का उपभोग करते हैं।

राज्य तथा कुछ अन्य शब्दों में अन्तर

(१) **राज्य तथा देश** :—बोलचाल की भाषा में राज्य तथा देश का अर्थ एक ही समझा जाता है। साधारणतया देश और राज्य की सीमा तद्रूप होती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार देश, राज्य में संगठित मनुष्यों का निवास-स्थान है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है। स्वाभाविक सीमा द्वारा आवर्तित आबद्ध भूमिभाग भी देश कहलाता है। देश एक भौगोलिक शब्द है। इसमें राजनीतिक संगठन का आभास नहीं मिलता है। इस

भूमिभाग की सीमा तथा राज्य-सत्ता की सीमा तद्रूप होना आवश्यक नहीं है। एक देश की सीमा के अन्दर साधारणतया एक ही राज्य होता है। परन्तु एक देश के अन्दर अनेकों राज्य भी हो सकते हैं, और एक राज्य का विस्तार भी कई देशों में हो सकता। भारत भूमि पर ही १८ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में कई राज्य थे।

(२) **राज्य तथा राष्ट्र**:—इन दोनों शब्दों का भी प्रयोग एक दूसरे के अर्थ में किया जाता है। राज्य शब्द से राजनीतिक संगठन का बोध होता है। राष्ट्र शब्द मनुष्यों की मानसिक जागृति का परिचय देता है। एक भाषा, एक धर्म, एक जाति, एक संस्कृति से आबद्ध होकर मनुष्यों में एक साथ रहने की भावना का उदय होता है। इसी भावना से परिपूरित होकर मनुष्य राष्ट्र का संगठन करता है। इन्हीं कारणों से उनमें राष्ट्रीय चेतना अथवा राष्ट्र-प्रेम जाग उठता है। राष्ट्र-संगठन का मूल आधार है राष्ट्रीयता की चेतना। तथा राज्य का मूल आधार है आज्ञा-पालन। राज्य भौगोलिक सीमा से सीमित है। परन्तु एक राष्ट्र के राष्ट्रीय दूसरे राष्ट्र में जाने पर भी अपनी स्वाभाविक राष्ट्रीयता नहीं खोते हैं। राष्ट्र की स्थापना मनुष्य की सूक्ष्म-भावना के बल पर होती है। और राज्य का संगठन राजनीतिक व्यवस्था के लिये किया जाता है।

(३) **राज्य और सरकार**:—साधारणतः लोग राज्य और सरकार को पर्यायवाची शब्द ही मानते हैं। परन्तु दोनों शब्दों में काफी अन्तर है। सरकार राज्य का प्राण है। अतः सरकार राज्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। राज्य के चार तत्वों में से सरकार एक तत्त्व है। सरकार में केवल शासक-वर्ग शामिल है। राज्य शब्द में शासक वर्ग तथा समस्त-जनसमूह शामिल है, जो कि सरकार द्वारा शासित है। राज्य एक अप्रत्यक्ष संस्था है। किन्तु सरकार प्रत्यक्ष है। उसके कार्यों का प्रभावे प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। सरकार को देख सकते हैं, उसके प्रभाव को समझ

सकते हैं। राज्य स्थायी संस्था है। इसका आदि अन्त का पता नहीं है। यह एक विकास-मान संस्था है।, सरकार का रूप अस्थायी तथा परिवर्तनशील है। समय और देश के अनुसार यह बदलती रहती है। राज्य के संकेत पर ही सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग करती है। राज्य पूर्ण स्वतन्त्र है। अर्थात् उसके पास राज्यसत्ता है। सरकार स्वतन्त्र नहीं है। इसे जनता के इशारे पर चलना पड़ता है। राज्य एक स्वाभाविक संस्था है, किन्तु मनुष्य सरकार का संगटन अपनी कल्पना से तथा बहुत विचार के बाद करता है। अर्थात् सरकार एक कृत्रिम संस्था है और राज्य अकृत्रिम संस्था है।

(४ **राज्य और समाज में समानता** :—दोनों ही मनुष्यों के समुदाय हैं। दोनों ही का मुख्य ध्येय मनुष्यों का कल्याण है। दोनों ही समुदायों का आदि और अन्त जानना कठिन है। क्योंकि दोनों ही का जन्म मनुष्य-प्रकृति के कारण ही हुआ है। ये दोनों समुदाय अकृत्रिम समुदाय हैं। दोनों ही समुदाय विकासमान समुदाय है।

राज्य और समाज में भिन्नता :—समाज मनुष्य के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित है। परन्तु राज्य केवल राजनीतिक पहलू से सम्बन्धित है। अथवा राज्य समाज का सुसंगठित रूप है। राज्य सरकार द्वारा समाज में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापन करता है। समाज निश्चित भूमि-भाग से सम्बन्धित नहीं है। समाज मनुष्य मनुष्य का सम्बन्ध स्थिर करता है। राज्य निश्चित भूमि-भाग से सम्बन्धित है। समाज के लिये भौगोलिक बन्धन की आवश्यकता नहीं है। राज्य पुलिस और सेना द्वारा राज्य-सत्ता को कायम रखता है। राज्य राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवाले को प्राण-दण्ड तक दे सकता है। समाज की प्रथाओं और रूढ़ियों को मानना या न मानना व्यक्ति पर निर्भर है अर्थात् समाज के नियमों का पालन करना व न करना व्यक्ति की सद्इच्छा पर तथा सबल लोकमत पर ही निर्भर है।

राज्य की सर्वोच्च शक्ति राज-दण्ड है, समाज की सर्वोच्च शक्ति लोकमत एवं नैतिक बल है। अनेक समुदायों का सम्मिलित रूप समाज है। राज्य, समाज का महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त प्रभावशाली अंग है। एक राज्य के अन्दर कई समाज हो सकते हैं, परन्तु एक निश्चित भूमि भाग के अन्दर एक ही राज्य हो सकता है। मनुष्य एक राज्य की नागरिकता त्याग कर दूसरे राज्य का नागरिक बन सकता है, परन्तु मनुष्य अपना समाज नहीं छोड़ सकता है। मनुष्य जहाँ भी जायेगा, जहाँ पर भी रहेगा, उसका समाज उसके साथ ही जायेगा।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आधुनिक राज्यों का दायरा बढ़ता जा रहा है। आधुनिक राज्य मनुष्य के प्रत्येक पहलू पर तथा समस्त मनुष्य जीवन पर प्रभाव डाल रहा है। पुरातनकाल में राज्यों के अधिकार का दायरा सीमित था। सामाजिक उन्नति के लिये राज्य परमावश्यक है। जिस राज्य में अच्छी सुव्यवस्थित सरकार होगी उस राज्य का समाज उन्नत तथा प्रगतिशील होगा। तद्रूप समाज की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव राज्य पर पड़ता है। इस प्रकार राज्य और समाज भिन्न होते हुये भी एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। अतः इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतएव समाज अपने समस्त ध्येयों की पूर्ति सुसंगठित राज्य-प्रबन्ध द्वारा ही कर सकता है।

राज्य तथा समुदाय अथवा संघ

(१) राज्य की सदस्यता अनिवार्य है। प्रत्येक नागरिक को किसी न किसी राज्य की सदस्यता ग्रहण करना आवश्यक है। व्यक्ति के लिये समुदाय की सदस्यता ऐच्छिक है। कोई भी समुदाय व्यक्ति को सदस्य होने के लिये बाध्य नहीं कर सकता है।

(२) राज्य की सदस्यता स्वाभाविक है तथा समुदाय की कृत्रिम।

(३) राज्य का प्रभुत्व अथवा अधिकार निश्चित भूमि-भाग से

सीमित है। एक निश्चित भौगोलिक सीमा में एक ही राज्य हो सकता है। समुदायों की सीमा स्थानीय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भी होती है। एक भौगोलिक सीमा के अन्दर अनेकों समुदाय हो सकते हैं। मनुष्यों का प्रभाव तथा कार्य-क्षेत्र एक से अधिक राज्यों में भी हो सकता है।

(४) एक व्यक्ति एक समय में एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है। परन्तु एक व्यक्ति कई समुदायों का सदस्य एक ही साथ हो सकता है। व्यक्ति एक राज्य की नागरिकता त्याग कर दूसरे राज्य का नागरिक हो सकता है। परन्तु यह सुलभ नहीं है। समुदायों की सदस्यता प्राप्त करना अन्य राज्य की सदस्य प्राप्त करने से सुलभ है।

(५) राज्य मनुष्य जीवन के हर पहलू पर दृष्टि डालता है। अर्थात् राज्य का मुख्य ध्येय है मनुष्य की सर्वाङ्गिण उन्नति। समुदायों का ध्येय क्षणिक एवं सीमित होता है।

(६) राज्य एक स्थायी समुदाय है, इसका अस्तित्व चिरकाल से है, तथा चिरकाल तक रहेगा। यह समुदाय स्थगित नहीं किया जा सकता है। समुदाय अस्थायी संस्था है, कार्य-पूर्ति के बाद इसे स्थगित किया जा सकता है।

(७ ` राज्य की शक्ति असीमित है। इसका प्रभुत्व एवं आधिपत्य विस्तृत तथा गहरा है। राज्य राजाज्ञा का उल्लँघन करनेवाले को प्राण-दण्ड भी दे सकता है। समुदायों का बल लोकमत, नैतिक बल तथा सदस्यों की सद्इच्छा पर ही निर्भर है। समुदायों में प्रभु शक्ति नहीं है। प्रत्येक समुदाय का ध्येय तथा अधिकार का दायरा राज्य नियमों से सीमित है।

(८) राज्य का संगठन जटिल होता है परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से समुदायों का संगठन सरल होता है।

(९) राज्य कर अनिवार्य है राज्य बल-प्रयोग द्वारा इसे एकत्रित कर सकता है। समुदाय भी अपना कार्य चलाने के लिये शुल्क लेते हैं। परन्तु इसको एकत्रित करने के लिये बल-प्रयोग नहीं कर सकते हैं।

मनुष्य की मानसिक चेतना के कारण ही संस्था, राज्य, समुदाय, समाज तथा प्रथाओं की उत्पत्ति हुई है। इनसे उच्चकोटि का लाभ और इनकी पूर्ण सफलता मनुष्य के उच्चतम सहवास और सहयोग पर ही निर्भर है। मनुष्य-जीवन को सफल, उच्च तथा उन्नत बनाने के लिए ही इनकी उत्पत्ति हुई है। इनके अस्तित्व का मुख्य कारण और इनके संगठन का मुख्य कारण है मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा, मनुष्य का परिश्रम और उसके विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति। किसी भी संगठन की सफलता उसके सदस्यों के स्वार्थत्याग, सहानुभूति, नेकनियत तथा सहयोग पर ही सर्वथा निर्भर है। जिन संस्थाओं में इस प्रकार प्रेम और सद्इच्छा का वातावरण अधिक से अधिक मात्रा में होगा, उनसंस्थाओं की उन्नति शीघ्रातिशीघ्र होगी और वे संस्थायें उन्नति और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होंगी।

द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, संघर्ष, स्वार्थ मदान्धता इत्यादि प्रवृत्तियाँ मनुष्य का नैतिक पतन कराती हैं, और साथ ही साथ उसे अवनति के मार्ग पर ले जाती हैं। यही भावनायें फूट और संघर्ष का बीजारोपण करती हैं। यही विष कुटुम्ब, संस्था, समुदाय, समाज और राज्य और प्रथाओं के नस नस में प्रविष्ट होकर उसका जीवन-शोषण करता है, तथा उन्हें निस्तेज, निर्बल और असफल बनाने में कारणीभूत होता है।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रत्येक मनुष्य का यह दायित्व है कि नागरिक के नाते, सदस्य के नाते तथा मनुष्य के नाते वह अपने जीवन को सफल तथा लाभप्रद बनाये। नीति के मार्ग पर अग्रसर होकर समाज, राज्य, समुदाय, प्रथा तथा संस्थाओं को सुसंगठित बनावे, उनकी कुरीति, कुप्रथा और संकीर्णता को हटाने और घटाने का प्रयत्न करे।

कुटुम्ब, संस्था, प्रथा, राज्य, समाज, समुदाय पवित्र तथा विशुद्ध वातावरण में ही पनप सकते हैं। अतः मनुष्य का सदस्य के नाते, तथा नागरिक के नाते इनसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मनुष्य द्वारा संगठित समस्त समुदायों में राज्य महत्त्वपूर्ण एवं लाभदा-

यक संस्था है। परन्तु राज्य-संगठन के विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न विचार हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि राज्य मनुष्य के लिए अत्यावश्यक है। किन्तु अराजकवादी राज्य को अनावश्यक ही नहीं परन्तु घातक भी समझते हैं। अराजकवादी विश्वास करते हैं कि राज्य मनुष्य के पूर्ण विकास में रोड़े डालता है, क्योंकि राज्य का मुख्य अस्त्र है बल-प्रयोग तथा दण्ड-विधान। बल-प्रयोग से ही मनुष्य की प्रेरणा-शक्ति, स्वाभिमान, उत्साह, स्वाधीन विचार शक्ति इत्यादि का लोप हो जाता है। इसके अतिरिक्त दबाव के कारण उनमें विरोधी शक्ति अथवा असामाजिक प्रवृत्ति का उदय होता है। ऐसी दुर्भावनायें अकल्याणकारी साबित हुई हैं। भय के साम्राज्य में रहकर व्यक्ति की आत्मनिर्भरता जाती रहती है। मनुष्य राज्य के "हाँ में हाँ" मिलानेवाला निर्जीव यन्त्र मात्र बन जाता है। राज्य का कार्यभार इने गिने स्वल्प कर्मचारियों पर ही पड़ जाता है। ये कर्मचारी मदान्ध होकर स्वार्थी तथा अत्याचारी हो जाते हैं, और प्रजा के सुख, उन्नति के घातक बन बैठते हैं।

उपरोक्त विचार-धारा कुछ हद तक यथार्थ हो सकती है। परन्तु सूक्ष्म रूप से देखने से मालूम देता है कि अराजकवादियों के विचारों में अतिशयोक्ति है।

राज्य मनुष्य के सभ्य जीवन-यापन के लिए अत्यावश्यक है। राज्य के कानून और बल के बिना तो "जिसकी लाठी उसकी भैंस" अथवा समाज में अव्यवस्थित, असंगठित, असभ्य जङ्गली जीवन हो जायेगा। मनुष्य समाज-हित को भूलकर प्राकृतिक नियमानुसार स्वहित तथा स्वेच्छा की पूर्ति के लिए प्रवृत्त हो जायगा।

राज्य की आवश्यकता

(१) शान्ति सुव्यवस्था, अधिकार तथा कर्त्तव्यों का उपभोगः— सभ्य जीवन अर्थात् संगठित जीवन में ही मनुष्य कर्त्तव्य तथा अधिकारों का

उपभोग कर सकता है। राज्य ही शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करता है। राज्य-संगठन के बिना मनुष्य का जीवन पशुवत् हो जायेगा, क्योंकि राज्य के बिना मनुष्य को सदैव अपने जान और माल की सुरक्षा की चिंता लगी रहेगी। राज्य के बिना बली निर्बलों पर अत्याचार करेंगे। राज्य ही अपने नियम कानून द्वारा तथा अपने राज्य-दण्ड द्वारा खून खराबी चोरी, अत्याचार इत्यादि का अन्त करता है। राज्य ही निर्बलों की व निस्सहाय व्यक्तियों की रक्षा करता है। राज्य ही पूँजीपतियों के अत्याचार से मजदूरों की रक्षा करता है। अर्थात् सभ्य जीवन को बनाये रखने के लिए राज्य परमावश्यक है। राज्य ही अधिकार और कर्त्तव्यों की सीमा को निश्चित करता है। शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करके राज्य सब को अपने अधिकारों का सदुपयोग करने का अवसर देता है। एक अकेला व्यक्ति अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यों की रक्षा नहीं कर सकता है। उनका सदुपयोग तथा प्रयोग भी नहीं कर सकता है। राज्य बल-प्रयोग द्वारा सब सम्बन्धों को स्थिर करता है और उन्हें यथा-स्थान रखता है।

अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त है कि राज्य एक आवश्यक समुदाय है। यह जन-समुदाय के कल्याण के लिए कानून बनाता है। राज्य निष्पक्ष सरपञ्च है। अपने राज्य-दण्ड द्वारा प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय, संस्था के अधिकार और कर्त्तव्यों को सीमित करता है। अर्थात् राज्य के अन्तर्गत प्रत्येक सामाजिक सम्बन्ध को महत्त्व के अनुसार यथायोग्य अवसर देता है, प्रत्येक सम्बन्ध का ठीक ठीक स्थान निर्धारित करता है।

(२) बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा :—पुलिस, सेना, जहाजी बेड़ा तथा हवाई बेड़ा इत्यादि का आयोजन करके राज्य अन्य राष्ट्रों के आक्रमण से नागरिकों की रक्षा करता है। अर्थात् स्वाधीनता कायम रखने के लिये राज्य परमावश्यक है। संस्कृति और सभ्यता के विरोध के कारण, आर्थिक आवश्यकता के कारण, साम्राज्य की लालसा के कारण, राज्य राज्य में सँघर्ष दिखलाई देता है। राजनैतिक संगठन द्वारा ही एक

समूह दूसरे समूह से अपनी रक्षा करता है। सभ्य जीवन के लिये शान्ति, न्याय और सुरक्षा आवश्यक है। इसकी प्राप्ति राज्य द्वारा ही हो सकती है।

(३) मानसिक, बौद्धिक जीवन तथा विज्ञान, कला इत्यादि का विकास :—शान्त, सुव्यवास्थित, सुरक्षित वातावरण में ही मनुष्य खोज, आविष्कार, साहित्य, सँगीत, कला इत्यादि की चर्चा तथा विकास कर सकता है। यदि मनुष्य सदैव अपनी रक्षा की चिन्ता में लगा रहेगा तो वह अपना किसी प्रकार से विकास नहीं कर सकता है और न तो वह अपने विशिष्ट गुणों की वृद्धि अथवा विकास कर सकता है। राज्य उपरोक्त वातावरण की सृष्टि करके मनुष्य के बौधिक, मानसिक, आत्मिक, कलात्मक उन्नति तथा विकास को सम्भव बनाता है। इतना ही नहीं किन्तु विद्यालय, विश्वविद्यालय, रसायन शालायें, कला-भवन इत्यादि अनेकों आयोजनों की स्थापना करके राज्य नागरिकों को इनके प्रति प्रोत्साहित करता है। अतएव नागरिक अपनी अभिरुचि के अनुसार इन विविध योजनाओं का उपभोग करते हैं।

(४) आर्थिक विकास :—प्रत्येक नागरिक के लिये धनोपार्जन आवश्यक है। इसकी व्यवस्था मनुष्य व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकता है। इसके लिये उसे आर्थिक संगठन, और अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। रेल, व्यापार व्यवसाय, उद्योग-धन्धे कल कारखाने नहर, बंक इत्यादि अनेकानेक साधनों द्वारा राज्य नागरिकों के लिये धन उपार्जन के मार्ग सुगम बनाता है। इन सब की व्यवस्था संगठन, आयोजन और नियन्त्रण राज्य द्वारा ही सम्भव है। अतः इन सब साधनों के लिये व्यक्ति राज्य पर पूर्णतया अवलम्बित है।

(५) मनोरञ्जन के साधन :—अजायब घर, पुस्तकालय, पार्क, प्रदर्शनी इत्यादि द्वारा भी राज्य मनुष्य की विविध आवश्यकओं की पूर्ति करता है।

(६) **सभ्य व सुसंस्कृत जीवनः**—राज्य की सबसे बड़ी देन है सभ्य तथा सुसंस्कृत जीवन। मनुष्य में काम क्रोध लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादि भावनायें विद्यमान हैं। ये भावनायें संगठित सामाजिक हित अथवा संगठित सामाजिक जीवन के लिये घातक हैं। परन्तु मनुष्य का वास्तविक प्रकृत रूप यही है। क्योंकि मनुष्य की कुछ मूल प्रवृत्तियों के अन्तर्गत प्रजनन की प्रवृत्ति, संग्रह की प्रवृत्ति, आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति, क्षुधा-शान्ति की प्रवृति तथा अनुकरण की प्रवृत्ति मुख्य है। उपरोक्त मूल-प्रवृत्तियों तथा भावनाओं के अनियन्त्रित व्यवहार से मनुष्य जीवन असन्तोष प्रद, दुखी और असम्भव हो जायगा। अर्थात् मनुष्य तथा पशु के व्यवहार में कोई भेद नहीं रह जायगा। राज्य वह सर्वोच्च शक्ति है, जो इन पर प्रतिबन्ध लगाती है तथा इनका क्षेत्र निहित करती है। राज्य अपने नियमों द्वारा तथा समाज अपने नैतिक बन्धनों द्वारा मनुष्य को प्रकृत अथवा असभ्य जीवन की ओर जाने से रोकता है। यदि मनुष्य के ऊपर से राज्य का बन्धन अथवा नियन्त्रण हटा लिया जाय तो मनुष्य पुनः पशुवत् हो जायगा। अनुभव से यह भी सत्य है कि उपरोक्त भावनाओं की वृद्धि से सुखी, संतुष्ट, निर्भय स्थिर तथा पूर्ण-विकास का जीवन भी सम्भव नहीं है। अर्थात् राज्य मनुष्य को राज्य-दण्ड द्वारा, तथा सदाचार के सूक्ष्म बन्धनों से बाँध कर सभ्य तथा सुसंस्कृत जीवन की ओर अग्रसर कराता है।

अध्याय ६

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

समाज की भांति राज्य भी एक अति प्राचीन संस्था है। इसका आदि और अन्त रहस्यमय है। इसकी उत्पत्ति का रहस्य इतिहास के गर्भ में छिपा हुआ है। इसलिये इसकी उत्पत्ति के विषय में निश्चयात्मक तत्त्व निर्धारित करना सम्भव नहीं है। राज्य तथा समाज की उत्पत्ति मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा के कारण तथा मनुष्य की भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही हुई है। यह बात स्पष्ट है। राज्य की उत्पत्ति के विषय में तर्क तथा अनुमान ही किया जा सकता है क्योंकि इतिहास लिखे जाने की प्रथा के प्रारम्भ के पहले ही राज्य तथा समाज का प्रारम्भ हो चुका था। अनुमान से यह स्पष्ट है कि मानव जाति का संगठन, सभ्यता और उन्नति का विकास तथा राज्य-सत्ता का प्रारम्भ और उन्नति समानान्तर है। ये सभी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति तथा राज्य के स्वरूप का ही दिग्दर्शन कराते हैं। राज्य के मुख्य मुख्य उल्लेखनीय सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

१ शक्तिवादी सिद्धान्त :—शक्ति सिद्धान्त में विश्वास करने वाले व्यक्तियों का कथन है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति तथा बल-प्रयोग द्वारा ही हुई है। उनका कथन है कि कुछ शक्ति शाली व्यक्तियों ने अपने बल द्वारा और अपने पौरुष द्वारा अन्य व्यक्तियों पर विजय प्राप्त की और इन व्यक्तियों को अपने आधिपत्य में संगठित किया। इस प्रकार अनेकों संगठन समूह तथा गिरोह की उत्पत्ति हुई। इन्हीं संगठनों में राज्य और राज्य-शासन का सूक्ष्म रूप मिलता है। शनैः शनैः एक गिरोह अपनी रक्षा के निमित्त, आधिपत्य की लालसा के निमित्त, भूमि और भोजन की सामग्री की

उपलब्धि के निमित्त, दूसरे गिरोह को पराजित करके उनपर बल और शक्ति द्वारा शासन करने लगा। अर्थात् एक अ-समान शक्तिशाली व्यक्ति पराजित समूह का राजा अथवा शासक बन बैठा। इस प्रकार राज्य और राज्य-शासन का क्षेत्र बढ़ा। इनके कथनानुसार बल-प्रयोग द्वारा ही एक नेता अपने अनुयायियों को आज्ञा-पालन के लिये बाध्य करता है। अर्थात् राज्य की उत्पत्ति तथा राज्य-शासन की नींव-शक्ति, विजय, प्रभुता, प्रधानता आधिपत्य पर ही खड़ी है। राज्य के अस्तित्व तथा संगठन का मूल तत्त्व निखालिस बल-प्रयोग ही है।

आलोचना :—कुछ हद तक यह सत्य है कि बल-प्रयोग द्वारा ही राज्य का आधिपत्य सम्भव है। परन्तु इस सिद्धान्त में यह त्रुटि है कि इसका दृष्टिकोण बहुत ही संकुचित है। राज्य की उत्पत्ति के अनेकों कारणों में बल-प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण कारण अवश्य है। परन्तु राज्य की उत्पत्ति का एकमेव कारण बल-प्रयोग नहीं है। बल-प्रयोग के सिद्धान्त को मानने वाले निरंकुश राज्य-पद्धति के तत्त्व पर ही विश्वास करते हैं। प्रजातन्त्र-राज्य-पद्धति से वे सर्वथैव अनभिज्ञ हैं। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रीति से हर राज्य की नींव प्रजा की सहायता और अनुमति पर ही निर्भर है। राज्य का आधार केवल बल न होकर न्याय, नागरिकों की कर्तव्य-निष्ठा तथा आज्ञा-पालन की इच्छा भी है। इन भावनाओं के बिना संगठित जीवन सम्भव नहीं है। निखालिस बल-प्रयोग से संगठित राज्य भी अस्थायी हो जाते हैं, क्योंकि एक समय ऐसा भी आयेगा जब प्रजा राज्य के अत्याचारों से पीड़ित होकर विप्लव कर देगी। सूक्ष्म रीति से देखने से मालूम देता है कि राज्य प्रजा की सम्मति और सहयोग से ही बल-प्रयोग करता है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रीति से जनता जानती है कि समाज और व्यक्ति के हित के लिये कुछ हद तक राज्य को बल-प्रयोग करना जरूरी है। उदाहरणार्थ समाज हितके लिये राज्य जवानों को सेवा में भरती होने के लिये बाध्य करता है। राज्य बल-प्रयोग द्वारा खून खराबी, चोरी,

डकैती, सामाजिक संघर्ष तथा अनेकों असामाजिक व्यवहारों को रोकता है। अर्थात् राज्य-संगठन में बल-प्रयोग का भी स्थान है। इसके अतिरिक्त राज्य का स्थायित्व जनता के सहयोग पर ही निर्भर है। राज्य जनता को सुखी तथा सन्तुष्ट रखकर ही अपनी नींव को मजबूत बना सकता है। अतः राज्य का अस्तित्व केवल बल-प्रयोग से ही नहीं किन्तु जनता का हृदय जीत कर ही सम्भव है।

(२) **दैवी शक्ति** :—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की स्थापना ईश्वर ने की है। कुछ लोगों का कथन है कि ईश्वर ने राजा को अपना प्रतिनिधि बनाकर संसार में शान्ति और सुव्यवस्था लाने के लिये भेजा। कहीं कहीं राजा ईश्वर का अवतार तक माना जाता था, और राजा ईश्वर का अंश ही समझा जाता था। इन विचारों के समर्थक मध्यकालीन योरोप में थे। महाभारत में भी इस सिद्धान्त का उल्लेख है। यहूदी और मुसलमान धर्म में भी राजा को दैवी-विभूति मानते हैं। इस सिद्धान्त का निचोड़ यही है कि राज्य ईश्वरदत्त देन है। तदनुसार राज्य के अधिकार ईश्वर-प्रदत्त हैं। प्राचीन काल में लोगों को धर्म के प्रति श्रद्धा थी। इस लिये प्रजा इस सिद्धान्त में विश्वास करती थी।

जिस समय दैवी शक्ति सिद्धान्त का प्रचार हुआ उस समय राजा भी धर्म-भीरु हुआ करते थे। वे धर्म के बन्धनों को मानते थे, और धर्म की अवहेलना नहीं करते थे। इस कारण धर्म के निर्धारित नियमों के अनुसार शासन करते थे। प्रजा-रञ्जन ही राज्य का सर्वोच्च धर्म था। इस कारण राजा स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश नहीं होता था। परन्तु प्रजा के कल्याण की सतत चिन्ता करता था। समय बदला, राजाओं में स्वार्थ-कामना बढ़ी। योरोप के कई देशों में राजा अत्याचारी, दुष्ट और स्वेच्छाचारी हुये। राजाओं को कर्तव्यों की विस्मृति हो गई केवल अधिकारों की ही चिन्ता होने लगी। उनमें यह भावना प्रज्वलित होने लगी कि वे ईश्वरीय अंश होने के कारण, उनके कार्यों की विवेचना करने का किसी को अधि-

कार नहीं है—क्रमशः समय बदला, अन्ध-विश्वास का स्थान तर्क और विवेक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने लिया। इस युग में प्रजातन्त्र की भावना बढ़ने लगी, और दैवी सिद्धान्त की शक्ति क्षीण होने लगी, और राज्य की उत्पत्ति के दूसरे कारण ढूँढ़े जाने लगे।

आलोचना

गुण :—अन्धविश्वास के कारण जब तक प्रजा राजा को ईश्वरीय अंश मानती है, तब तक प्रजा भय के कारण कभी विप्लव नहीं करेगी। अर्थात् राज्य में अराजकता, उथल-पुथल का भय नहीं होगा।

दोष :—(१) यह सिद्धान्त अन्धविश्वास पर ही निर्भर है। इसमें तर्क तथा बुद्धि के लिये स्थान नहीं है। (२) जिस संगठन का मुख्य तत्त्व भय है, इसकी नींव बालू के दीवार के समान है। (३) यह सिद्धान्त केवल राज्यतन्त्र का समर्थक है, प्रजातन्त्र का नहीं। (४) राजा ईश्वरीय अंश है, तथा राज्य ईश्वर की देन है। इस कारण दुष्ट, दुराचारी अयोग्य राजा के प्रति भी राजभक्ति करना आवश्यक है, क्योंकि राजाज्ञा भंग करने का अर्थ है, ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना।

प्राचीन काल में राज्य और धर्म में घनिष्ट सम्बन्ध था। उस काल में राज्य और समाज का संगठन धर्म के कारण ही हो सका। आज का युग वैज्ञानिक युग है। विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ ही साथ "राज्य ईश्वर प्रदत्त संस्था है"—यह विश्वास सर्वथा लुप्त हो गया है।

इस युग में राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त यह है कि राज्य मनुष्य कृत संस्था है, मनुष्य द्वारा कार्य करती है, मनुष्य के कल्याण के लिये इसकी सृष्टि है और मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इसका संगठन है।

(३) सामाजिक इकरारनामे का सिद्धान्त :—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मनुष्य कृत संस्था है, और कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति

के लिये इकरार नामे द्वारा राज्य की उत्पत्ति हुई है। इनका कथन है कि राज्य का निर्माण न तो दैवी शक्ति से हुआ है, और न तो बल-प्रयोग से। इस सिद्धान्त का उल्लेख महाभारत में तथा ग्रीक पुस्तकों में भी मिलता है। अठारहवीं शताब्दी में इसके प्रचारक हॉब्स, लॉक और रूसो थे।

(अ) प्राकृतिक अवस्था अथवा जंगली जीवन :—हॉब्स, लॉक, और रूसो का कथन है कि समाज और राज्य के निर्माण के पूर्व मनुष्य का प्राकृतिक जीवन था, और प्राकृतिक नियमों से वह आबद्ध था। परन्तु प्राकृतिक जीवन के विषय में इन तीनों के विचार कुछ भिन्न हैं।

हॉब्स :—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य जीवन एकाकी कुत्सित, दरिद्रतापूर्ण, पाशविक, और क्षण भंगुर था। मनुष्य स्वार्थी झगड़ालू और मक्कार था। इस अवस्था में मनुष्य को मरने का सदा भय लगा रहता था। इस अवस्था में न्याय अन्याय, मेरा तेरा, इन भावनाओं का उदय ही नहीं हुआ था, अर्थात् प्राकृतिक अवस्था में किसी प्रकार का संगठित आर्थिक अथवा सामाजिक जीवन ही नहीं था। मनुष्य का जीवन अनियन्त्रित था अपनी इच्छा और भावना को पूर्ण-रूपेण व्यक्त करने के लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र था। इस प्रकार यह अवस्था संघर्ष, युद्ध, दुख तथा अशान्ति से परिपूर्ण थी। इस अवस्था में भले बुरे का ज्ञान नहीं था, न घर था न व्यवसाय। जीवित रहने की तीव्र इच्छा प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान होती है, और यह इच्छा प्राकृतिक अवस्था में भी थी।

मनुष्य में बुद्धि है। बुद्धि के बल से मनुष्य ने समझ लिया कि जान माल की रक्षा तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य को संगठित जीवन जरूरी है। परस्पर सहयोग से ही उपरोक्त विषयों की व्यवस्था सम्भवनीय है। शान्ति और सुव्यवस्था के बिना मनुष्य अपने परिश्रम के फल का उपभोग नहीं कर सकता है। हॉब्स के मतानुसार शान्तिर्ण-

जीवन-यापन के निमित्त मनुष्यों ने अपने समस्त अधिकार तथा शक्तियाँ एक शक्ति-शाली व्यक्ति को बिना शर्त के दे डालीं, अर्थात् इकरार एकांगी था। शासक किसी शर्त से बँधा हुआ नहीं था। वह येन केन प्रकारेण राज्य कर सकता था। अर्थात् शासक न्याय, अन्याय, निरंकुशता, वैध अथवा अवैध रीति से राज्य करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र था। हॉब्स के अनुसार राजनैतिक संगठन द्वारा प्रजा ने अपने सभी अधिकार बिना शर्त के एक व्यक्ति को अर्पित कर दिये थे। अर्थात् हॉब्स निरँकुश राज्य पद्धति का समर्थक था। अतएव इकरार के बाद प्रजा राजा को पदच्युत करने के अथवा शासक के अधिकारों का अपहरण करने के अधिकारों से पूर्ण रूप से वंचित हो गई।

लॉक :—लॉक के अनुसार प्राकृतिक जीवन सुख पूर्ण और शान्ति पूर्ण था। मनुष्य प्राकृतिक नियमों का पालन बुद्धि और विवेक के साथ करता था। इस अवस्था में मनुष्य निःसंकोच भाव से जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता का उपभोग करता था। लॉक के अनुसार ये तीनों प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत हैं। खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में पाये जाते थे। प्राकृतिक जीवन में प्राणिमात्र में किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। ऊँच नीच अमीर गरीब का भेद भाव नहीं था। मनुष्य स्वतन्त्र था, शान्ति और सहयोग से रहता था। सर्वत्र समानता विराज रही थी। "हम" "तुम" की भावना नहीं थी। शरीर और मन दोनों ही स्वस्थ थे।

लॉक के अनुसार सामाजिक संगठन नहीं था। किन्तु प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्यों में राजनैतिक भावना विद्यमान थी।

फिर इस स्वर्ग तुल्य जीवन में किस बात की कमी थी? यह प्रश्न स्वाभाविक ही है। लॉक के अनुसार (१) झगड़े के बाद फ़ैसला करने वाला कोई व्यक्ति नहीं था। (२) न्याय को कार्यान्वित करने के लिए सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता थी। (३) अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान कराने वाली कोई शक्ति नहीं थी। क्रमशः अधिकारों का यथायोग्य उपभोग

करने के लिए संगठित जीवन की आवश्यकता मालूम पड़ने लगी। क्योंकि धन और सम्पत्ति की रक्षा असम्भव सी होने लगी।

इन असुविधाओं के कारण मनुष्य ने संगठित जीवन अथवा समाज की रचना की। मनुष्य और समाज के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उन्होंने समाज को दो अधिकार दिये। (१) कानून बनाने का अधिकार (२) न्याय वितरण करने का अधिकार। लॉक के अनुसार समाज ने राजा या शासक को सीमित अधिकार दिये थे। ये अधिकार इसी शर्त पर दिये गये थे कि शासक इनका सदुपयोग करे। अर्थात् लॉक वैधानिक शासन पद्धति की पुष्टि करता था।

रूसो :—रूसो के मतानुसार प्राकृतिक जीवन सीधा सादा और सुख पूर्ण था। मनुष्य की आवश्यकताएँ परिमित थीं, और वह अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था। मनुष्य सदाचारी था। प्राकृतिक जीवन सुखमय आदर्श जीवन था। धीरे धीरे मनुष्य में ज्ञान की वृद्धि हुई, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ीं, 'मेरा-तेरा' अथवा निजी सम्पत्ति की भावना का उदय हुआ, और मनुष्य में विलासिता बढ़ी। अब भूमि और विलास की सामग्री की कमी होने लगी। क्योंकि धीरे धीरे जनसंख्या बढ़ने लगी। अहंकार का उदय हुआ। अब 'मेरा-तेरा' झगड़ा, संघर्ष और अन्य दुर्भावनाओं का उदय हुआ। इस आपत्ति से बचने के लिए मनुष्यों ने समझौता किया और अपने सब अधिकार संगठित समाज को अर्पित किये। सामाजिक इच्छा ही मनुष्य की सद्इच्छा का स्वरूप माना गया। अतः मनुष्य ने अपने संपूर्ण अधिकार समाज को अर्पित किये। इस 'सामूहिक विचार' से ही राज्य की उत्पत्ति हुई। रूसो के मतानुसार 'सामूहिक विचार' ही राज्य के अधिकारों का स्रोत है। अर्थात् रूसो प्रजातन्त्र राज्य का प्रतिपादन करता था।

संक्षिप्त में इतना ही कहना यथायोग्य होगा कि हॉब्स के मतानुसार सुख-शान्ति और सुव्यवस्था स्थापन करने के लिए मनुष्यों ने अपने समस्त

अधिकार एक व्यक्ति को बिना शर्त के अर्पित किये, और परिणाम स्वरूप राजाज्ञा तथा राज नियमों का पालन करने के लिए वे बाध्य हुए। अर्थात् हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र की चर्चा की है।

लॉक के अनुसार समाज ने राजा को समस्त प्राकृतिक अधिकार समर्पित नहीं किये। केवल कुछ सीमित अधिकार ही समर्पित किये। प्रजा अन्य प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग निर्विघ्नता से करने लगी। अतएव यदि राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग करे तो प्रजा को दूसरा राजा चुनने का पूर्ण अधिकार था। इस प्रकार लॉक ने सीमित राजतन्त्र की नींव डाली।

रूसो के मतानुसार मनुष्यों ने सुखशान्ति और सुव्यवस्था के निमित्त नये समाज को ही समस्त प्राकृतिक अधिकार प्रदान किये तथा राजप्रभुता भी प्रदान कर दी। अर्थात् राजप्रभुता का मूल 'सामूहिक विचार' ही है। प्रजा शासक व शासित दोनों ही है। व्यक्तियों के हाथ में शासन की बागडोर है वे भी 'सामूहिक विचार' के अन्तर्गत हैं। जनता दुष्ट शासकों को हटाकर दूसरे शासकों को नियुक्त कर सकती है। इस प्रकार रूसो ने जनमत को प्रभुता दी और प्रजातन्त्र राज की पुष्टि की।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना :—ऐतिहासिक आलोचना (१) सर्व प्रथम तो इतिहास में ऐसा कोई दृष्टान्त नजर नहीं आता है, जब असभ्य और जंगली जातियों ने मिलकर समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की हो। अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धान्त सर्वथा दोष पूर्ण है।

(२) प्राकृतिक अवस्था का चित्र काल्पनिक मालूम देता है। मनुष्य समाज के बिना कभी रह ही नहीं सकता है। जिस एकाकी जीवन का चित्रण हॉब्स, लॉक और रुसो ने किया है वह निर्मूल है। आदिम निवासी भी गिरोह, समूह अथवा कुटुम्ब बनाकर रहते थे और रहते हैं। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रेरणा है।

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त तर्क युक्त नहीं है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने प्राकृतिक युग के मनुष्यों का जीवन असभ्य, असंगठित, एकाकी तथा समाज रहित दिखलाया है। परन्तु इन विद्वानों ने एकाएक असभ्य व्यक्तियों में सामाजिक एवं राजनैतिक भावना के उदय का वर्णन भी किया है। इस एकाएक ज्ञानोदय के परिणाम स्वरूप उनमें सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन की योग्यता एवं क्षमता का वर्णन भी किया है। तर्क की दृष्टि से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

(४) व्यवहारिक रूप से भी यह सिद्धान्त दोष पूर्ण है। समझौता तो दो व्यक्तियों में होता है। गंभीरता पूर्वक विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि समाज का कोई अंग राज्य से असन्तुष्ट हो जाय, तो वह राज्य की अवज्ञा करे तथा समझौते को तोड़ देने का अधिकारी बन बैठे। क्योंकि कोई भी राज्य समाज के सब अंगों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। अर्थात् समझौते का सिद्धान्त क्रान्ति को प्रोत्साहित करता है।

(५) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की सदस्यता ऐच्छिक है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हो सकता है।

(६) हजारों लाखों वर्षों पूर्व किया हुआ समझौता आधुनिक पीढ़ी पर लागू नहीं हो सकता है। क्योंकि आधुनिक समाज ने उसे मान्य नहीं किया है। अर्थात् इस मतानुसार राज्य शाश्वत और सर्वकालीन संस्था नहीं है। अन्य समुदायों की तरह क्षण भंगुर तथा अस्थायी संस्था है।

आधुनिक काल में इकरारनामे के सिद्धान्त को कोई नहीं मानता है। यह सिद्धान्त दोष-पूर्ण होते हुये भी मानव जाति के लिये और व्यवहारिक जीवन में लाभप्रद हुआ है। इस सिद्धान्त ने निरंकुश राज्यतन्त्र का विरोध किया है और प्रजातन्त्र राज्य व लोकमत को महत्व दिया है। राजा निस्संकोच भाव से प्रजा को पददलित करते थे पर अब वे प्रजा से भयभीत होने लगे थे। तथा प्रजा रंजन भी अपना धर्म समझने लगे थे। इस प्रकार इस सिद्धान्त के कारण निरंकुश राज्य पद्धति का अन्त हुआ और प्रजा-

तन्त्रात्मक विचारधारा को प्रोत्साहना मिली। बल प्रयोग तथा ईश्वरीय उत्पत्ति के सिद्धान्त पर से लोगों का विश्वास हटने लगा था। अब प्रजा की सम्मति ही राज्य की नींव को सुदृढ़ बना सकती है, इस भावना का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के कारण राज्य केवल प्राकृतिक देन नहीं वरन् मनुष्यकृत संस्था है इस विचार धारा को अग्रस्थान मिला।

(४) पितृ प्रधान सिद्धान्त :—राज कुटुम्ब का वृहत स्वरूप है। कुटुम्ब मिलकर परिवार बने, और परिवार मिलकर कुल बने, और अनेक कुल मिलकर राज्य बने। कुटुम्ब ही राज्य का आदिम स्वरूप था। कुटुब का शासक पिता था और उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए सब कुटुम्बी बाध्य थे। कुटुम्ब का वृहत स्वरूप परिवार और कुल है। और इनका मुखिया अथवा शासक कुल अथवा परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति होता था। कुल और परिवार का दायित्व इन्हीं पर था। क्रमशः कुटुम्बों ने जाति और कुल का रूप धारण किया और इन्हीं के सम्मिलित रूप से राज्य की स्थापना हुई। राजाज्ञा पिता की आज्ञा का विस्तृत रूप है। राज्य पितृप्रधान कुटुम्ब का विस्तृत तथा विशाल स्वरूप है।

(५) मातृ प्रधान सिद्धान्त :—भारत के दक्षिण में मलाबार में, आस्ट्रेलिया में तथा पूर्वद्वीप समूह में समाज की व्यवस्था मातृमूलक है। इतना कहना उपयुक्त होगा कि संसार के अधिकांश देशों के समाज पितृप्रधान ही है। मातृप्रधान सिद्धान्त और पितृप्रधान सिद्धान्त मिलते जुलते हैं। भेद केवल इतना ही है कि मातृप्रधान सिद्धान्त में परिवार की पहिचान माता द्वारा ही होती है। तथा परिवार की शासक माता ही होती है। प्रारम्भिक जीवन में मनुष्य समूह में रहते थे। सामाजिक संगठन विद्यमान था, और एक स्त्री के कई पति हुआ करते थे, अर्थात् स्थायी विवाह पद्धति नहीं थी। इस कारण स्त्री द्वारा ही वंश चलते थे वंश की गणना माता द्वारा ही होती थी। वंश सन्तान तथा सम्पत्ति की कर्ता तथा उत्तराधि-

कारी माता ही हुआ करती थी। मातृप्रधान कुटुम्ब का भी वृहत रूप राज्य है।

मातृप्रधान सिद्धान्त तथा पितृप्रधान सिद्धान्त कुटुम्ब की उत्पति का दिगदर्शन कराता है, राज्य की उत्पत्ति का नहीं। इसके अतिरिक्त मातृप्रधान तथा पितृप्रधान सिद्धान्त राज्य के उत्पत्ति का कारण रक्त सम्बन्ध से ही लेते हैं। अतः यह दृष्टिकोण एकांगी तथा सीमित है।

(६) **आर्थिक सिद्धान्त** :—कुछ लोगों का कथन है कि राज की उत्पत्ति का कारण अर्थ ही है। मनुष्य की आवश्यकताएँ अनेक और अनन्त हैं। और उनकी वृद्धि होती जाती है। मनुष्य इन विविध आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता है। संगठित रूप से ही वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यही संगठित रूप समाज कहलाता है। समाज को सुसंगठित तथा व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए नियम कानून बनाने पड़ते हैं। अलग अलग कार्यों को सुविधानुसार अलग अलग लोगों में विभाजित किया जाने लगा। नियम की देख रेख करने के लिए और नियम को तोड़ने वालों को दण्ड देने के लिए सरकार की उत्पत्ति हुई।

बहुत अंशों तक यह सिद्धान्त ठीक हैं। परन्तु राज्य मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी अनेकों प्रकार की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। अतः यह सिद्धान्त भी एकांगी है। इसका दृष्टिकोण भी सीमित है!

(७) **विकास सिद्धान्त** :—उपरोक्त सिद्धान्तों में केवल आंशिक सत्य है। प्रत्येक सिद्धान्त में राज्य के कुछ तत्वों पर विचार किया गया है। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि राज्य की उत्पत्ति विकास सिद्धान्त के अनुसार हुई है। इनके विचारानुसार राज्य न तो ईश्वरीय देन है और न तो वह बल प्रयोग से बना है; न केवल समझौते से इसकी रचना हुई है और यह न केवल कुटुम्ब के उच्चतर विकास से ही बना है। राज्य अनेकों ऐतिहासिक शक्तियों के विकास का संगठित स्वरूप है। राज्य की उत्पत्ति

किसी विशिष्ट समय परिस्थिति अथवा कारण से नहीं हुई है। परन्तु राज्य मनुष्य के स्वाभाविक प्रेरणा तथा ऐतिहासिक विकास का परिणाम है।

प्रत्येक काल और देश में राज्य छोटे बड़े किसी न किसी अवस्था में सदैव विद्यमान था और रहेगा। राज्यहीन प्राकृतिक अवस्था की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। क्योंकि राज्य मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्तियों का विकासित रूप है। मनुष्य को प्रकृति से ही सुव्यवस्था, आज्ञापालन, और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त भौतिक जीवन यापन के लिये भी उसे समाज और सरकार की आवश्यकता होती है। अर्थात् राज्य के उत्पत्ति का बीज मनुष्य स्वभाव में ही पाया जाता है, और राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ही होती है।

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य में राजनैतिक प्रवृत्ति विद्यमान थी परन्तु वह बहुत ही क्षीण थी। सामाजिक जीवन भी अनेकों परिस्थितियों को पार करके इस आधुनिक स्वरूप पर पहुँचा है। अर्थात् राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन की वृद्धि भिन्न-भिन्न दशाओं और भिन्न-भिन्न कारणों से शनैः शनैः हुई है। समय और स्थान के अनुसार किसी का प्रभाव अधिक और किसी का कम हुआ है। सामाजिक जीवन के विकास के साथ ही साथ राजनैतिक संगठन का विकास हुआ, अर्थात् इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

संक्षिप्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि राज्य और सरकार किसी न किसी रूप में सदैव विद्यमान रहे और रहेंगे। इसका आदि और अन्त खोज निकालना कठिन समस्या है। इसका भूत और भविष्य भी अज्ञात के गर्भ में ही रहेगा। राज्य की आदिम अवस्था का अनुमान ही किया जा सकता है। उसी प्रकार इसके भविष्य का भी अनुमान ही किया जा सकता है। परन्तु इतना निश्चय ही कहा जा सकता है कि जब तक पृथ्वीपर मानव-जाति रहेगी तब तक छोटे बड़े किसी न किसी प्रमाण में राज्य अवश्य रहेगा।

आदिमकाल से लेकर आजतक राज्य का छोटे प्रमाण से लेकर क्रमशः विकास होता गया है ! राज्य का आधुनिक संगठित स्वरूप उसी विकास का परिणाम है। भविष्य में भी इसी प्रकार राज्य-विकासमान होता जायगा। अब राज्यों का संगठन विकास की इस सीमा को पहुँच चुका है कि जब कुछ राजनैतिक 'सम्पूर्ण मानव-समाज का एक संगठन' तथा 'विश्व के समस्त राज्यों का एक विश्वव्यापी राजनीतिक संगठन' का स्वप्न देख रहे हैं। राज्य इतिहास की उपज है। राज्य के रूप, विस्तार तथा कार्यक्षेत्र में बहुत परिवर्तन हो चुके हैं। इस ऐतिहासिक विकास को देखते हुये मानव-समाज का 'एक राज्य, एक समाज' का अनुमान किया जा सकता है।

राज्य की उत्पत्ति, विकास तथा निर्माण के प्रमुख कारण :— इसके अतिरिक्त राज्य के विकास में रक्त सम्बन्ध, धर्म, समान रीति-रिवाज, बलप्रयोग, आर्थिक आवश्यकतायें, शान्ति और सुरक्षा की आवश्यकता तथा राजनीतिक चेतना अथवा सचेत 'लोकमत' इत्यादि अनेकों साधनों ने भरपूर मदद की है।

(१) रक्त सम्बन्ध :—प्रारम्भिक जीवन में रक्त सम्बन्ध ही मनुष्य की एकता तथा सहयोग का मुख्य कारण था, तथा परस्पर आकर्षण ही मनुष्य के सर्वप्रथम समाज अथवा कुटुम्ब की सृष्टि करता है। कुटुम्ब का विकास परिवार में हुआ और परिवार का कुल में। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य समुदाय बनाकर रहने लगा, और आवश्यकतानुसार यह समूह एक स्थान से दूसरे स्थानपर भटकने लगा। इस प्रकार मनुष्य का अति प्राचीन जीवन पारिवारिक जीवन था। इसी पारिवारिक जीवन के फलस्वरूप वंश, जाति तथा वर्ग बने। पारिवारिक जीवन सुव्यवस्थित बनाने के लिए नियम और कानून बनाये गये। यही राज्य और सरकार का श्रीगणेश था। कुछ काल के अनन्तर कुल का शासक तथा संरक्षक (कुलपति) राजा कहलाने

लगा। उसके शासन का क्षेत्र राज्य कहलाने लगा। कुल के विस्तार से राज्य बने और राज्य के विस्तार से साम्राज्य बने, और आज मानव-समाज संघर्ष और महायुद्धों से थककर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर झुक रहा है, और एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज व राज्य का सुख स्वप्न देख रहा है। मॅकआइवर ने सत्य ही कहा है कि रक्त सम्बन्ध से समाज की स्थापना हुई है और समाज से राज्य की।

(२) धर्मः—पिछड़ी हुई जातियों में तथा आदिपुरुषों में धर्म-बन्धन महत्वपूर्ण बन्धन है। रक्त-सम्बन्ध द्वारा संगठित समाज को धर्म मजबूती से बाँधता है। हमारे पूर्वज आदिकाल में प्रकृति की आराधना और अपने पूर्वजों की आराधना करते थे। फिर वे मूर्ति-पूजक बन गये। धर्म और रक्त-सम्बन्ध एक ही भावना के दो रूप हैं। एक ही देवता की आराधना करने से, एक ही प्रकार के धार्मिक अनुशासन के अन्तर्गत रहने से, एकता की भावना का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक ही है। धर्म की आह्वाहना देकर एक समुदाय अपना बचाव दूसरे समुदाय के आक्रमण से करता है। राज्य की उत्पत्ति तथा निर्माण में धर्म का भी प्रमुख स्थान है।

(३) समान रीति रिवाजः—रक्त-सम्बन्ध से सम्बन्धित तथा समान-धर्म से आबद्ध जनसमूह में समान रीति-रिवाज और समान रहन-सहन की उपज स्वाभाविक ही है। ये भी एकता की भावना को बढ़ाते हैं। समान रीति-रिवाज राजनीतिक संगठन को दृढ़ बनाने में सहायक है।

(४) आर्थिक आवश्यकतायेंः—जैसे-जैसे आर्थिक दशा सुधरने लगी व्यवसाय तथा नये-नये आर्थिक साधनों की उत्पत्ति होने लगी। वैसे-वैसे सम्पत्ति, धनवितरण, श्रम विभाजन के फल इत्यादि की समस्यायें समाज के सम्मुख आ खड़ी हुईं। प्राचीनकाल में ये समस्यायें रीति-रिवाज द्वारा हल हुआ करती थीं। परन्तु जब आर्थिक व्यवस्था जटिल होने लगी तब आर्थिक झगड़ों का निर्णय करने के लिए तथा अन्य समस्याओं को

हल करने के लिए अधिकारपूर्ण तथा निश्चयात्मक कानूनों की आवश्यकता महसूस होने लगी। अब इन आर्थिक समुदायों को यथास्थान रखने के लिए एक सर्वोच्च संस्था की आवश्यकता हुई। इस प्रकार राज्य और राज्य-सत्ता की उत्पत्ति हुई। आर्थिक आवश्यकतायें राज्य के विकास और निर्माण का महत्वपूर्ण कारण है।

(४) राज्य की उत्पत्ति में बलप्रयोग के स्थान के विषय में विवेचना हो चुकी है।

(५) **शान्ति और सुरक्षाः**—सामाजिक जीवन में जान माल की रक्षा के लिए भी एक सर्वोच्चशक्ति की आवश्यकता मालूम होने लगी। समाज में सुख और शान्तिपूर्वक जीवनयापन के लिए तथा बाहर के आक्रमण और अन्दर के संघर्ष से जनता की रक्षा करने के लिए, रक्षा सम्बन्धी संगठन की भी आवश्यकता महसूस होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये राज्य की सर्वोच्चशक्ति की उत्पत्ति हुई।

(६) **राजनीतिक चेतनाः**—जब मनुष्य एक निश्चित भूमि-भाग पर वंशानुवंश वास करने लगा तब यह स्वाभाविक ही है कि उसको उस भूमि से प्रेम होने लगा। इसके अतिरिक्त शान्तिमय जीवन तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी पर्याप्त मात्रा में होने लगी। इससे समाजमें राजनीतिक संगठन के प्रति सहयोग, प्रेम और भक्ति की भावना उत्पन्न होने लगी। यही राजनीतिक चेतना है। क्रमशः राजनीतिक चेतना अथवा राष्ट्रीय भावना का स्थान राष्ट्रीय संगठन में सर्वोच्च अथवा महत्वपूर्ण होने लगा। आधुनिक राज्यों में राज्य का क्षेत्र तथा धर्म का क्षेत्र पृथक होने लगा है। क्रमशः जनता में राजनैतिक कार्यों में राष्ट्रीय भावना की जाग्रति होने लगी और धार्मिक भावना का लोप होने लगा, और राजतन्त्र राज्य, गणतन्त्र तथा प्रजातन्त्र राज्य में परिणित होने लगे। भारत में भी आज धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई है।

इस प्रकार राष्ट्रीय संगठन को दृढ़ बनाने में और राज्य के विकास में अनेकों शक्तियों का प्रभाव पड़ा है। ऐतिहासिक काल से उपरोक्त सभी शक्तियाँ राज्य संगठन को बनाने व दृढ़ करने में सहायक हुई हैं। राज्य संगठन को ढालने में समयानुसार इन सब का स्थान नगण्य नहीं है।

सेन्द्रीय सिद्धान्तः—यह सिद्धान्त राज्य के स्वरूप की विवेचना करता है। राज्य के उत्पत्ति का नहीं। कुछ विद्वानों का कथन है कि राज्य सेन्द्रीय पुरुषवाची प्राणी है। मनुष्य के शारीरिक अवयवों से राज्य के भिन्न भिन्न अंगों की तुलना इस सिद्धान्त के अनुसार की जाती है। राज्य के नागरिक राज्य रूपी शरीर के कोप (Cells) हैं। राजसत्ता का तुलना मनुष्य के व्यक्तित्व से, नियम और प्रथाओं की तुलना मनुष्य के मस्तिष्क से, व्यापार और कृषि की तुलना मनुष्य के पेट तथा मुँह से, सार्वजनिक राजस्व की तुलना रक्त से इत्यादि की जाती है। इसके अतिरिक्त सावयव सिद्धान्त के लेखकों का कथन है कि जिस प्रकार शरीर की बाल्यावस्था, यौवनकाल, वृद्धावस्था तथा मृत्यु होती है उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति, उन्नति तथा अवनति होती है। शरीर के अलग-अलग अंगों का जैसे आँख हाथ इत्यादि का निर्धारित कार्य क्षेत्र होता है और शरीर के बिना इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। उसी प्रकार राज्य के पृथक अंगों का पृथक अस्तित्व नहीं है, और राज्य का प्रत्येक अंग निर्धारित कार्य सार्वजनिक हित की दृष्टि से करता है, अर्थात् राज्य की प्रकृति सेन्द्रीय पदार्थ के समान है।

कुछ अंश तक इस सिद्धान्त में सत्यता है। राज्य की उन्नति और अवनति होती है। राज्य विकासमान है। परन्तु राज्य के प्रत्येक अंग को व्यक्ति के अवयव से तुलना करना मूर्खता ही नहीं परन्तु अतिशयोक्ति है। यह सिद्धान्त हानिकारक भी है। क्योंकि सेन्द्रिय पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं। उनका कोई अलग अस्तित्व नहीं होता है। इस

तुलना से यह आशय निकलता है जैसे मनुष्य शरीर के कोष (Cells) एक दूसरे पर अवलम्बित है उसी प्रकार व्यक्ति राज्य पर पूर्णतया अवलम्बित है। इस सिद्धान्त से व्यक्ति स्वातन्त्र्य का लोप हो जायेगा। यह सिद्धान्त राज्य की निरंकुशता को प्रश्रय देता है।

राज्य के अंग (व्यक्ति) हाथ, पेट इत्यादि की तरह असहाय अचेतन नहीं है। राज्य के कोष अर्थात् नागरिकों में स्वतन्त्र चेतना, विवेक तथा व्यक्तित्व है। राज्य निरंतर चलनेवाली स्थायी संस्था है। राज्य की अवनति तथा उन्नति होते हुये भी मनुष्य शरीर की तरह उसका लोप नहीं होता है। राज्य के विकास तथा उन्नति में प्रजा का हाथ है। प्रजा के आत्मबल से ही राज्य का विकास होता है। परन्तु सेन्द्रीय पदार्थों का विकास प्रकृति की लीला है।

अध्याय ७

राज्यकी प्रभुत्व शक्ति अथवा सार्वभौमिकता

राज्यसत्ता या राज्यप्रभुत्व राज्य के आवश्यक तत्वों में से एक है। राज्य-प्रभुता राज्य की सर्वोच्चशक्ति है। जिसमें राज्य की सब शक्तियाँ केन्द्रिभूत हैं। राज्यप्रभुता वह गुण है जो राज्य को अन्य समुदायों से पृथक करता है। यह राज्य के हर व्यक्ति तथा हर समुदाय पर पूर्ण आधिपत्य रखता है। राज्यप्रभुता वह परम शक्ति है, जिसे बड़े से बड़ा कानून दबा नहीं सकता है। वह सबको आज्ञापालन के लिए बाध्य कर सकती है और आज्ञा का उलंघन करने वाली संस्था अथवा व्यक्ति को कठोर से कठोर दण्ड दे सकती है। अपितु प्राणदण्ड तक दे सकती है। अर्थात् राज्यशक्ति वह स्वतन्त्र शक्ति है जो किसी के मातहत नहीं है, और उसके-ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं है।

कुछ लेखकों ने राज्य सत्ता को राज्य का प्राण या राज्य की आत्मा कह कर सम्बोधित किया है। कहने का तात्पर्य यही है कि राज्यसत्ता के बिना राज्य जीवित ही नहीं रह सकता है। राज्यसत्ता अथवा सार्वभौमिकता का ज्ञान अनुभव द्वारा किया जा सकता है, न इसे स्पर्श ही किया जा सकता है और न यह देखा जा सकता है।

राज्यप्रभुता का सर्वोच्च गुण स्वतन्त्रता है:—व्यवहारिक रूप से देखने से राज्यप्रभुता अथवा राज्य के स्वतन्त्रता के दो पहलू दिखलाई देते हैं। आन्तरिक स्वतन्त्रता तथा वाह्य स्वतन्त्रता। (१) आन्तरिक स्वतन्त्रता—किसी निश्चित भूमि भाग के अन्तर्गत समस्त संस्थायें तथा व्यक्ति राज्य के मातहत है, राज्य उन्हें आज्ञापालन के

लिए बाध्य करता है । राज्य के कानून भी यही शक्ति बनाती हैं। (२) वाह्य स्वतन्त्रता:—राज्य अपने बाहरी मामलों में स्वतन्त्र है। राज्य किसी बाहरी शक्ति अथवा किसी अन्य राज्य के आधीन नहीं है। एक स्वतन्त्र प्रभुशक्ति सम्पन्न राज्य युद्ध घोषणा करने में, संधि तथा शान्ति स्थापन करने में और अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापन करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

अब राज्यप्रभुता अथवा राज्यसत्ता की कुछ परिभाषायें दी जायेंगी।

(१) ऑस्टिन ने राज्यसत्ता का वर्णन इस प्रकार किया है। स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन वह है जहाँ की अधिकांश प्रजा किसी व्यक्ति विशेष की आज्ञा का पालन निरन्तर करता हो, तथा वह उच्चतर व्यक्ति, किसी अन्य व्यक्ति के आज्ञा का पालन न करता हो। इस समाज का उच्चतर व्यक्ति राजा कहलायेगा, तथा यह समाज स्वतन्त्र राज्य कहलायेगा और राज्य की बागडोर इसी व्यक्ति के आधीन रहेगी।

(२) सार्वभौमिकता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर या जिससे बढ़कर राज्य के अन्दर कोई शक्ति न हो। वाह्य और आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार के नियन्त्रण में न हो।

(३) विलोवी:—राज्यसत्ता राज्य की सर्वोच्च इच्छा शक्ति है।

(४) बोडीन के मतानुसार राज्यप्रभुता वह शक्ति है जो राज्य में सर्वश्रेष्ठ है और जो स्वयं कानूनों के बन्धन से मुक्त है।

(५) ग्रेशियो के अनुसार राजप्रभुता सर्वश्रेष्ठ स्वाधीन राजकीय शक्ति है, जिसकी इच्छा सर्वमान्य है।

(६) जेलिनेक के अनुसार सर्वभौमिकता वह असीमित सत्ता है जो किसी बन्धन अथवा कानून से बाँधी नहीं जा सकती है।

राज्य का स्वामी कई प्रकार से सम्बोधित होता है जैसे बादशाह तानाशाह और फ्रांस अमेरिका और भारत में सभापति।

राज्यसत्ता के गुण स्वभाव और लक्षण

(१) **निरंकुशता**—राज्यसत्ता किसी निश्चित भूमि भाग के अन्दर असीमित रूप धारण करती है, और वह किसी भी बन्धन को नहीं मानती है। अर्थात् राज्यसत्ता सर्वप्रधान शक्ति है तथा अनियन्त्रित है। राज्य आन्तरिक तथा बाह्य विषयों में पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य के कोने-कोने में राज्यसत्ता फैली हुई है, और यह किसी के मातहत नहीं है। राज्य के बिना राज्यसत्ता और राज्यसत्ता के बिना राज्य जीवित ही नहीं रह सकता है।

(२) **व्यापकता**—राज्यशक्ति व्यापक है! राज्य के अन्तर्गत व्यक्ति, समाज, समुदाय, संघ इत्यादि सभी अंगों पर इसका पूर्ण अधिकार है राज्य के अन्तर्गत ऐसा कोई पहलू नहीं है जिस पर यह नियन्त्रण न कर सके। इसके अधिकार सर्वव्यापी हैं। इसके शक्ति से सब भयभीह रहते हैं, क्योंकि वह आज्ञा भंग करने वाले को कठिन से कठिन दण्ड दे सकती है। राज्य सबको आज्ञापालन के लिये विवश कर सकता है।

(३) **मौलिकता**:—राज्य की शक्ति किसी के द्वारा प्रदत्त नहीं है। यह मौलिक है, अर्थात् स्वअर्जित है। राज्यसत्ता का अस्तित्व स्वयं अपने आधार पर है। जैसे पेड़ अपनी हरियाली किसी को प्रदान नहीं कर सकता है, जैसे मनुष्य अपने प्राण किसी में डाल नहीं सकता है। उसी प्रकार राज्यसत्ता स्वयंभू और स्वअर्जित है। यह शक्ति न किसी को दान स्वरूप दी जा सकती है और न यह किसी दाता द्वारा प्रदत्त है। राज्यसत्ता मौलिक शक्ति है।

(४) **अविभाज्यता**:—राज्यसत्ता परम शक्ति है यह अटूट और अविभाज्य है। यह सत्ता दो व्यक्तियों में अथवा दो संस्थाओं में बाँटी नहीं जा सकती है। जैसे एक म्यान में दो तलवारें अथवा एक कुटुम्ब में दो स्वामी नहीं हो सकते हैं। उसी प्रकार राज्यसत्ता भी अविभाज्य है।

अर्थात् एक राज्य में एक समय एक ही सत्ता हो सकती है। क्योंकि एक समय में दो बराबर शक्तियाँ नहीं हो सकती हैं। यदि राज्यसत्ता बँट जाय तो उसकी एकता नष्ट हो जायेगी, और बराबर शक्तियों के संघर्ष से राज्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जायेगा, और राज्य के टुकड़े हो जायेंगे या शक्तिशाली शक्ति दूसरी शक्ति को दबा देगी। अर्थात् राज्यसत्ता अटूट और अविभाज्य है।

(५) **स्थायित्वः**—यदि राज्यसत्ता का लोप हो जाता है तो राज्य, राज्य नहीं रह जाता है। किसी निश्चित भूमि भाग पर रहने वाले संगठित समाज के लिए निरन्तर प्रवाहित राज्यसत्ता अत्यावश्यक है। राज्यसत्ता के बिना राज्य की नींव दृढ़ और कायम नहीं रह सकती है। यह कहना कठिन है कि राज्य की उत्पत्ति पहले हुई या राज्यसत्ता की। दोनों दूध और पानी की तरह घुले मिले हैं। सरकार बदलती रहती है। पर राज्य-सत्ता निरन्तर रहती है। सरकार के बदलने से राज्यसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। राजा या सम्राट की मृत्यु से राज्यसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। राज्यसत्ता चिरस्थाई है।

(६) **सर्वमान्यताः**—राजा की आज्ञा का पालन हर एक व्यक्ति और संस्था को करना अनिवार्य है, राज्यसत्ता अवज्ञा करने वाले व्यक्ति को दण्ड देती है। राज्यसत्ता अवज्ञा का आघात सहन नहीं कर सकती है।

(७) **अदेयताः**—राज्य का स्वभाव राज्यसत्ता है। यह किसी को दी नहीं जा सकती यदि राजसत्ता हस्तांतरित की जाए तो राज्य ही नष्ट हो जायेगा।

राज्यसत्ता और उसके अनेक रूपः—

(१) **आन्तरिक और बाह्य प्रभुताः**—राजसत्ता के इस रूप पर विचार हो चुका है।

(२) **नाम मात्र की राज्यसत्ता तथा यथार्थ की राज्यसत्ताः**—पुरातन काल में सब देशों में राज्य के मुख्य शासक राजा ही हुआ करते

थे और अधिकांश राजा निरंकुश हुआ करते थे। इंग्लैण्ड में भी राज्य-तन्त्र शासन पद्धति थी। इंग्लैण्ड में वर्तमान काल में भी शासन राजा के नाम से ही होता है, परन्तु यथार्थ में राजा को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। इंग्लैण्ड में वर्तमान काल में भी राजा के नाम से ही कानून बनते हैं। युद्ध की घोषणा भी उसी के नाम से होती है। उसी के नाम से राज्य कर्मचारी नियुक्त होते हैं। सेना और कोष पर भी राजा का अधिकार माना जाता है। परन्तु वास्तव में राजा नाममात्र के लिए सर्वप्रधान है। देखने में तथा कानून की दृष्टि से राजा के अधिकार अनेक तथा महत्वपूर्ण मालूम देते हैं। मालूम देता है कि राज्य के मत्री राजा के मातहत है, पर वास्तव में राजा के कुछ भी अधिकार नही है वे स्वतन्त्रता पूर्वक कुछ नहीं कर सकते हैं। हर एक कार्य के लिए मंत्री तथा कैबिनेट का ही उत्तरदायित्व होता है। मंत्री बॉल्डविन ने ही एडवर्ड अष्टम को विवाह करने के कारण राज्यपद-त्यागने का आदेश दिया था। अर्थात् राजा के पास नाम मात्र की राज्यसत्ता है वास्तविक प्रभुता कैबिनेट के पास ही है। इंग्लैण्ड के प्रजातन्त्रात्मक भावना की उत्पत्ति के कारण राजा की राज्यसत्ता जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में चली गई है। अतः राजा के कानूनी अधिकार भरपूर हैं परन्तु वास्तव में वह किसी का उपयोग नहीं कर सकता है।

इसके विपरीत अमेरिका का राष्ट्रपति है। अमेरिका के राष्ट्रपति के वैधानिक तथा वास्तविक अधिकारों में कोई अन्तर नहीं है। अमेरिका का राष्ट्रपति वैधानिक रूप मे प्राप्त सभी अधिकारों का उपयोग कर सकता है। राज्य शासन में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। शासन-कार्य के अनेकों पहलुओं पर उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

(३) वैध तथा राजनैतिक राज्यसत्ता:—राज्यसत्ता का तीसरा स्वरूप है वैधानिक तथा राजनैतिक राज्यसत्ता, राज्यसत्ता के ये दो रूप प्रजातन्त्र राज्य प्रणाली के कारण ही स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होने लगे

हैं। वैधानिक राज्यसत्ता वह सत्ता है जिसे राज्य के नियम, कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है; तथा जिसके बनाये हुये कानूनों को राज्य के न्यायालय मान्यता प्रदान करते हैं। न्यायालय इसी सत्ता के नियमों के अनुसार कानून बनाते हैं। वैधानिक राज्यसत्ता ब्रिटेन में ब्रिटिश पार्लमेण्ट तथा भारत में संसद में निहित है। राजनैतिक राज्यसत्ता वह शक्ति है जो वैधानिक राज्यसत्ता के पृष्ठ भाग में रहती है। इसकी इच्छा का आदर करना तथा मान्यता देना वैधानिक राज्यसत्ता के लिए अनिवार्य है। इसका बल सदैव दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसके शक्ति का आभास प्रत्यक्ष रूपमें सदैव नहीं मिलता है। राज्य की राज्यसत्ता राज्य के मतदाताओं में ही निहित है। वे ही इसके मूल स्रोत हैं। राजनैतिक राज्यसत्ता न तो कानून बनाती है और न प्रत्यक्ष रूप से राज्य के न्यायालय ही इसको मान्यता देते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा राज्य में इसी का बोलबाला है, और वैध राज्यसत्ता को इसके सामने झुकना ही पड़ता है। राजनैतिक राज्यसत्ता (राज्य के मतदाता) वैध राज्यसत्ता को हटा सकते हैं, इसका अन्त कर सकते हैं और इसमें परिवर्तन कर सकते हैं। यदि वैधानिक राज्यसत्ता जनमत के विरुद्ध काम करती है, उसकी इच्छा को ठुकरा देती है तो अगले चुनाव में राजनैतिक राज्यसत्ता वैधानिक राज्यसत्ता को बदल सकती है। अर्थात् प्रजातन्त्र राज्यप्रणाली में नागरिक ही राष्ट्र की राज्यसत्ता की बागडोर को थामे रहते हैं। नागरिक अपने भाव तथा विचार भाषणों द्वारा अखबारों द्वारा प्रकट करते हैं। राज्य की यही सामूहिक शक्ति संसद को बनाती है और बिगाड़ती है। चुनाव के अवसर पर ही राज्य की राजनैतिक शक्ति जाग्रत और सक्रीय हो जाती है। राज्य का संगठित जनमत ही राजनैतिक राज्यसत्ता है।

एक अच्छे राज्य में वैधानिक राज्यसत्ता राजनैतिक राज्यसत्ता की इच्छा के अनुसार ही कार्य करती है। राजनैतिक राज्यसत्ता वह शक्ति है जो वैधानिक राज्यसत्ता को मनमानी

करने से रोकती है। साधारणतया दोनों शक्तियों में पूर्णसहयोग और परस्पर लेनदेन का व्यवहार होता है। जनता नये कानूनों की मांग पेश करती है। जनता ही शासन परिवर्तन के लिए आवाज उठाती है। वैधानिक राज्यसत्ता इन मांगों को मूर्तस्वरूप देती है। परन्तु इन दोनों के संघर्ष से देश को हानी पहुंचती है। ऐसे समय में चाहे कुछ काल तक वैधानिक राज्यसत्ता शक्तिशाली हो जाय, क्योंकि शासन का अधिकार तथा कानून बनाने का अधिकार इसी के हाथ में होता है। परन्तु आधुनिक जगत में ऐसी स्थिति बहुत काल तक टिक नहीं सकती है। राजनैतिक राज्यसत्ता को अपने बल और शक्ति का उपयोग करना ही पड़ता है। अर्थात् राजनैतिक राज्यसत्ता वैधानिक राज्यसत्ता से बलिष्ठ है और राज्य का दारोमदार इसी पर है।

(४) वास्तविक तथा कानूनी राज्यसत्ता:—राज्यसत्ता का चौथा स्वरूप वास्तविक तथा कानूनी राज्यसत्ता है। कभी कभी असाधारण परिस्थिति में जैसे क्रान्ति युद्ध विद्रोह इत्यादि के समय कानून द्वारा संस्थापित राज्यसत्ता अपनी शक्ति को खो बैठती है, और दूसरी शक्ति बल प्रयोग द्वारा अपना आधिपत्य जमा लेती है। अर्थात् वास्तविक राज्यसत्ता वह सत्ता है जो बल प्रयोग द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से कानूनी राज्यसत्ता को परास्त करके अथवा हटा करके अपना प्रभुत्व स्थापित कर देती है।

साधारणतया वास्तविक तथा कानूनी राज्यसत्ता तद्रूप होती है। असाधारण परिस्थिति में अल्पकाल के लिये वह पृथक हो जाती है। यदि वास्तविक राज्यसत्ता शक्तिशाली हो तो वह राज्य में धीरे धीरे अपना अधिकार जमाने लगती है। और यदि यह सत्ता काफी समय तक टिक जाती है तो वास्तविक राज्यसत्ता कानूनी राजसत्ता में परिणित हो जाती है। अथवा प्रजाको, वास्तविक राज्यसत्ता की आज्ञापालन करने का इतना अभ्यास हो जाता है कि कुछ काल के अनन्तर प्रजा स्वाभाविक रीति से उसकी आज्ञा का पालन करने लगती है। ब्रिटिश इतिहास में क्रॉमवेल

वास्तविक राज्यसत्ताधिकारी था। उसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध में हिटलर चेकोस्लोवाकिया का वास्तविक राज्यसत्ताधिकारी था, और चेकोस्लोवाकिया के कानूनी राज्यसत्ताधिकारी डाक्टर बेनेस को इंग्लैंड में पनाह लेनी पड़ी थी। इतिहास में ऐसे भी दृष्टान्त पाये जाते हैं जब कि कानूनी राज्य-सत्ता पुनः शक्तिशाली होकर वास्तविक राज्यसत्ता को हटा कर अपना आधिपत्य जमा लेती है।

(५) राष्ट्रीय राज्यसत्ता तथा सार्वजनिक राज्यसत्ता :— १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी में इस सिद्धांन्त का प्रचार हुआ था। १८ वीं शताब्दी में रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रचार प्रचुर मात्रा में किया था। रूसो इत्यादि विद्वानों के लेखन से प्रभावित होकर संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने सार्वजनिक राज्यसत्ता को अपने विधान का मूलमन्त्र माना है। भारत ने १९५१ में अपना संघातरित विधान बनाया है। भारत ने भी अपने विधान का प्रारम्भ इसी मूलमन्त्र से किया है। योरप की जनता ने स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश राजाओं के अत्याचारों से पीड़ित होकर इस सिद्धान्त को अपनाया था। इस सिद्धान्त के अनुसार जनता ही राज्य की परम प्रभुशक्ति मानी जाती है। जनता का अर्थ क्या है? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ लोगों का कथन है कि जनता का अर्थ है राज्य के मतदाता। परन्तु आधुनिक विद्वानों ने सार्वजनिक राज्यसत्ता का अर्थ राज्य में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों से किया है। चाहे उन्हें मतदान का अधिकार हो अथवा न हो। अर्थात् आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य जनता को ही राज्य का मूल आधार मानते हैं, और राज्य की शक्ति इन्हीं में निहित है।

(६) राष्ट्रीय राज्यशक्ति :—राष्ट्रीय राज्यशक्ति का अर्थ राज्य में रहने वाले वे व्यक्ति जो मतदान के योग्य माने गये हैं।

क्या राज्यप्रभुता असीमित है? राज्यसत्ता एक दृष्टिकोण से असीमित

होते हुये भी यह मानना पड़ेगा कि वह कुछ अंश तक सीमित है। राज्य-प्रभुता जनमत से, राज्यके महत्वपूर्ण धार्मिक, आर्थिक इत्यादि समुदायों से, अन्तर्राष्ट्रीय मत तथा कानून से, नैतिक बन्धनों से, राज्य के रीति-रिवाज से तथा व्यवहारिक सत्य से सीमित है। इन सबके सम्मुख राज्यप्रभुता को कुछ अंश तक झुकना ही पड़ता है। यदि राज्यसत्ता नीति, धर्म, अन्तर्राष्ट्रीय कानून इत्यादि से अपने आप को सीमित नहीं रखेगी तो राज्य में विप्लव हो जायेगा।

कानून और राज्यप्रभुता :—कानून और राज्यप्रभुता का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। कानून बनाना राज्यसत्ता का महत्वपूर्ण गुण है। कानून एक प्रकार की शक्ति है जो राज्यसत्ता को प्राप्त है, और कानून तोड़ने वाले को राज्यसत्ता अधिक से अधिक दण्ड दे सकती है। सार्वजनिक हित के लिये तथा प्रजा के इच्छानुकूल राज्य कानून द्वारा व्यक्ति और व्यक्ति, समुदाय और समुदाय, व्यक्ति और समुदाय, राज्य और व्यक्ति, राज्य और समुदाय के सम्बन्धों को संस्थापित करता है। राज्यसत्ता ही कानून को यथार्थ स्थान देती है। और कानून तोड़ने वाले को यथा योग्य दण्ड देती है।

कानून का अर्थ:—नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत कानून का आशय उन नियमों से है जो राज्य द्वारा बनाये जाते हैं और जिनपर चलने के लिए राज्य-नागरिकों को बाध्य करता है, और जो राज्य के नागरिकों के सामाजिक जीवन तथा पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित एवं संतुलित रखने में सहायक होते हैं।

कानून क्या है:—(१) राज्य की सार्वभौम शक्ति ही कानून का निर्माण करती है। अतः राज्य में जिस संस्था, सभा, सीमिति, व्यक्ति, अथवा जनता में सार्वभौमिकता निहित होती है वही कानून का निर्माण करती है। किन्तु निरंकुश शासक को भी जनमत और लोकरीति आदि का ध्यान रखना पड़ता है। ऐसा न करने से लोगों को कानून के प्रति अविश्वास हो जाता है और प्रजा कानून की अवहेलना करने लगती है और उसको तोड़ने के लिए बाध्य होती है। अतः प्रत्येक कानून देश और काल के अनुसार तथा समाज की परम्परा, रीति-रिवाज के अनुरूप ही होना चाहिये।

(२) राज्य निर्मित कानून का पालन करने के लिये राज्य नागरिकों को बाध्य कर सकता है तथा कानून भंग करने वाले को दण्ड दे सकता है।

(३) कानून का उद्देश्य जनता की भलाई है। तथा कानून का निर्माण सामाजिक जीवन में व्यवस्था और संतुलन स्थापित करने के लिये किया जाता है। अतः प्रत्येक कानून की कसौटी उपयोगिता व मनुष्यों की आवश्यकता की पूर्ति है।

(४) उपरोक्त कसौटि पर कसने के बाद यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि जब कोई कानून उपयोगी नहीं तो वह बदला जाय। अतः कानून परिवर्तनशील है। देश और काल के अनुसार उसमें परिवर्तन होना परमावश्यक है।

कानून की परिभाषा एवं विस्तार :—(१) "कानून ही स्वतन्त्रता की कुंजी है"—इसका अर्थ इतना ही है कि प्रत्येक व्यक्ति उतनी ही स्वतन्त्रता का उपभोग करे जिससे वह दूसरे व्यक्ति

अथवा समाज का नुकसान न करे, जिससे वह दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप न करे। प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों का उपभोग करना चाहता है। अतएव समाज, राज्य अथवा नीति इसकी सीमा को निहित करती है। अर्थात् समाज राज्य अथवा नीति प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार व कर्त्तव्यों की रूपरेखा खींचती है। अतः समाज व राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्यों और अधिकारों की सीमा को निर्धारित करने वाला मापदण्ड कानून है। वह व्यक्ति जो दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप करता है। वह राज्य और समाज द्वारा दोषी ठहराया जाता है। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता है उसे भी राज्य दण्ड देता है। कानून मनुष्य के उच्च विचारों का प्रतीक है। यह मनुष्य के मस्तिष्क से निकली हुई एक अनमोल देन है। कानून के बिना राज्य और समाज का संगठन असम्भव है। कानून ही समाज व राज्य को सुसंगठित, सुरक्षित भय रहित, निरापद तथा सुस्वस्थ बना सकता है। कानून ही राज्य और समाज का पथ प्रदर्शक है। कानून ही सदाचारी और कर्त्तव्य परायण व्यक्तियों को सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करता है, तथा कर्त्तव्य-विमूढ़-स्वार्थी, एवं केवल अधिकारों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों के लिए यह बन्धन है। कानून ही इन व्यक्तियों की उच्छृंखलता को सीमित रखता है। कानून ही समाज व व्यक्ति, समाज व समाज, राज्य और समाज, व्यक्ति और राज्य, राज्य व राज्य, संस्था व राज्य, संस्था व समाज, संस्था वह संस्था के सम्बन्ध को स्थिर, मजबूत व सुस्वस्थ बनाता है।

(२) कानून ही समाज को अराजकता से बचाता है:—राज्य ही स्वतन्त्रता की सच्ची कसौटी है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रक्षक व पोषक कानून ही है। राज्य की सार्व-भौमिकता ही कानून का स्रोत है। यदि कानून न हो तो कुछ बलवान व्यक्ति अथवा कोई बलवान वर्ग स्वार्थान्ध अथवा मदान्ध होकर बलहीन नर-नारियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करके उन्हें अपना

दास बना लेंगे। कानून ही बलवानों की शक्ति का निरोधक तथा बलहीनों का रक्षक व पोषक है। आजकल भी कुछ जंगली समाजों में उनके मुखिया को प्रजा के जानमाल पर पूर्ण अधिकार होता है। और उसे मनमाना करने के लिए उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अर्थात् मुखिया स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, और प्रजा दासता की बेड़ी में जकड़ी हुई रहती है। अर्थात् प्राकृतिक नियमों से बद्ध समाज में मत्स्य न्याय की ही परम्परा होती है। प्राकृतिक जीवन जंगली जीवन है। सभ्य जीवन अथवा सभ्यता के विकास का अर्थ यही है कि प्राकृतिक जीवन के प्राकृतिक न्याय पर विजय पाना अथवा उसे सीमित करना। यह सच है कि कानून हमारी प्राकृतिक स्वतन्त्रता को रोकता है। कानून बहुजन समाज की भलाई व हित को लक्ष्य करके प्राकृतिक स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण डालता है। अतः कानून ही बलवानों की शक्ति को समाज-हितार्थ सीमित करता है और निर्बलों की रक्षा करता है। अनुभव से यह स्पष्ट है कि कानून बना कर ही, स्वतन्त्रता की सच्ची व्याख्या की जा सकती है। प्रत्येक कानून को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होनी चाहिये। प्रत्येक कानून सच्ची स्वतन्त्रता का प्रतीक होना चाहिये तथा उसमें समाजहित निहित होना चाहिये। अन्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि कानून की सच्ची कसौटी व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करने में सहायक होना, तथा व्यक्ति की पूर्ण वृद्धि में सहायक होना है।

(३) कानून तर्कयुक्त एवं न्याययुक्त जीवन के लिये परमावश्यक है—कानून ही मनुष्य का समाज से नाता जोड़ता है। कानून राज्य की आवश्यक शक्ति है। सभ्य-असभ्य, संस्कृत-असंस्कृत, अच्छा-बुरा, ठीक-गलत इत्यादि की कसौटी कानून द्वारा ही होती है। कानून मनुष्य के विवेक व न्याययुक्त बुद्धि का प्रतीक है। क्या मनुष्य कानून के बिना रह सकता है? कदापि नहीं। मनुष्य की सुसंगठित नियमबद्ध जीवन की चाह ने ही कानून को उत्पन्न किया। ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य की विभिन्न आवश्यकतायें समाज के बिना पूरी नहीं हो सकती हैं। अर्थात् एकांकी

जीवन में मनुष्य की सभी आवश्यकतायें पूरी नहीं हो सकती हैं। मानवता का विकास, पूर्ण मानवता की प्राप्ति समाज में रह कर और समाज द्वारा ही हो सकती है। मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के लिये ही समाज बनाता है। तर्कयुक्त व न्याययुक्त कानून पर ही समाज की नींव सुदृढ़ बन सकती है।

हॉलैंण्ड के अनुसार मनुष्य के सामाजिक आचरण को सुगम बनाने के लिये बनाये हुये नियमों को कानून कहते हैं। ये कानून राज्यसत्ता द्वारा प्रचलित किये जाते है। अथवा कानून द्वारा ही राज्यसत्ता अपना रूप प्रस्फुटित करती है। संगठित समाज के सर्वोच्च अधिकारी की आज्ञायें ही कानून हैं। इन आज्ञाओं का प्रतिपादन व प्रतिपालन सर्वोच्च अधिकारी ही करता है। राज्यतन्त्र में राजा ही को कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु जैसे पहले कहा जा चुका है राजा को भी राज्य के रीति-रिवाज व प्रजा की भावना को मध्य नज़र रखते हुये कानून बनाना चाहिये। अन्यथा प्रजा विप्लव अथवा विरोध कर देगी। प्रजातन्त्र राज्य में धारा सभा ही कानून बनाती है। क्योंकि जनतन्त्र में धारा सभा ही जनमत को प्रतिबिम्बित करती है। अर्थात् प्रजातन्त्र राज्य में जनमत ही कानून बनाने का अधिकारी है। जैसे ऊपर कहा जा चुका है प्रत्येक कानून की कसौटी है। सामूहिक हित और प्रजारंजन एवं प्रजा की आवश्यकता की पूर्ति। यदि जनमत द्वारा निर्धारित कोई कानून इस कसौटी पर कसा नहीं जाता है तो वह कानून नीति संगत नहीं है, और ऐसे कानून का पालन करनेके लिए प्रजा बाध्य नहीं है।

कानून का वर्गीकरण

(१) **व्यक्तिगत कानून :**—व्यक्तिगत कानून व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारित करता है। एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध

होना चाहिये इसका निर्णय कानून करता है। अर्थात् एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से व्यवहार को स्पष्ट करने वाले नियम को व्यक्तिगत कानून कहते हैं। ऐसे कानून के अन्तर्गत कर्ज, सम्पत्ति की लेन-देन, पैतृक-सम्पत्ति इत्यादि आते हैं।

(२) सार्वजनिक कानून :—सार्वजनिक कानून वह है जो राजाज्ञा द्वारा राज्य व व्यक्ति के सम्बन्ध को निर्धारित करे इन कानूनों द्वारा व्यक्ति को सार्वजनिक व सामाजिक जीवन में क्या नहीं करना चाहिये इसका आदेश दिया जाता है। जब व्यक्ति राज्य के विरुद्ध अपराध करता है तो उसे सार्वजनिक कानून का अपराधी कहते हैं। ऐसे कानूनों को तोड़ने वाला राज्य के प्रति अपराधी समझा जाता है। उदाहरणार्थ चोरी, डकैती, खून इत्यादि।

(३) वैधानिक कानून :—वैधानिक कानून वे हैं जो राज्य की शासन व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। जैसे सरकार का स्वरूप, विधान सभा, कार्य पालिका एवं न्याय पालिका, नागरिकों के मूल अधिकार इत्यादि। अर्थात् वैधानिक कानून देश की सरकार के संगठन के आधारभूत सिद्धान्तों को कहते हैं। ऐसे कानून में साधारण कानून की भाँति परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इनके परिवर्तन के लिये विशेष व्यवस्था की आवश्यकता है।

(४) लोक नियम—लोक नियम वे नियम हैं जो राज्य द्वारा बनाये न गये हों। लोक नियम प्राचीन काल से चले आने वाले रीति-रिवाज को कहते हैं। इन्हें दैनिक नियम या साधारण नियम भी कहा जाता है। न्यायालय इनके अनुसार ही मुकदमे का निर्णय करती है। ऐसे कानूनों को मानना भी अनिवार्य है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय नियम:—अन्तर्राष्ट्रिय नियम वे कानून हैं जिनके द्वारा राज्यों का परस्पर सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है।

कानून के स्रोत

(१) रीति-रिवाज या प्रथायें व रूढ़ियाँ :—रीति-रिवाज का कानून बन जाने का मुख्य कारण यह था कि इनका निर्माण हमारी आवश्यकता के अनुसार किया जाता है, और धीरे धीरे वे विकसित होकर इतने उपयोगी प्रतीत होने लगते हैं कि उन्हें कानूनी मान्यता देनी पड़ती है। अर्थात् सामाजिक जीवन को सुगम बनाने के लिए बहुत सी ऐसी प्रथायें प्रचलित होती हैं जिन्हें कालान्तर में प्रजा आदर से ग्रहण करती है। प्रथायें प्रत्येक देश के सम्मिलित कानून का महत्वपूर्ण अंग हैं। कभी-कभी इन रीति-रिवाजों को, विधान सभा द्वारा, निर्मित कानून भी बना लिये जाते हैं।

(२) धर्मादेश:—सामाजिक व्यवस्था में धर्म महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रत्येक समुदाय अपने धर्म का पालन करता है। धार्मिक सिद्धान्तों ने रीति-रिवाज एवं सामाजिक नियमों के निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य किया है। धारा सभा धर्म-भावना के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाती है। धर्म एक अनन्त भावना है, जो मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती है। धर्म केवल जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र से ही सीमित नहीं है, वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों ही के नियमों को भी प्रभावित करता है। भारतवर्ष में मनुस्मृति, कुरान इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर कानून बनाये गये हैं। ईसाई, हिन्दू, मुसलमान, पारसी इत्यादि प्रत्येक धार्मिक समुदाय के पृथक कानून होते हैं। उस समाज के व्यक्ति अपने-अपने धर्म के कानूनों से शासित होते हैं विवाह, सम्पत्ति इत्यादि के कानून प्रायः धर्म ग्रन्थों पर ही निर्मित होते हैं।

(३) न्यायाधीश निर्मित नियम:—न्यायाधीशों की व्याख्या भी कानून का रूप धारण कर लेती है। सोच विचार कर बनाये हुये कानूनों में भी दोष रह जाते हैं। न्यायाधीश उनका स्पष्टीकरण करके उस पर

अपना निर्णय देते हैं। ऐसी व्याख्यायें भी कानून के समान महत्व रखती हैं। कभी-कभी न्यायाधीशों के समक्ष ऐसे मुकदमे आ जाते हैं जब न्यायाधीशों को फैसला करने के लिये अपनी बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसे समय वे नये कानूनों का सृजन करते हैं। निम्नश्रेणी के न्यायाधीश उच्चश्रेणी के न्यायधीशों के फैसले को स्वीकार करते हैं और उनके अनुरूप न्याय करते हैं। इस प्रकार के असंख्य कानून बनते रहते हैं।

(५) **शासक मण्डल द्वारा निर्मित कानून:**—धारा सभा द्वारा कानून बनाने में पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। इसलिए शासक मण्डल के उच्च अधिकारी को नियम बनाने का अधिकार प्राप्त होता है, जिससे की शीघ्राति-शीघ्र कानून बन जायं। इन्हें ऑर्डिनेन्स भी कहते हैं।

(६) **व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित कानून:**—धारा सभा को जनता के प्रतिनिधित्व के नाते कानून बनाने का अधिकार होता है। अधिकांश कानून धारा सभा द्वारा बनाये जाते हैं। अतः इनकी संख्या बहुत अधिक होती है। इन कानूनों को समस्त न्यायालय मान्यता प्रदान करते हैं।

(७) **वैज्ञानिक वाद विवाद:**—विद्वान, सामाजिक व्यवस्था पर विचार करते हैं और बड़े बड़े न्यायाधीश उस पर अपने न्याययुक्त विचार प्रकट करते हैं। ऐसे वैज्ञानिक वाद विवाद व टीकाओं के निचोड़ को जनता तथा सरकार मान्य करती है। न्यायाधीश इन टीकाओं को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। इन टीकाओं से भी नये नये कानूनों का निर्माण होता है तथा दोषपूर्ण कानूनों का सुधार अथवा स्पष्टीकरण होता है।

अच्छे व बुरे कानूनों में अन्तर:—कानून की बुनियाद क्या है ? कानून समाज को सुसंगठित व सुचारु रखने के लिए बनाये जाते हैं। सामाजिक आचरण के नियम ही कानून हैं। कानून सामाजिक जीवन को

सुन्दर सुसंगठित एवं नीतियुक्त बनाने के लिए होते हैं। स्वस्थ जीवन यापन की व्यवस्था ही कानूनों की कसौटी है। कानून का निर्माण राज्य में व्यवस्था रखने और नागरिक का जीवन समुन्नत बनाने तथा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के हेतु किया जाता है। कानून शासक और सरकार के हित साधन के लिए नहीं वरन् जनता के हित के लिये बनाये जाते हैं। अर्थात् कानून साध्य नहीं साधन है। कानून समुन्नत जीवन का साधन है। कानून की सृष्टि मनुष्य के लिये है। मनुष्य के बिना कानून की हस्ती नहीं है।

अच्छे कानूनों के लक्षण:—

(१) कानून पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायक हों तथा मनुष्य के सर्वोच्च जीवन का प्रतीक हों।

(२) व्यक्ति के जीवन को सुखी व समुन्नत बनाने में सहायक हों तथा जनता की इच्छा के अनुकूल हों। राज्य के समस्त नागरिकों का समान रूपसे नैतिक, आध्यात्मिक तथा समाजिक जीवन समुन्नत करने में सहायक हों।

(३) शासनवर्ग अथवा किसी विशेष श्रेणी के हित के साधक न हों।

(४) सामाजिक व नैतिक जागृति के अनुरूप हों। अर्थात् नागरिक केवल भय के कारण इनका पालन न करें, किन्तु यह अनुभव करें कि उसके हित व आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही कानून बनाये गये हैं।

(५) कानून कठोर व पक्षपाती न हों, तथा नागरिक के नैसर्गिक व नैतिक अधिकारों का हरण करने वाले न हों।

(६) जनहिताय बुद्धि से प्रेरित तथा बहुमत द्वारा निर्धारित हों।

(७) कानून न्यायपूर्ण, निष्पक्ष, भेदभाव रहित हों। प्रत्येक कानून धन,जाति, राष्ट्रीयता, उच्चकुल, रंग इत्यादि के भेदभाव के परे हों। अर्थात् ऐसे हों जिसे प्रत्येक नागरिक स्वेच्छा से पालन करने के लिये उद्यत हो।

(८) कानून के समक्ष प्रत्येक नागरिक का सामान अधिकार हो। अर्थात् किसी विशिष्ट आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक अंग को प्रोत्साहित करने के लिये अथवा उनके अधिकार हरण करने के निमित्त न बने हों। अर्थात् एकांगी हितसे प्रेरित होकर न बने हों। परन्तु सामूहिक तथा सर्वांगीण हित के प्रवर्तक हों। यही अच्छे कानून को कसौटी है। प्रत्येक राज्य को ऐसे कानून बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुस्थिति भिन्न है। अधिकांश राज्यों में कानून जनता के रक्षक नहीं हैं। वे शासक व सरकार के हित की रक्षा की ओर अधिक ध्यान देते हैं। जनता के हित की ओर कम ध्यान देते हैं।

कानून और नीतिः—नैतिक उत्थान ही प्रत्येक राज्य का अन्तिम ध्येय है। प्रजा की सर्वांगीण उन्नति का मूल साधक राज्य ही है। इस दृष्टिकोण से राज्य को अच्छे कानून बनाकर साकार सक्रीय रूप से नैतिक उत्थान की ओर अग्रसर होना चाहिये। राज्य के बिना नैतिक जीवन सम्भव ही नहीं है। नीति मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन, व्यक्ति के विचार उद्देश्य भावना इत्यादि सभी क्षेत्रों को आच्छादित करती है। अर्थात् नीति-शास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के आचरण आते हैं। परन्तु कानून का सम्बन्ध मनुष्य के बाहरी कार्यों से होता है। कानून मनुष्य के उन्हीं कार्यों पर निषेध लगाता है जो समाजहित में बाधक हो। कानून का उद्देश्य यही है कि मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करे। इसलिये कानून व नीति में घनिष्ट सम्बन्ध है। कानून तभी लाभ-प्रद व प्रभावपूर्ण हो सकता है जब वह नैतिक विचारों के आधार पर बना हुआ हो।

फिर भी कानून और नीति में कुछ अन्तर भी है। कानून के उल्लंघन के लिये राज्य व्यक्ति को दण्ड देता है। परन्तु अनैतिक व्यवहार के लिए राज्य दण्ड नहीं दे सकता है। जनता केवल विरोधात्मक निषेध दिखला सकती है। दगाबाजी, झूठ बोलना, अकृतज्ञता, विश्वासघात, डाह, नीचता

इत्यादि अनैतिक है। परन्तु अवैधानिक नहीं। यदि उपरोक्त अनैतिक व्यवहार द्वारा कानून का उल्लंघन हो अथवा उसके द्वारा अन्य नागरिक पर आघात हो तभी वह राज्य के कानून के पंजे में आ सकता है, अन्यथा नहीं। राज्य झूठ बोलनेवाले को रोक नहीं सकता है किन्तु जब व्यक्ति झूठ बोलकर समझौते को तोड़ देता है तब वह व्यक्ति कानन के चंगुल में आ जाता है। कानून मनुष्य के बाह्य आचरण जिससे अन्य व्यक्ति का नुकसान होता हो उसे दण्ड द्वारा रोकता है। परन्तु नीति मनुष्य के आन्तरिक भावनाओं से सम्बन्धित है। अर्थात् मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित है। चोरी, डकैती, खून, बलवा इत्यादि बाह्य आचरण कानून द्वारा रोके जा सकते हैं परन्तु मनुष्य की अन्तःकरण की कुप्रवृत्तियाँ जैसे लोभ, मोह, मद, मत्सर, क्रोध इत्यादि को रोकना राज्य के शक्ति के परे है। ये सब नीति के अन्तर्गत हैं। अतः नीति के मार्ग पर चलना न चलना प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण की प्रेरणा पर निर्भर है। जनमत केवल इन कुप्रवृत्तियों का निषेध कर सकता है। उसी प्रकार झूठ बोलना गाली देना, दूसरे के प्रति बुरे विचार रखना अनैतिक है कानून के विरुद्ध नहीं! परन्तु बिना बत्ती के साइकिल चलाना, रास्ते के दाहिनी ओर से चलना, दूसरे की जमीन पर दखल करना, तेजी से गाड़ी चलाना इत्यादि अनैतिक नहीं वरन् कानून के खिलाफ कार्य हैं। नीति अन्तःकरण की कुप्रवृत्तियों को भी परिमार्जित करना चाहती है। कानून केवल बाह्य आचरण को रोकना चाहता है। अतः कानून राज्य की प्रभु-शक्ति द्वारा दबाव डालता है। दबाव से मनुष्य नीतिवान नहीं बन सकता है। राज्य समाज के नैतिक विचारों के अनुकूल कानून बनाता है। समाज के नैतिक विचारों में भी देश व काल के अनुसार परिवर्तन होता जाता है। किसी समय में बाल-विवाह नीति युक्त था। आधुनिक हिन्दू समाज में यह अन्यायपूर्ण एवं अनीतिपूर्ण समझा जाने लगा है।

क्या राज्य मनुष्यों को नीतिवान बना सकता है? प्रत्यक्ष रूप से अथवा दबाव से नहीं। राज्य केवल अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक शिक्षा द्वारा, राज्य के

कर्मचारियों के नैतिक आचरण द्वारा नैतिक आचरण को प्रोत्साहन देकर समाज व राष्ट्र में नैतिक वातावरण लाने के लिये प्रयत्नशील हो सकता है। अर्थात् राज्य प्रत्यक्ष रूप से जनता को नीतिवान नहीं बना सकता है। परन्तु अनैतिक व्यवहार के कारणों को हटाकर अथवा कम करके नैतिक वातावरण लाने का प्रयत्न कर सकता है। जैसे आर्थिक राजनैतिक व सामाजिक समानता, स्थापित करके, असमानता द्वारा उत्पन्न हुये मनुष्य-जीवन के विविध संघर्षों को कम करके राज्यनैतिक ध्येय की ओर अग्रसर हो सकता है। क्योंकि अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ कुछ हद तक जन्मजात हैं। परन्तु कुछ हद तक बाहरी परिस्थिति, बाहरी वातावरण जीवन के संघर्ष के कारण भी द्विगुणित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ एक गरीब व्यक्ति भूख से व्याकुल होकर चोरी करता है भूठ बोलता है। मनुष्य की लालच व लोभ दूसर की उपभोग की सामग्री देख कर ही द्विगुणित होती है। जब व्यक्ति कुटुम्ब की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति करने में अपने आप को असहाय पाता है तब उसकी क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार परिस्थिति के कारण भी मनुष्य अनीति के मार्ग पर अग्रसर होता है। अधिक से अधिक समानता पर यदि राज्य व समाज की रचना की जाय तो इन सब कुप्रवृत्तियों का समूल नाश तो नहीं होगा। किन्तु यह बहुत हद तक घट जायेंगी।

अध्याय ६

राज्य के उद्देश्य

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में अनेकों मत प्रचलित हैं। देश और समय के अनुसार इसके विषय में अनेकों सिद्धान्त प्रचलित हैं। इस कारण राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में भी भिन्न मत हैं। राज्य के उद्देश्य तथा कार्य क्षेत्र के विषय में दो मुख्य विचार धाराएँ हैं। जो विद्वान राज्य को हित-कारिणी संस्था समझते हैं वे राज्य को व्यक्ति, देश, समाज तथा समुदायों के उन्नति के लिये परमावश्यक साधन मानते हैं। इसलिये ये विद्वान राज्य को जनहितार्थ विस्तृत कार्यक्षेत्र का भार सौंपने के पक्ष में हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान राज्य को अहितकर संस्था समझते हैं। वे राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत ही सीमित रखने में विश्वास करते हैं।

सूक्ष्मरूप से विचार करने से मालूम पड़ता है कि राज्य एक उच्चतम स्वाभाविक समुदाय है। राज्य के बिना मनुष्य जीवन अस्थायी भयप्रद और जंगली हो जायगा। स्वभावतः ही मनुष्य को कानून सुव्यवस्था तथा अनु-शासन प्रिय है। निरन्तर अराजकता से वह ऊब उठेगा। क्योंकि उसका जीवन तथा सम्पत्ति खतरे से खाली नहीं रहेगी। विचार करने से मनुष्य के स्वभाव में ही राज्य के उत्पत्ति के कारण मिलते हैं। साथ ही साथ मनुष्य के विकास के लिये, मनुष्य के स्वाधीनता के लिए, संस्कृति तथा सभ्यता के विकास के लिए राज्य आवश्यक सा प्रतीत होता है। राज्यकीय संगठन को स्थायी रखने के लिए व्यक्ति के राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं, और व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए राज्य व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान करता है। इस प्रकार राज्य और व्यक्ति दोनों ही साध्य और साधन

हैं। इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। राज्य स्वाभाविक संस्था है क्योंकि सार्वजनिक मतानुसार राज्य सरकार की स्थापना करता है।

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ प्राचीन तथा आधुनिक विचार

(१) हिन्दू राजनैतिक विद्वानों के अनुसार (अ) प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है (ब) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही राज्य का उद्देश्य है।

(२) ग्रीक विद्वानों के अनुसार जीवन, उत्तम, स्थिर तथा सफल बनाना ही राज्य का उद्देश्य है।

राज्य का उद्देश्य मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए तथा नैतिक जीवन को स्थिर तथा उच्चतर बनाने के लिए ही राज्य की उत्पत्ति है।

योरोप के राजनीतिज्ञों के राज्य के उद्देश्य के विषय में ये विचार हैं।

(३) जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा ही राज्य का उद्देश्य है।

(४) व्यक्ति के अधिकारों पर आघातों से व्यक्ति की रक्षा करना ही राज्य का उद्देश्य है।

(५) राज्य के अधिकाधिक व्यक्तियों के अधिकाधिक सुख की व्यवस्था करना ही राज्य का उद्देश्य है।

(६) अधिकतम सामाजिक हित की व्यवस्था करना तथा व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए अवसर देना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य है।

(७) पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने वक्तव्य में कहा है कि सार्व जनिक क्षेम मङ्गल और कल्याण ही भारत राष्ट्र का प्रमुख उद्देश्य है।

राज्य के उद्देश्य के विषय में अनेकों सिद्धान्त हैं।

नीचे कुछ मुख्य सिद्धान्तों पर विचार किया जायगा।

अराजकवादः—इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य को निष्फल तथा हानिकारक सस्था समझते हैं। इस सिद्धान्त के सर्थमक राज्य की आलोचना करते हुए कहते हैं कि राज्य की स्थापना एक विशिष्ट वर्ग के हित की रक्षा के लिए होती है। राजनैतिक कानूनों और बन्धनों से राज्य व्यक्तित्व का समुच्यय नाश करता है। शक्ति और दण्ड के भय के कारण राज्य का अस्तित्व सम्भव है। अर्थात् व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा विकास के लिये राज्य में कोई स्थान नहीं है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग बन्धन तथा नियन्त्रण से रहित समाज में ही सम्भव है। अपने कथन की पुष्टि करने के लिये अराजकवादी प्रकृति से दृष्टान्त लेते हैं। उनका कथन है कि हाथियों तथा चीटियों का समाज सर्वशक्तिमान राज्य-सत्ता के बिना ही संगठित किया जाता है। पशु, पक्षी इत्यादि के समाज की बुनियाद प्रेम, एकता और परस्पर सहयोग ही है। उनका कथन है कि मानव समाज भी इसी बुनियाद पर संगठित किया जा सकता है। राज्यदण्ड तथा राज्य का बल प्रयोग ही मनुष्य में दुष्टता तथा असामाजिक प्रवृतियों का संचार करता है। अराजकवादियों के अनुसार राज्य संगटन की बुनियाद शक्ति, दण्ड, शोषण वर्ग विभाजन, शासकवर्ग, नैतिक तथा धार्मिक बन्धन हैं। परन्तु अराजकवादी राज्य विहीन समाज का सुखस्वप्न देखते हैं। जिसकी बुनियाद एकता, प्रेम, पूर्ण एवं असीमित स्वतन्त्रता तथा परस्पर सहयोग ही होगी।

राज्यविहीन समाज के कार्य समुदायों द्वारा संचालित होंगे। मनुष्य अपने आवश्यकतानुसार विभिन्न समुदायों का संगटन करेगा। इन समुदायों का सदस्य होना न होना व्यक्ति पर निर्भर रहेगा। इस प्रकार की समाज रचना ही मनुष्य को सुख समृद्धि तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करेगी।

अराजकवादियों की विचार धारा एकांगी है। वे राज्य के एक ही पहलू पर दृष्टि डालते हैं। अर्थात् वे शक्ति तथा बल प्रयोग पर ही जोर देते हैं। यह मानी हुई बात है कि राज्यसत्ता कुछ हद तक शक्ति तथा

बलप्रयोग पर निर्भर है। सहयोग साथ रहने की इच्छा इत्यादि भी राज्य संचालन में बहुत बड़ा हाथ रखते हैं। इसके अलावा मानव समाज में व्यक्ति समुदाय तथा संस्थाओं के परस्पर सम्बन्ध को स्थिर करने के लिये एक सर्वोच्चशक्ति की आवश्यकता है, जो सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण को ग्रहण करे तथा निष्पक्ष भावना से सावजनिक हित का प्रयत्न करे। मनुष्य की आवश्यकतायें इतनी अनन्त हैं, तथा इतनी जटिल होती जाती हैं कि केवल स्वेच्छा पर अवलम्बित समुदायों द्वारा सब मनुष्य की सब आवश्यकताओं की पूर्ति यथायोग्य कदापि नहीं हो सकती है। अराजकवादियों का सबसे बड़ा दोष है अतिशयोक्ति। राज्य के सब कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं हैं। परन्तु राज्य व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायक है। अनियन्त्रित स्वतन्त्रता ही व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता के उपभोग में बाधक है। अराजकवादियों के लिये स्वतन्त्रता का अर्थ है अनियन्त्रित, असीमित जीवन यापन। व्यवहारिक दृष्टि से ऐसी स्वतन्त्रता असम्भव तथा हानिकारक है।

(२) **व्यक्तिवादः**—मनुष्य जीवन को सफल, सुरम्य और उन्नत बनाने के लिये मनुष्य जीवन में सबसे मूल्यवान वस्तु है स्वतन्त्रता। प्रत्येक व्यक्ति को इसका पूर्ण उपभोग करने का अवसर प्राप्त होना चाहिये। स्वतन्त्रता का अर्थ है नियन्त्रण, दबाव अथवा हस्तक्षेप रहित जीवन। परन्तु व्यक्तिवादी अराजकवादियों की तरह अव्यवहारिक नहीं हैं। वे इस बात को समझते हैं कि राज्यविहीन समाज की रचना व्यवहारिक रूप से सम्भव नहीं है वे समाज की समीक्षा इस प्रकार करते हैं। समाज में निर्बल तथा सबल दोनों ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं, और सबल निर्बलों की स्वतन्त्रता का हरण करते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति में लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार इत्यादि प्रवृत्तियाँ भी मौजूद हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण करता है। इसी कारण समाज में चोर, डाकू इत्यादि भी पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त समाज की रचना व्यक्ति के पूर्ण विकास तथा सर्वाङ्गीण विकास के लिये ही होती है। समाज का निर्माण व्यक्ति द्वारा ही होता है और उसका उद्देश्य व्यक्ति का हित और कल्याण ही है। व्यक्ति अपने अधिकारों का पूर्णरूप से उपभोग करे, यही समाज रचना का मुख्य उद्देश्य है।

इन सब कारणों से व्यक्तिवादी राज्य को एकदम हटाने के पक्ष में नहीं हैं। वे राज्य को "आवश्यक तथा अनिवार्य बुराई समझते हैं।" उनके कथनानुसार वही सरकार अच्छी सरकार है। जिसका शासन क्षेत्र सीमित हो। व्यक्तिवादी कहते हैं कि राज्य का क्षेत्र उतना ही होना चाहिये जितना परमावश्यक है। अर्थात् व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये राज्य के शासन तथा अधिकारों की सीमा बहुत ही संकुचित होनी चाहिये। जितना ही राज्य शासन का क्षेत्र कम होगा उतना ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र अधिक होगा। इस प्रकार व्यक्तिवादी राज्य का व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप अवांछनीय समझते हैं।

व्यक्तिवाद के प्रमुख विद्वान हर्बर्ट स्पेन्सर का कथन है राज्य को केवल निम्नलिखित विषयों की ही व्यवस्था करनी चाहिये जैसे अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करना, समझौते की शर्तों को मानने का प्रवन्ध करना, शान्ति स्थापन करना और नागरिकों की रक्षा करना। राज्य को किसी प्रकार के लोकहित कार्य करने का अधिकार नहीं होना चाहिये और राज्य को व्यक्ति के मानसिक, बौधिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक उन्नति में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार नहीं होना चाहिये। क्योंकि इन कार्यों का दायित्व तो व्यक्ति स्वयं ही ले सकता है। इन कार्यों का प्रबन्ध करने से राज्य व्यक्ति के स्वतन्त्रता तथा विकास में बाधा डालता है।

व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य के केवल तीन ही कर्त्तव्य हैं (१) पुलिस और सेना की व्यवस्था करना (२) न्यायालयों का संगठन करना

(३) मनुष्य के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना। राज्य को शिक्षालय खोलना, चिकित्सालय खोलना, गरीबों की सेवा करना, समाज सेवा करना, समाज की कुरीतियों को दूर करना इत्यादि कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इन कार्यों मे हस्तक्षेप करने से राज्य केवल व्यक्ति के विकास को ही कुंठित नहीं करता है। वरन व्यक्ति के व्यक्तित्व का समूल नाश करता है।

योरोप के विभिन्न सरकारों के बन्धनों तथा नियन्त्रणों के प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्तिवाद की उत्पत्ति हुई है। व्यक्तिवाद १८ वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के बाद फैला मिल, स्पेन्सर, एडम स्मिथ, माल्थस इत्यादि इसके समथक हुये। इस सिद्धान्त पर पाँच दृष्टिकोण से विचार किया जाता हैं।

(१) **वैज्ञानिक दृष्टिकोण:**—व्यक्तिवादी कहते हैं कि जीव-जगत में जीवन रक्षा के लिये संघर्ष होता रहता है। जीव जगत में इस संघर्ष का परिणाम यह होता है कि बलवान और योग्य जीव जीवित रहते हैं और निर्बल व अयोग्य जीवों का संहार होता है। अर्थात् जीव जगत में ऐसे ही जीव जीवित रह सकते हैं जो इस संघर्ष में प्रकृति की शक्तियों पर विजय पा चुके हैं। इस सिद्धान्त को "प्राकृतिक निर्वाचन" सिद्धांत कहते हैं। इसी सिद्धान्त को हर्बर्ट स्पेन्सर मानव समाज पर लगाता है। इसके फलस्वरूप राज्य में योग्य व्यक्ति ही जीवित रहेंगे और अयोग्य व्यक्ति का नाश होगा। स्पेन्सर के कथनानुसार राज्य मूर्ख, निर्धन, बीमार, अयोग्य तथा निर्बलों की सहायता करके उन्हें जीवित रहने की सुविधा प्रदान करता। यह मानव समाज के लिए हानिकारक है। यह नीति मानव समाज में अड़चनें पैदा करेगी। इससे "प्राकृतिक निर्वाचन" में बाधा पड़ेगी। फलतः राज्य के हस्तक्षेप से पूर्णतया अथवा आंशिक अयोग्य व्यक्ति भी जीवित रहेंगे। इससे समाज की अवनति होगी। समाज अयोग्य व्यक्तियों से भर जायगा। इससे

योग्य व्यक्तियों को उन्नति करने का अवसर कम मिलेगा। अयोग्य व्यक्ति कभी भी आत्मनिर्भर नहीं हो सकेंगे। फलस्वरूप राज्य की शक्ति इन्हीं की देख-भाल में बँट जायगी। दूर दृष्टि से देखने से इस नीति का परिणाम राज्य, व्यक्ति, तथा समाज के लिये हानिकारक होगा।

(२) **नैतिक दृष्टिकोण:**—चरित्र तथा व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वतन्त्रता अवश्यंभावी है। स्वतन्त्रता ही मनुष्य में सोचने और कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करती है। स्वतन्त्रता ही उसमें आत्मनिर्भरता आत्मविश्वास, साहस इत्यादि भावनाओं को विकसित करती है, और उसके अन्दर वास करने वाली प्रेरणाओं को प्रदीप्त करती है। व्यक्ति, समाज, तथा राज्य के लिए दूसरे पर निर्भर रहने की भावना घातक तथा हानिकारक है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति का विकास कुण्ठित हो जाता है। वह आलसी तथा निकम्मा हो जाता है। उसकी बुद्धि कुन्द हो जाती है और उसकी खोज तथा नवीन विचार करने की प्रेरणा मृतःप्राय हो जाती है। क्रमशः ऐसा व्यक्ति राज्य और समाज के लिए भार स्वरूप हो जाता है। समाज का विकास सहस्रोन्मुखी होना चाहिये। परन्तु राज्य के नियन्त्रण तथा नियमितता के कारण व्यक्ति की विभिन्नता लोप हो जाती है। राज्य के हर एक प्राणी में एकरूपता आ जाती है। मनुष्य निर्जीव पदार्थ की तरह जीवनयापन करने लगता है।

प्रत्येक व्यक्ति का अलग व्यक्तित्व तथा अपनी अलग विशेषता होती है। पारस्परिक संघर्ष से ही मनुष्य अपनी शक्तियों को पूर्ण रूप से विकसित कर सकता है। क्योंकि संघर्ष से ही उसकी सब शक्तियों का विकास हो सकता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेषता का पूर्ण विकास कर सकता है। परन्तु राज्य सबको एक ही ढाँचे में ढालने का प्रयत्न करता है फल स्वरूप व्यक्ति तथा समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(३) **आर्थिक दृष्टिकोण:**—प्रत्येक व्यक्ति अपना आर्थिक लाभ तथा हानि भली प्रकार समझता है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों को पूर्ण

स्वतन्त्रता देने से व्यक्ति अपना अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। व्यक्ति के लाभ में ही समाज का लाभ निहित है। व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने से समाज की आर्थिक उन्नति अवश्यं भावी है।

व्यक्तिवादी इस प्रकार भी तर्क करते हैं, अर्थ वृद्धि तथा अर्थ संचय के के लिए व्यापारिक तथा औद्योगिक स्वतन्त्रता परमावश्यक है। शंकाविहीन आर्थिक परिस्थिति में अथवा स्वतन्त्र आर्थिक वातावरण में ही उत्पादन की वृद्धि हो सकती है। अधिक उत्पादन से सस्ती, अच्छी और प्रर्याप्त मात्रा में वस्तुओं की प्राप्ति हो सकती है। पूंजीपति स्वतन्त्र वातावरण ही में—जहाँ आयात-निर्यात् का नियन्त्रण न हो, जहाँ व्यापार पर अत्यधिक कर न हो—ऐसी स्थिति में ही अधिक से अधिक पूंजी लगाने के लिए उद्यत होंगे। इससे समाज और राज्य के आर्थिक जीवन की वृद्धि तथा समृद्धि होगी। इससे करोड़ों मजदूरों को उपजीविका का साधन प्राप्त होगा। प्रतियोगिता ही व्यवसाय, उद्योग धन्धों और व्यापार का गुरुमन्त्र है। राज्य नियन्त्रण द्वार, तथा रोक टोक द्वारा इस प्रेरणा का नाश करता है। इससे व्यक्ति का, राज्य का, समाज का, पूंजीपतियों का, मजदूरों का, सभी का अहित होता है। यही आर्थिक रुकावटें मनुष्य को काला बाजार और अन्य कुमार्गों को ओर प्रवृत करती हैं।

(४) **ऐतिहासिक दृष्टिकोण**—व्यक्तिवादी इतिहास से उदाहरण लेकर दिखलाते हैं कि जब-जब राज्य ने आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में नियन्त्रण अथवा रुकावटों की नीति का प्रयोग किया है। तब-तब प्रजा की ओर से विरोध अथवा उस नीति को निष्फल बनाने का प्रयत्न हुआ है। उदाहरणार्थ जब आप किसी को कोई पुस्तक पढ़ने से अथवा कोई बात सुनने से रोकते हैं तब उस व्यक्ति का कौतूहल बढ़ जाता है, घटता नहीं है। उसी प्रकार यह मानसिक शास्त्रका नियम है कि दबाव से प्रतिक्रिया-

त्मक शक्तियों को बल मिलता है। भारत में ही अन्न वस्त्र के प्रतिबन्ध की नीति लीजिये। इस नीति से काला बाजार, घूसखोरी और मूल्य की वृद्धि ही हुई है। अतः भारत सरकार अपनी नियन्त्रण नीति में असफल रही है। अतएव सामाजिक व आर्थिक नियन्त्रण व कंट्रोल राष्ट्र के लिए अहितकर ही हुए हैं।

(५) **व्यवहारिक दृष्टिकोण**:—(१) मनुष्य स्वभावतः ही स्वार्थी होता है। इसलिये वह स्वयं अपने हित और अहित को समझ सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वाथ की पूर्ति करनेकी योग्यता रखता है। सरकार एक विशाल संस्था है। इसलिये वह प्रत्येक व्यक्ति के स्वार्थ को समझने में अतः उसकी पूर्ति में असमर्थ है।

(२) इसके अलावा यदि राज्य सभी कार्यभार अपने ऊपर ले लेगा तो राज्य का कार्यभार अत्याधिक बढ़ जायगा जिसे वह सम्हाल नहीं सकेगा। परिणामस्वरूप कार्य में विलम्ब भी होगा, और बहुत से ऐसे कार्य होगें जिसे करने के लिये राज्य को समय ही नहीं मिलेगा अर्थात् राज्य व्यक्ति के हित का पूर्ण रूपसे सम्पादन कर ही नहीं सकता है।

(३) व्यवहारिक रूपसे देखते हुये व्यक्तिवादियों का कथन है कि आखिरकार राज्य को सब का राज्यकर्मचारियों द्वारा ही करने पड़ते हैं। क्या राज्य की कर्मचारी का पद ग्रहण करने से ही उनमें अधिक योग्यता आ जाती है? इसके अतिरिक्त राजकीय कार्यों की सफलता में राज्यकर्मचारी का व्यक्तिगत लाभ तो होता ही नहीं है इसलिये व्यक्तिवादियों का कथन है कि निजी लाभ, निजी सफलता तथा आत्मस्वार्थ कार्य की सफलता के लिए शक्तिशाली प्रेरणा है। इस मौलिक प्रेरणा का अन्त कर देने से राज्य और समाज की हानि होगी।

(४) राज्य-कर्मचारियों में मितव्यता, ईमानदारी कार्य-दक्षता इत्यादि गुणों का संचार हो ही नहीं सकता है। सर्वप्रथम तो राज्य

कार्यों को वे निजी कार्य नहीं समझते हैं। क्योंकि राज्य के व्यवसाय अथवा कारबार के वृद्धि से उनको कोई विशेप आर्थिक पुरस्कार तो नहीं मिलता है। इस कारण अधिकतर राज्य कर्मचारियों के कार्य में शिथिलता, देख-रेख की कमी इत्यादि अवगुण दृष्टिगोचर होते हैं।

(५) अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आज तक संसार के सब अविष्कार, खोज, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक इत्यादि कार्य व्यक्ति विशेष की प्रेरणा से ही हुये हैं। राज्यकर्मचारियों द्वारा क्वचित ही हुये हैं। इसके अतिरिक्त राज्य के उद्योग तथा व्यवसाय की असफलता का व्यापक परिणाम होता है। परन्तु व्यक्ति की असफलता अथवा अक्र-मण्यता का सीमित परिणाम होता है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना :—

(१) व्यक्तिवाद की बुनियाद ही गलत है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है व्यक्ति-वादियों का यह कथन है कि व्यक्ति का हित तथा राज्य और समाज का हित प्रतिस्पर्द्धी तथा विपरीत है। यह अतिशयोक्ति है। स्पेन्सर का कथन है कि संसार में दुराचार, दुष्टता तथा कुकर्म पाया जाता है। अतएव राज्य संगठन केवल इनके दमन के लिये ही होता है। आदर्श समाज में जब अनाचार ही नहीं रह जायेगा तो राज्य की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। व्यक्तिवाद की यह सर्वप्रथम भूल है कि वे राज्य को दुराचार का दमन तथा नियन्त्रण का साधन मात्र समझते हैं। वे केवल राज्य की नकारात्मक शक्ति को ही देखते हैं। परन्तु सूक्ष्मरूप से देखने से मालूम देता है कि राज्य संस्कृति, सभ्यता का पोषक तथा सहायक भी है।

(२) मनुष्य की बहुत सी आवश्यकतायें सामूहिक रूप से ही पूरी की जा सकती है। सभ्यजीवन, नैतिक जीवन तथा व्यक्ति का पूर्ण विकास

सकारात्मक वातावरण में ही प्रस्फुटित हो सकता है। इस कारण व्यक्ति और राज्यों के हितों में सर्वथा विरोध देखना ठीक नहीं है।

(३) व्यक्तिवादी यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति, व्यक्ति पर निर्भर है और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर निर्भर है। यातायात के सुगम साधनों के कारण राष्ट्रों का परस्पर सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रों के परस्पर सहयोग से ही आर्थिक बौधिक जीवन सफलीभूत हो सकता है। समाज के आर्थिक जीवन पर व्यक्तिवाद सिद्धान्त के कारण दुष्परिणाम हुआ है। १९ वीं शताब्दी में व्यक्तिवाद सिद्धान्त के कारण मिल-मालिकों पर कोई नियन्त्रण नहीं रक्खा गया था। इस कारण राष्ट्रों में एक तरफ ऐश आराम में रहने वाले पूँजीपति तथा दूसरी ओर मजदूरों में अत्याधिक दरिद्रता, काम के अधिक घंटे तथा कम वेतन के कारण होने वाली दुर्दशा नजर आती है। इस शोचनीय परिस्थिति को देख कर सरकार को हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो जाता है।

(४) व्यक्तिवादियों का यह भ्रमपूर्ण विचार है कि यदि राज्य हस्तक्षेप न करे तो व्यक्तियों को प्रत्येक क्षेत्र में समानरूप से उन्नति करने का अवसर मिलेगा। क्योंकि राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि, सम्पत्ति, बल, इत्यादि एक समान नहीं होती है। ऐसी असीमित स्वतन्त्रता का परिणाम यही होगा कि बलवान व्यक्ति निर्बलों को दबायेंगे। इस कारण कुछ हद तक राज्य का नियन्त्रण हितकर ही होगा।

(५) कानून और सरकार के नियन्त्रण के बिना स्वतन्त्रता शाब्दिक अर्थ में ही रह जायेगी। कानून-बद्ध स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप है। व्यक्तिवादी राज्य को एकांगी दृष्टिकोण से देखते हैं जब राज्य के सब कानूनों को अकल्याणकारी समझते हैं। अनिवार्य शिक्षा, सफाई, व्यापार नियन्त्रण इत्यादि कार्यों के संगठन से राज्य ने व्यक्ति का कल्याण ही किया है।

अतः राज्य और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। इष्ट तथा हितकर कार्य करने की सुविधा ही स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ है।

(६) यह कथन सत्य नहीं कि हरेक व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति स्वंय ही कर सकता है। यदि यह सत्य है तो देश में बेकारी दरिद्रता होनी ही नहीं चाहिये। संसार में प्रायः यह देखा गया है कि चालबाज लोग सीधे सादे लोगों को मूर्ख बना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। ऐसे दुष्टों से व्यक्ति की रक्षा करने के लिये राज्य की आवश्यकता है। व्यक्ति-वादी यह भी कहते हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित का साधन करेगा तो समाज का हित होगा। परन्तु यह भी सत्य नहीं क्योंकि एक के हित में दूसरे का अहित भी हो सकता है।

(७) व्यक्तिवादी का कथन है कि 'प्राकृतिक निर्वाचन' के अनुसार अयोग्य व्यक्ति नष्ट हो जायेंगे, और योग्य व्यक्ति बच जायेंगे। अर्थात् जिन व्यक्तियों में शारीरिक बल है वे व्यक्ति ही जीवित रहेंगे। परन्तु क्या शारीरिक बल ही योग्यता का मापदण्ड है? शरीर से दुर्बल व्यक्ति अपनी बुद्धि से, अपनी कला से, विज्ञान के शोध से अनेकों प्रकार से राज्य की सेवा कर सकता है। इसलिये "प्राकृतिक निर्वाचन" का सिद्धान्त पशुओं के लिये लागू हो सकता है, मनुष्यों के लिये नहीं। अपितु असहायों की रक्षा और सहायता करना मानव-धर्म है।

(८) कदाचित् राज्य कुछ सार्वजनिक व्यवसायों तथा कार्यों में असफल रहा होगा। परन्तु रेल, तार, डाक, सार्वजनिक शिक्षा इत्यादि कार्यों के संगठन में राज्य सफल भी रहा है, और ये कार्य समाज के लिये हितकर भी हुये हैं। राजकीय कार्यों में यह माना कि व्यय अधिक होता है और राज्य-कर्मचारी राजकार्य को यथायोग्य नहीं करते हैं। यह त्रुटियाँ होते हुये भी राज्य के सार्वजनिक कार्य सार्वजनिक हित साधक हुये हैं। व्यक्तिगत व्यवसायी अर्थ के लोभ से जनता से अनुचित फायदा उठाते हैं।

इससे जनता को अत्याधिक कष्ट पहुँचता है। राज्य इस प्रकार से अनुचित लाभ नहीं उठाता है।

(६) राज्य कार्यों की असफलता तथा राज्य कर्मचारियों की कुछ हद तक अकर्मण्यता को मानते हुये भी इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य हैं जो व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता है। राज्य को सार्वजनिक रूप से ही उन कार्यों को बहुत बड़े पैमाने पर संगठित करना ही पड़ता है। जैसे रेल, तार, डाक इत्यादि। भूतकाल के अनुभवों से इन कार्यों में जो त्रुटियाँ पाई गई हैं उन्हें सुधारना चाहिये। राज्यकार्यों को दक्षता तथा सतर्कता से संगठित करना चाहिये।

राज्य के अत्याधिक हस्तक्षेप के कारण ही व्यक्तिवाद का उदय हुआ है। व्यक्तिवाद ने व्यक्ति के महत्व को, व्यक्ति स्वतन्त्रता के महत्व को, उच्च-स्वर से घोषित करना प्रारम्भ किया है। इस प्रचार के कारण प्रत्येक क्षेत्र में राज्य के नियन्त्रण शिथिल होने लगे हैं। परिणाम स्वरूप कुछ बुद्धि-मान तथा चालाक व्यक्ति राज्य के इस शिथिलता का लाभ उठाकर निजी स्वार्थ साधन की ओर प्रवृत्त हुये हैं। अतः जनसमुदाय के हितों का बलिदान हुआ है। क्रमशः अधिकाधिक मात्रा में कुछ व्यक्तियों के हाथ में पूँजी केन्द्रित होने लगी है। इससे राज्य और समाज का समतुलन अस्थिर होने लगा है। एक ओर दरिद्रता और बेकारी दूसरी ओर धन-लालसा शोषण इत्यादि प्रवृत्तियाँ प्रचण्ड रूप धारण करने लगी हैं। आजकी वस्तुस्थिति यही है।

व्यक्तिवाद से निष्कर्षः—व्यक्तिवाद का सबसे बड़ा दुर्गुण है अतिशयोक्ति। परन्तु राज्य संगठन में व्यक्तिवाद के मौलिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखना उचित होगा। कदाचित विचारवान व्यक्तियों का उन सिद्धान्तों के यथार्थता पर मतैक्य हो सकता है।

(१) व्यक्ति अपने सुखों और आवश्यकताओं का निर्णय स्वयं कर सकता है। (२) मनुष्य प्रकृति को मध्यनजर रखते हुये यह कहा जा सकता

है कि स्वतन्त्रता तथा प्रतियोगिता से ही मनुष्य अधिक उन्नति कर सकता है। (३) साथ ही साथ राज्य को उसी हद तक हस्तक्षेप करना चाहिये जिससे समाज का समतुलन स्थिर रहे। आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में राज्य का कम से कम नियन्त्रण रहे जिससे ये विभिन्न क्षेत्र सुचारु रूप से चल सकें। अर्थात् व्यक्ति स्वतन्त्रता तथा राज्य के नियन्त्रण का एक अच्छा विवेकपूर्ण समतुलन होना चाहिये। दोनों का ही क्षेत्र व्यवहारिक दृष्टि से अथवा प्रौढ़ अनुभव के उपरान्त घटाया बढ़ाया जा सकता है। साथ ही साथ राज्य संगठन ऐसा हो कि वह मनुष्य में आत्म-निर्भरता स्वतन्त्रता इत्यादि गुणों की वृद्धि करने का अवसर प्रदान करे। अतः राज्य को निकृष्ट संस्था समझना अतिरंजन के दोष से दूषित है। अतः मनुष्य समाज में राज्य का भी स्थान है।

(२) समाजवाद—राज्य के कार्यक्षेत्र का दूसरा सिद्धान्त है समाजवाद। समाजवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है। समाजवाद राज्यकार्य को तथा व्यक्ति स्वतन्त्रता को विरोधी नहीं समझता है। समाजवाद व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है। राज्य के हित में ही व्यक्ति के हित का समावेश है और राज्य और व्यक्ति के परस्पर सहयोग पर ही दोनों का सुख और हित संभव है। समाजवादियों का विश्वास है कि व्यक्तिवाद समाज के लिए हानिकर सिद्ध हुआ है।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप समाज में विषमता बढ़ने लगी है। विज्ञान की सहायता से कल कारखाने उत्पादन के प्रमुख साधन बन गये हैं। क्रमशः इनके मालिक अत्याधिक पूँजी के मालिक बन गये हैं। शनैः शनैः पूँजीपतियों में पूँजी की लालसा अथवा अर्थ-पिपासा की वृद्धि होने लगी है। परिणाम स्वरूप शोषण काला बाजार, तथा अर्थवृद्धि और अर्थसंचय के लिए वैधानिक तथा अवैधानिक साधनों का उपयोग पूँजी-पतियों द्वारा होने लगा है। इसका परिणाम समाज के लिए बहुत ही

हानिकारक होने लगा है। आजकल समाज में दो दल नजर आते हैं—एक छोर पर पूँजीपति, जमींदार तथा बड़े-बड़े व्यवसायी हैं जो अपनी सब आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्त्ति के उपरान्त भोगविलास, ऐश-आराम की जिन्दगी बिताते हैं, और समाज की दूसरी छोर पर दरिद्र, निर्धन, बेकार भुखमरी से सन्तप्त प्रजा नजर आती है जिनको दिन में दो बार पर्याप्त अन्न भी नहीं मिलता है। पहली श्रेणी में केवल मुट्ठी भर व्यक्ति हैं और दूसरी श्रेणी में असंख्य जन समुदाय है। इसके अतिरिक्त किसान, मिलमजदूर एवं श्रमिक वर्ग, मिलमालिक, जमींदार एवं बड़े बड़े व्यवसायियों की शोषण वृत्ति से और अत्याचारों से पीड़ित तथा दुखी रहता है।

आज के समाज का यही चित्र है। समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के लिए ही समाजवाद की उत्पत्ति हुई है। इस सिद्धान्त के जनक कार्लमार्क्स हैं।

समाज के बुनियादी सिद्धान्त—(१)—समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त हैं न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भाईचारा का व्यवहार (२)—प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृतिक वस्तुओं का उपभोग करने का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। (३)—संपत्ति का उत्पादन तथा बँटवारा इस प्रकार से होना चाहिए कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक चिन्ता से मुक्ति मिले और वह अपने पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर सके और अपने भौतिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरी करके अपने जीवन को सुखमय बना सके। (४)—राज्य का प्रत्येक व्यक्ति राज्य और समाज के प्रति किसी न किसी रूप में अपने श्रम को दान करे। (५)—समाजवाद समाज की पुनः रचना करना चाहता है जहाँ पर उत्पादन के साधन, संपत्ति, भूमि, धन इत्यादि पर समाज का पूर्ण अधिकार हो और उसपर समाज का पूर्ण नियन्त्रण हो। (६)—इस आर्थिक साधनों का सामूहिक हित के लिए ही

उपयोग किया जाय जिससे समाज में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उनसे लाभ उठा सके।

उपरोक्त विचारों को सक्रिय रूप देने के लिए समाजवादी, सार्वजनिक हित संपादन के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमा को अधिकाधिक बढ़ाना चाहते हैं और राज्य को सार्वजनिक हित की संख्या में परिवर्तित करना चाहते हैं। समाजवादी राज्य के कार्यों को केवल पुलिस तथा रक्षा के कार्यों में सीमित रखने के विरोधी हैं। अतएव समाजवादी राज्य को नितान्त आवश्यक संस्था समझते हैं।

समाजवाद की स्थापना के लिए निम्नलिखित काय आवश्यक हैं—

१—समाजवादी वैयाक्तिक संपत्ति के विरोधी हैं, इस कारण वे वैयक्तिक संपत्ति को मूलतः नष्ट करना चाहते हैं।

२—सामूहिक हित के लिए उत्पादन के साधन जैसे भूमि, खानें, कल कारखाने तथा वितरण के साधन जैसे दूकानें, रेल, जहाज, बैंक, बीमा इत्यादि राज्य के अधिकार तथा नियन्त्रण में रखना चाहते हैं।

३—आर्थिक जीव का ध्येय वैयक्तिक संपत्ति की वृद्धि के बदले सामूहिक रूप से आर्थिक हित को संपादन करना ही होना चाहिए।

४—उत्पादन की सीमा केवल लाभ की दृष्टि से ही नहीं वल्कि सामूहिक आवश्यकतानुसार होनी चाहिए।

५—वर्णविहीन समाज की स्थापना होनी चाहिए।

६—संघर्ष तथा आर्थिक प्रतियोगिता की भावना के बदले परस्पर सहयोग की भावना को पुष्टि देना चाहते हैं।

७—उत्पादन तथा वितरण का ठीक-ठीक आर्थिक नियोजन करना चाहते हैं।

यह स्पष्ट है कि समाजवादी पूँजीवाद तथा आर्थिक शोषण के कट्टर विरोधी हैं। आज चारों ओर समाजवाद का ही बोलबाला है। संसार के अधिकांश व्यक्ति समाजवादी सिद्धान्त से सहमत हैं और राज्य का संगठन उन्हीं सिद्धान्तों पर करना चाहते हैं। परन्तु अधिकांश राज्य क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं चाहते हैं। इसलिए अधिकांश राज्य धीरे-धीरे समाजवादी सिद्धान्तों को राज्य-संगठन में स्थान दे रहे हैं।

संसार में समाजवाद के भिन्न-भिन्न रूप पाये जाते हैं। परन्तु अधिकांश समाजवादी कार्लमार्क्स को ही अपना गुरु मानते हैं। कार्लमार्क्स के अनुसार समाजवाद के ये चार सिद्धान्त हैं :—

(१) इतिहास का आर्थिक पहलू—मार्क्स के अनुसार सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति का एकमेव कारण है आर्थिक दशा में परिवर्तन। जैसे-जैसे मनुष्य नए-नए आविष्कारों द्वारा उत्पादन तथा वितरण के साधनों को बदलता है, वैसे-वैसे राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है अर्थात् सामाजिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिंब मात्र है। अतः उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राज्य तथा समाज की रचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस आर्थिक परिवर्तन के अनुसार ही न्याय, धर्म, सत्य, सदाचार, कानून, दर्शन इत्यादि की व्याख्या बदलती है। इसी प्रकार मत, संप्रदाय, आन्दोलन, आविष्कार, लड़ाई-झगड़े इत्यादि का मौलिक कारण अर्थ ही है। 'अर्थ' ही सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा मानसिक परिवर्तन का मूल कारण है। लोगों का रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-विचार, सभी आर्थिक परिस्थिति से प्रभावित, निश्चित एवं नियन्त्रित होते हैं अर्थात् सभ्यता संस्कृति तथा उन्नति का मूल आधार अर्थ ही है। समाजवादियों के अनुसार इतिहास की समस्त घटनाएँ और विभिन्न संस्थाओं का इतिहास आर्थिक व्यवस्था से पूर्णतया सम्बन्धित है तथा तद्रूप है। मार्क्स ने इतिहास के अलग-अलग काल को लेकर अपने आर्थिक सिद्धान्त की पुष्टि

की है। आधुनिक इतिहास की भी विवेचना इस प्रकार की जाती है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था में परिवर्तन अवश्यंभावी था। उत्पादन के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होने लगी अर्थात् समाज में पूँजीपतियों का महत्व बढ़ने लगा। इस आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव समाज रचना पर पड़ा और क्रमशः पूँजीपतियों का प्रभाव राजनैतिक व्यवस्था पर पड़ने लगा। औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम पूँजीवाद ही है। इस प्रकार समाजवादियों का कथन है कि मनुष्य के विकास की गाथा समाज के आर्थिक विकास की कहानी है। अथवा आर्थिक विकास की नींव पर ही मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का विकास निर्भर है।

(२) **शारीरिक परिश्रम का मूल्य**—मार्क्स का कहना है कि वस्तु का मूल्य, उसके परिश्रम की लागत पर आँका जाता है। इस सिद्धान्त में आंशिक सत्य है क्योंकि वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता और उस पर लगी हुई लागत से भी निर्धारित किया जाता है। मशीनयुग के पूर्व मनुष्य शारीरिक परिश्रम से ही सब वस्तुएँ तैयार करता था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हुआ है। आज-कल कल-पुर्जों द्वारा वस्तुएँ तैयार होती हैं। परन्तु आधुनिक उत्पादन के साधन इतने मूल्यवान होते हैं कि कुछ ही धनवान व्यक्ति अथवा कुछ ही पूँजीपति इनको संगठित अथवा नियोजित कर सकते हैं। फलतः कुछ ही पूँजीपतियों ने इन साधनों को अपने कब्जे में कर लिया है और इन कल पुर्जों द्वारा वे वस्तुओं का उत्पादन बहुत तेजी के साथ तथा बहुत कम खर्च में करने लगे हैं। पूँजीपति उत्पादन का कार्य श्रमजीवियों की मदद से ही करते हैं। प्रत्येक राज्य में श्रमजीवियों की तादाद अधिक मात्रा में होती है। उत्पादक के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के फलस्वरूप श्रमजीवी अपना श्रम पूँजीपतियों को बेचने के लिए बाध्य होते हैं क्योंकि इस वैज्ञानिक युग में कम लागत वाले अथवा छोटे उद्योग-धन्धे बड़े पैमानों के उद्योगों के सम्मुख आर्थिक प्रतिद्वन्दिता में टिक नहीं सकते हैं और बड़े

पैमानों के उद्योग-धन्धों में सबसे बड़ा लाभ यही है कि प्रत्येक तैयार वस्तु का मूल्य कम हो जाता है। विज्ञान के इस युग में श्रमजीवी को अपनी उपजीविका के लिए दो मार्ग खुले हैं (१) श्रमजीवी अपना निजी, छोटासा उद्योग शुरू करे। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आज के युग में यह लाभप्रद नहीं है। (२) दूसरा मार्ग यही है कि श्रमजीवी निर्धारित वेतन के बदले अपना श्रम पूँजीपति को बेंचे। अधिकांश श्रमजीवियों के लिए इस दूसरे मार्ग के अतिरिक्त जीविकोपार्जन के लिए और कोई साधन नहीं है अर्थात् कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए मजदूर अपना श्रम बेचने को बाध्य होता है।

(३) अनुचित मूल्य सिद्धान्तः—उपरोक्त स्थिति का परिणाम क्या होता है? धन के बल के कारण आर्थिक जगत में पूँजीपति का स्थान निश्चयात्मक तथा महत्वपूर्ण हो जाता है। तथा आर्थिक जगत में मजदूर का स्थान अनिश्चयात्मक तथा गौण हो जाता है। आर्थिक जगत में पूँजीपति सर्वे सर्वा हो जाता है और पूँजीपति मजदूर को परिश्रम का वास्तविक मूल्य न देकर कम से कम वेतन देने के प्रलोभन को रोक नहीं सकता है। साथ ही साथ प्रत्येक वस्तु के पीछे पूँजीपति निःसकोच भाव से अधिक से अधिक लाभ उठाता है। उदाहरणार्थ एक धोती पर श्रमजीवी १०) के बराबर कीमत का श्रम लगाता है तथा पूँजीपति मजदूर को उसके लिए १०) देता है। परन्तु पूँजीपति उसी वस्तु को १९ रुपये में बेचता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु के पीछे वह ९) का लाभ उठाता है। मार्क्स इन ९) रुपयों को "अनुचित मूल्य" कहता है। क्योंकि पूँजीपति मजदूरों की बेबसी का लाभ उठाकर श्रमजीवियों को उनके श्रम के अनुसार वेतन न देकर अनुचित लाभ लेता है। इस प्रकार वह श्रमजीवियों को केवल जीवित रहने भर के योग्य वेतन देता है। अतएव श्रमजीवियों के श्रम के फल का उपभोग पूँजीपति करते हैं और श्रमजीवी भूख और दरिद्रता के गर्त में पड़े रहते हैं। आधुनिक राज्य और समाज की नींव यह शोषण प्रवृत्ति ही है। राज्य

और समाज अपने कानूनों द्वारा अपने रीति-रिवाजों द्वारा इसका पुष्टिकरण करते हैं और इस प्रवृत्ति को मान्यता देते हैं। मार्क्स का कथन है कि जब तक समाज में परिवर्तन नहीं होगा अर्थात् जब तक उत्पादन के साधन समाज के हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण में नहीं होंगे तब तक श्रमजीवी इसी प्रकार शोषित होंगे और समाज द्वारा पीसे जायेंगे।

(४) **वर्गवाद**—उपरोक्त विचारानुसार मार्क्स समाज को दो वर्गों में विभाजित करता है। यन्त्र युग के पूर्व इन दोनों वर्गों में अधिक अन्तर नहीं था, इसलिए इन वर्गों में संघर्ष भी नहीं था। ये दोनों वर्ग ये हैं—धनी-वर्ग अथवा शोषण करनेवाला वर्ग और निर्धन श्रमजीवी वर्ग अथवा शोषित वर्ग। मार्क्स का कथन है कि जैसे जैसे पूँजीवाद बढ़ता जायगा वैसे वैसे समाज की विषमता भी बढ़ती जायगी और समाज में अधिकाधिक असमानता दिखाई देगी। इससे समाज में अशान्ति, दुख और दरिद्रता की वृद्धि होगी फिर एक समय ऐसा आयेगा जब श्रमजीवियों को यह विषमता असहनीय हो जायगी। अत्याचारों से पीड़ित श्रमजीवी वर्ग तथा पूँजीपतियों के बीच संघर्ष शुरू हो जायगा। मार्क्स के अनुसार श्रमजीवियों का यह संघर्ष अनिवार्य है। क्रमशः श्रमजीवी अपनी स्थिति पर विचार करने लगेंगे और उनमें चेतना उत्पन्न होगी। अपनी स्थिति से संतप्त होकर वे समाज में क्रान्ति कर देंगे मार्क्स का पूर्ण विश्वास है कि इस वर्ग-संघर्ष में श्रमजीवी ही विजयी होंगे। फलस्वरूप श्रमजीवी वर्गहीन समाज की रचना करेंगे। परन्तु कुछ समय तक श्रमजीवियों को ही राज्य का अधिनायकत्व देना पड़ेगा, नहीं तो, पूँजीपतियों की प्रतिक्रियात्मक शक्ति फिर से जोर लगाकर अपनी शक्ति को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करेगी। यह स्वाभाविक है कि पूँजीपति अपनी स्वार्थ रक्षा के लिए अन्तिम समय तक प्रयत्न करता ही रहेगा। उपरोक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस मध्यकाल में अर्थात् वर्ग विहीन समाज की स्थापना के कुछ कालतक श्रमजीवियों के अधिनायकत्व की स्थापना अनिवार्य है। इस मध्यकाल में पूर्ण लोकतन्त्रा-

त्मक राज्य की स्थापना संभव नहीं है। परन्तु इस काल में प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार पुरस्कार मिलेगा और राज्य समाज की प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का उन्मूलन करेगा और शनैः शनैः समाज में समानता तथा वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने का प्रयत्न करेगा।

समाजवादियों के अनुसार इस काल में राज्य अथवा समाज के हाथों में सब अधिकार होंगे। राज्य-व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, उत्पादन, आमोद-प्रमोद, संस्कृति, आर्थिक व्यवस्था, यातायात के साधन, सामाजिक व्यवस्था इत्यादि मानवजीवन के सभी विषयों पर राज्य और समाज का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा। परन्तु राज्य तथा समाज का मुख्य सिद्धान्त सामूहिक हित-साधन ही होगा। राज्य का प्रमुख ध्येय प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण होगा। राज्य और समाज की प्रतिक्रियात्मक शक्तियों से रक्षा करने के लिए कुछ समय तक राज्य को व्यक्ति के हित के लिए शक्तिशाली होना आवश्यक होगा।

इसके अनन्तर समाजवादी वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज का सुख स्वप्न देख रहे हैं। एक ऐसा समय आयेगा जब राज्य की आवश्यकता ही न रह जायगी, और श्रमजीवी अपने अधिनायकत्व का स्वयं ही अन्त कर देंगे। उत्पादन के साधन सामूहिक हित के लिए प्रयोग में लाये जायेंगे। प्रेम और सहयोग ही समाज की नींव होंगे। राज्य-शक्ति के अन्त के बाद मनुष्य आवश्यकतानुसार तथा शक्ति के अनुसार भिन्न भिन्न समुदायों की स्थापना करेगा। इस वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज में प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति तथा रुचि के अनुसार काम करेगा और आवश्यकतानुसार वस्तुओं का संग्रह करेगा। समाज के हरेक क्षेत्र में स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और भातृत्व का साम्राज्य रहेगा अतः सामाजिक सेवा भाव की पवित्र भावना का उदय प्रत्येक नागरिक के हृदय में होगा।

१९१७ की क्रान्ति के बाद रूसमें समाजवाद की स्थापना हुई। समाजवादियों के अनुसार रूस ही पूर्ण समाजवादी देश है। कुछ लोग

रूस के राज्य शासन की प्रशंसा करते हैं। परन्तु अधिकांश व्यक्ति रूस की निरंकुश राज्यसत्ता की निन्दा करते हैं। निस्संदेह रूस ने भौतिक तथा आर्थिक समृद्धि का निर्माण किया है। बिना अपवाद के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक सुख की सभी वस्तुएँ जैसे शिक्षा, सांस्कृतिक, बौद्धिक जीवन की व्यवस्था, स्वास्थ्य रक्षा की व्यवस्था, नौकरी की व्यवस्था, नियमित आराम की व्यवस्था इत्यादि सुलभ हैं। रूस ने इस न्यायपूर्ण, समानतापूर्ण समाज की रचना बल प्रयोग द्वारा ही की है। इसका निर्माण व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा द्वारा अथवा व्यक्ति की समानता की भावना के कारण नहीं हुआ है। इस कृत्रिम समानता का निर्माण अत्याचार, कठोर दंड और हजारों व्यक्तियों के हनन द्वारा ही हुआ है और उन्हीं के द्वारा अथवा राज्य की निरंकुश शक्ति द्वारा ही इस कृत्रिम समानता का अस्तित्व संभव हुआ है। राज्य शासन तथा समाज रचना की बागडोर कम्युनिस्ट पार्टी के मुट्ठी भर सदस्यों के हाथों में है। वास्तव में रूस में कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की तानाशाही का नंगा रूप दिखाई दे रहा है। समस्त रूस एक महान कारा-वास है जिसमें प्रत्येक नागरिक के लिए भौतिक सुखों की व्यवस्था की गई है। किन्तु रूसियों की आत्मा को पूर्ण रूप से कुचल कर।

अब समाजवाद के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों को उपस्थित किया जायेगा।

समाजवाद के पक्ष में तर्क

(१) वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था अन्यायपूर्ण है। भूमि खनिज पदार्थ इत्यादि जो प्रकृति की देन हैं उसका उपभोग कुछ थोड़े से व्यक्ति ही करते हैं। इस आर्थिक विषमता के कारण ही अशान्ति, दुख, नैतिक पतन इत्यादि नजर आते हैं। समाजवाद आर्थिक समानता के सिद्धान्त पर जोर देता है। निस्संदेह आर्थिक आवश्यकता की पूर्त्ति के बिना मनुष्य की सर्व-तोन्मुखी उन्नति नहीं हो सकती है। समाजवादी इस कारण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को परमावश्यक समझते हैं।

(२) समाजवादी उत्पादन प्रतियोगिता की बुनियाद पर न रखकर सहयोग की बुनियाद पर रखना चाहते हैं। अनियन्त्रित प्रतियोगिता राष्ट्र तथा व्यक्तियों को हानि पहुँचाती है। इसी कारण बेकारी, संघर्ष, भुखमरी इत्यादि नजर आती हैं। समाजवादी व्यक्तिगत लाभ को प्रमुख स्थान न देकर व्यक्ति में समाजहित तथा समाज सेवा की भावना को प्रोत्साहित करते हैं।

(३) समाजवादी सामाजिक एकता तथा व्यक्ति की पारस्परिक निर्भरता को ही सामाजिक रचना का मूल मन्त्र समझते हैं।

(४) प्रत्येक राष्ट्र में आज रेल, तार, डाक, पानी इत्यादि उद्योगों का राजकीय प्रबन्ध हो गया है। राजकीय प्रबन्ध के कारण इन विभागों में अल्पव्यय तो हुआ है, साथ ही साथ नागरिकों को इससे सुविधा तथा लाभ भी हुए हैं। इस अनुभव से प्रेरित होकर समाजवादी अन्य उद्योग तथा व्यवसाय भी राजकीय प्रबन्ध के अन्तर्गत लाना चाहते हैं, जिससे जनता की सब आवश्यकताओं की पूर्ति उचित रीतिसे हो सके।

(५) समाजवाद प्रजातन्त्रवाद का आर्थिक क्षेत्र में पूरक है। क्योंकि प्रजातन्त्रवाद राष्ट्रीय क्षेत्र में समानता लाना चाहता है, तथा समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में। आर्थिक समानता के बिना प्रजातन्त्रवाद एकांगी तथा अपूर्ण है। फलतः आर्थिक समानता के बिना प्रजातन्त्रवाद पूर्णतया सफल नहीं हो सकता है।

(६) समाजवाद वास्तविक रूप से प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए प्रयत्नशील है, और श्रम तथा धन के अपव्यय को रोकता है।

समाजवाद के विपक्ष में तर्क

(१) समाजवाद में व्यक्ति की प्रेरणा को कोई स्थान नहीं है। वैयक्तिक संपत्ति, आर्थिक वृद्धि अथवा मनुष्य की अन्य उन्नति का मूलमंत्र है,

स्वार्थ-बुद्धि अथवा वैयाक्तिक लाभ। परन्तु समाजवाद इस प्रेरणा को मूलतः ही नष्ट करता है। इससे नागरिक आलसी या निरुत्साही हो जायँगे और वे क्रमशः राज्य पर भार स्वरूप हो जायँगे।

(२) समाजवाद मनुष्य के व्यक्तित्व का नाश करता है, ऐसी समाज-रचना में मनुष्य समाज का दास बन जाता है। सब कार्य राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा संगठित हो जाने से व्यक्ति अपनी स्वाधीनता की प्रेरणा तथा जिम्मेदारी की भावना को खो देता है। इस प्रकार मनुष्य के शक्ति का ह्रास होता है क्योंकि मनुष्य में उद्योगशीलता नहीं रह जाती है, और मनुष्य अपनी आत्मनिर्भरता खो देता है। क्योंकि व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक इत्यादि कार्यों के लिये सरकार का मुँह ताकने लगता है।

(३) राज्य को आर्थिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्रमें निरंकुश अधिकार देना खतरे से खाली नहीं है क्योंकि राज्य क्रमशः अपना महत्व और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये तथा अपना रूपस्थायी रखने के लिए सतत प्रयत्न करेगा। यह सत्य है कि निरंकुश शक्ति ही मनुष्य के पतनका मूल कारण है। धीरे धीरे समाजवादी सरकार अपना नियन्त्रण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करने लगेगी। इस प्रकार साधारण जनता सरकार के हाथ की कठपुतली बन जायगी। नागरिक की प्रतिभा, बुद्धि, शक्ति इत्यादि का उपयोग राज्य अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए करेगा, और नागरिक को सरकार की नीति और आज्ञा के अनुसार कार्य करना ही पड़ेगा। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नाश होगा। निरंकुश अधिकारों की प्राप्ति से मदान्ध होकर राज्यशासक स्वार्थ हित से प्रेरित होकर राज्य शासन करने लगेंगे। इसका उदाहरण आधुनिक रूस है। इस प्रकार समाजवाद प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों को नष्ट भ्रष्ट करने में करणीभूत होगा।

(४) समाजवाद सर्वथा भौतिकवाद है। आर्थिक सुख ही समाजवाद का ध्येय है। समाजवाद धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों का निरादर करता है। इस प्रकार समाजवाद एकांगी है, क्योंकि अर्थ के अति-

रिक्त भी मनुष्य की अन्य आवश्कतायें भी होती हैं। इस सत्य को समाजवाद ध्यान में नहीं रखता।

(५) समाजवाद की बुनियाद ही वर्ग-संघर्ष, हिंसा व रक्तपात पर है। हिंसा, दुष्टता तथा संघर्ष की बुनियाद पर बनी हुई इमारत का रूप सदैव हिंसात्मक तथा संघर्षात्मक ही रहेगा। बल प्रयोग द्वारा उपरोक्त प्रवृत्तियों का रूपान्तर अहिंसा, शान्ति तथा समानता में कदापि नहीं हो सकता है। स्वच्छ वातावरण, शिक्षा तथा जाग्रत लोकमत द्वारा ही मनुष्य की शोषण, असमानता, प्रतियोगिता तथा स्वार्थपरता की प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे कम की जा सकती हैं। केवल बल प्रयोग से दुराचारी, सदाचारी नहीं बन सकता।

सारांश :— आज संसार के अधिकांश राज्यों का झुकाव समाजवाद की ओर है। वर्तमान जीवन इतना जटिल होता जा रहा है कि राजकीय अथवा सार्वजनिक प्रबन्ध के बिना सर्वसाधारण नागरिक का जीवन-निर्वाह असम्भव सा होता जा रहा है।

समाज-रचना के समाजवाद के आदर्शों तथा सिद्धान्तों पर दो मत नहीं हो सकते हैं। ये आदर्श उच्च तथा आदरणीय हैं और व्यवहार में लाने योग्य हैं। मतभेद तो केवल साधनों में है। समाजवाद इन आर्थिक आदर्शों को अथवा इस नवीन समाज-रचना को सक्रिय रूप देने के लिए घृणित से घृणित नीति, खून-खराबी, धर्म तथा नीति का उल्लंघन, बल प्रयोग इत्यादि किन्हीं साधनों का प्रयोग करने के लिए उद्यत है। सामाजिक इतिहास के अध्ययन से यह देखा गया है कि क्रांति के बाद नागरिक अपना संतुलन खो देते हैं और राज्य और समाज का पुनः संगठन बल प्रयोग द्वारा अथवा निरंकुश शासन द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव तानाशाही अस्थायी शासन प्रबन्ध होता है।

समाज-रचना में दो प्रकार से परिवर्तन किया जा रहा है—(१) क्रांति-द्वारा। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। (२) विकास द्वारा। इसके

अनुसार समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन करना चाहिये। नवीन समाज-रचना के प्रति मनुष्यों का दृष्टिकोण और विचार बदलने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् शिक्षा द्वारा व प्रचार द्वारा लोकमत तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसी समाज-रचना ही स्थायी तथा लाभप्रद हो सकती है। इसे विकासवाद अथवा प्रजातन्त्रवाद कह सकते हैं।

आधुनिक समाजवादी व कम्यूनिस्ट दोनों ही मार्क्स को अपना गुरू मानते हैं। परन्तु इन दोनों में कुछ भेद है। समाजवादी विकासवादी हैं और कम्यूनिस्ट क्रांतिकारी हैं।

(३) **उपयोगितावाद** :—१९ वीं शताब्दी में इस सिद्धांत का प्रारम्भ हुआ था। इंगलैंड के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बेन्थम ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया था। इस सिद्धान्त का प्रचार केवल इंगलैंड में ही हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार, सरकार को ऐसे कार्य करने चाहिये जो जन-हितकारी हों तथा जनता के अधिक से अधिक हित की पूर्ति करते हों। सरकार के कार्यों का माप दंड यह है—(१) सरकार का कार्य अच्छा या बुरा है; इसका निर्णय उसकी उपयोगिता के अनुसार ही किया जा सकता है। (२) यदि किसी कार्य से अधिक से अधिक जनता का हित होता है तथा बहुत ही थोड़े व्यक्तियों को हानि होती है तो वह कार्य सरकार को अवश्य करना चाहिए।

अधिकांश उपयोगितावादी व्यक्तिवादी थे। व्यावहारिक रूपसे इस सिद्धान्त का इंगलैंड की राजनीति पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसके प्रभाव से अनेक सुधार इंगलैंड में हुए। उपयोगितावादियों ने राज्य के हस्तक्षेप को कम करने की मांग पेश की थी। तथा राज्य के अनुपयोगी नियन्त्रण हटाने के लिए प्रयत्नशील थे।

इस सिद्धान्त का मुख्य दोष यही है कि यह संख्या को अधिक महत्व देता है और गुण को नहीं। मनुष्य के हित और स्वार्थ विरोधात्मक हैं

के हर एक पहलू पर नियन्त्रण कर सकता है। इटली के प्रवर्तक मुसोलिनी का कथन है कि "सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के अधिकार के बाहर कुछ नहीं है, और राज्य के विरुद्ध कुछ हो ही नहीं सकता है।" राज्य ही व्यक्ति की आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक जीवन की सीमा अंकित करता है। जो समुदाय राज्य के कार्यों की पुष्टि करते हैं और जिन समुदायों से राज्य के कार्यों की वृद्धि होती है उन्हीं समुदायों को राज्य जीवित रहने देता है। सर्व साधारण जनता राज्य के गूढ़ तत्वों को नहीं समझ सकती है। इसलिए जनता को एक योग्य व्यक्ति को, एक विशिष्ट व्यक्ति को अपना नेता चुनकर राज्य की बागडोर उसके हाथों में सौंप देनी चाहिए तथा जनता को पूर्ण रूपेण उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।

युद्ध राज्य के लिए आवश्यक है क्योंकि युद्ध द्वारा ही राज्य का सच्चा स्वरूप दिखलाई पड़ता है। युद्ध के समय ही व्यक्ति का साहस चातुर्य और बल का प्रदर्शन होता है। साथ ही साथ फासिस्टवाद राष्ट्रीयता की भावना को राज्य के विकास के लिए अनिवार्य समझते हैं। फासिस्ट राज्यों में सरकार का केन्द्रीयकरण तथा एकदलीय सरकार पद्धति की स्थापना हुई थी। फासिस्टदल सदैव विरोधी राजनैतिक दलों का हनन करने में, तथा उनको दबाने में तत्पर रहते थे। इस प्रकार राज्य में एक दल ही सर्व शक्तिमान था।

फासिस्टवादियों का विश्वास था कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए ही है। व्यक्ति केवल राज्य के लिए ही जीता है तथा राज्य के लिए ही मरता है। फासिस्टवाद राज्य को सर्वेसर्वा मानता है।

इस प्रकार की सर्वशक्तिमान सर्वे सर्वा सरकारें रूस में आज भी विद्यमान हैं तथा जर्मनी और इटली में १९४५ तक विद्यमान थीं। राष्ट्रीय सुरक्षा तथा प्रत्येक क्षेत्र में आत्म-निर्भरता ही इन राष्ट्रों का ध्येय था।

सरकार का कार्य आर्थिक योजना तथा राजनैतिक योजना द्वारा किया जाना चाहिए। सैनिक शक्ति तथा सैनिक बल ही राज्य का आधार होना चाहिए। सब कार्यों का संचालक राज्य का सर्वशक्तिमान नेता ही होना चाहिए। यही इनका सिद्धान्त है।

अध्याय १०

राज्य के कार्य

पिछले परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत विचारणीय हैं—व्यक्तिवाद और समाजवाद। व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों की सीमा को संकुचित व सीमित रखना चाहते हैं तथा समाजवादी राज्य को एक योग्य तथा दक्ष संस्था समझते हैं। इसलिए वे राज्य के कार्यों की सीमा अधिकाधिक बढ़ाने के पक्ष में हैं। आधुनिक विचार भी अब इस ओर बढ़ रहा है कि राज्य केवल पुलिस कार्य की संस्था नहीं है। परन्तु राज्य जनसेवा अथवा समाज सेवा की भी संस्था है। आधुनिक राज्य इसी विचार धारा से सहमत हैं। १९ वीं तथा २० वीं शताब्दी में राज्य के कार्य क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है। अनुभव भी यह स्पष्ट रूप से दिखाता है कि पूर्ण-व्यक्ति-स्वातंत्र्य में भी धोखा है तथा राज्य को अत्याधिक शक्ति प्रदान करने में भी खतरा है। साथ ही साथ अनुभव से यह भी देखा गया है कि बहुत से ऐसे कार्य हैं जिनको राज्य द्वारा अथवा सामूहिक रूप से करने से नागरिकों समान रूप से प्रगति और वृद्धि हो सकती है। जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक जीवन के कुछ पहलुओं का संगठन इत्यादि विषयों का राज्य द्वारा समान रूप से संगठन तथा नियंत्रण आवश्यक है। ऐसा करने से ही राज्य का प्रत्येक निवासी उससे फायदा उठा सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य का कार्य केवल नकारात्मक ही नहीं है, राज्य का कार्य केवल व्यक्ति के विकास की बाधाओं को दूर करना ही नहीं है। परन्तु राज्य का कार्य सकारात्मक भी है। अर्थात् राज्य

को सक्रीय रूप से ऐसे साधन प्रस्तुत करने चाहिए जो व्यक्ति के उच्चतम विकास में सहायक हों।

राज्य के कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(१) राज्य के कुछ कार्य ऐसे हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए परमावश्यक माने जाते हैं। इन कार्यों के सम्पादन के बिना राज्य जीवित नहीं रह सकता है। यदि राज्य इन कार्यों को नहीं करता है तो राज्य का अन्त अवश्यंभावी है। ऐसे कार्य, आवश्यक कार्य अथवा अनिवार्य कार्य के नाम से सम्बोधित हैं।

(२) दूसरे प्रकार के कार्य वे हैं जिनको प्रत्येक प्रगतिशील राज्य करता है तथा उसको करना अपना धर्म समझता है। इनको अनावश्यक कार्य अथवा ऐच्छिक कार्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है। राज्य इन कार्यों को व्यक्ति को सभ्य तथा उन्नत बनाने के लिए करता है। इन कार्यों को लोकहितकारिणी कार्य कह सकते हैं। आधुनिक राज्यों में एक नई चेतना एक नई जागृति का समावेश हुआ है। प्रजातंत्रात्मक विचार धारा के उत्पत्ति से लोकहितसाधक काय राज्य के कार्यों का आवश्यक अंग माना जाने लगा है। 'प्रजा सुख' 'प्रजा रंजन' तथा "प्रजा की उन्नति तथा विकास" राज्य का ही उत्तरदायित्व है इसमें शंका नहीं है। राज्य ही बहुत अंश तक इन्हें सक्रीय रूप दे सकता है।

विज्ञान के अविष्कारों से यातायात के साधन जैसे रेल, तार, पोस्ट, टेलिग्राम, टेलीफोन, जहाज इत्यादि सुलभ हो गये हैं। इन्हीं कारणों से नगर, शहर, गांव राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध निकट तथा घनिष्ट हो गया है। इन्हीं कारणों से प्रत्येक तबके का आर्थिक, बौधिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध भी घनिष्ट हो गया है और उनका आदान प्रदान बहुत अधिक मात्रा में बढ़ गया है। केवल इसका आदान प्रदान ही नहीं बढ़ गया है बल्कि प्रत्येक तबका एक दूसरे पर अवलम्बित भी हो गया है और होता जा रहा है।

यदि एक स्थान में कुछ सुधार होते हैं तो दूसरे स्थान के नागरिक उनके लिए मांग पेश करते हैं। यही कारण है कि बहुत हद तक प्रगतिशील राष्ट्रों में अनावश्यक कार्य एक ही समान है। अनावश्यक कार्यों का संगठन राज्य सामूहिक रूप से भलीभाँति कर सकता है। ऐसे संगठन से राज्य तथा व्यक्ति दोनों ही का लाभ होता है। इस प्रकार राज्य का कार्यक्षेत्र काफी बढ़ गया है।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद नई आर्थिक समस्याओं का प्रारम्भ हुआ है, साथ ही साथ आर्थिक जीवन भी जटिल होने लगा है। इस काल की समस्याएँ हैं, असन्तुष्ट मजदूर वर्ग, शोषण करने वाला पूंजीपति वर्ग तथा बेकारी। इन गम्भीर, गहन आर्थिक समस्याओं को राज्य ही सुलझा सकता है। इनको सुलझाना व्यक्ति के बूते के बाहर हैं। इन्हीं कारणों से राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई है। यही कारण है कि राज्य के उद्देश्य तथा कार्यों के विषय में नवीन विचार धारा दिखलाई दे रही है। अधिकांश राज्यों में समाजवादी विचार धारा का प्रभाव दिखलाई देता है। इंगलैंड, फ्रांस, भारत, जर्मनी इत्यादि अनेक राज्यों में यह प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार आधुनिक राज्य नागरिकों के सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के लिए और उनमें सुधार के लिए अपने आपको उत्तरदायी समझते हैं। इसी प्रकार राज्य नागरिकों के हित के लिए और उनकी आवश्यकताओं की रक्षा के लिए अपने को पूर्ण रूप से उत्तरदायी समझता है। पिछले सौ वर्षों में राज्य कार्य की सीमा बढ़ गई है। जनता की मनोवृति में भी परिवर्तन होगा और होता रहेगा, इसका प्रभाव धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक सभी मनुष्य-कृत समुदायों पर पड़ेगा। तदनुसार राज्य के कार्यों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। बहुत हद तक राज्य मनुष्य-कृत समुदाय होने के कारण, मनुष्यों की मनोवृत्ति के परिवर्तन से इसका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। यहाँ पर यह कहना उचित होगा कि राज्य और सरकार के कार्य अथवा कर्तव्य एक ही हैं।

अनिवार्य अथवा आवश्यक कार्य

(१) राज्य की बाहरी आक्रमणों से रक्षा:—राज्य देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करता है। तथा धन-जन की रक्षा का भी प्रबन्ध करता है। राज्य को योग्यता पूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिए। अपनी रक्षा के लिए राज्य सेना, नाविक बेड़ा तथा हवाई-बेड़ा सुसज्जित करता है। आपत्ति के समय राज्य हरएक नागरिक को राज्य की रक्षा के हेतु शस्त्र उठाने के लिए बाध्य करता है, और कर सकता है। शान्ति के समय राज्य अन्तराष्ट्रीय कानून तथा नीति की रक्षा करता है तथा राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय कानून के हस्तक्षेप से रक्षा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति राष्ट्र के अन्तर बहिर नीति पर अवलम्बित है। एक राष्ट्र का सम्बन्ध दूसरे राष्ट्रों से संधि द्वारा, व्यापार द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक अथवा राजनैतिक योजनाओं द्वारा तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाओं द्वारा होता है। परन्तु प्रत्येक दशा में राज्य अपना स्वार्थ साधन ही देखता है। एक राष्ट्र अपना उद्धार अपने आप कदापि नहीं कर सकता है, इस सत्य को राष्ट्र अभी तक देख व समझ नहीं पाये हैं। अतएव प्रत्येक राज्य को परस्पर सहयोग की ही नीति बरतना चाहिए। इसी में मानव-जाति और मानव-समाज की भलाई सम्भव है। इसी उद्देश्य से संयुक्त राज्य संघ की स्थापना हुई है।

महात्मा गांधी ने निःशस्त्रीकरण तथा अहिंसा का उपदेश दिया था। परन्तु आक्रमणकारियों से देश की रक्षा हो सकती है या नहीं यह एक विवाद ग्रस्त प्रश्न है। क्या अहिंसा और निशस्त्रीकरण द्वारा राज्य आक्रमणकारियों से अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकता है?

(२) शान्ति और सुव्यवस्था:—राज्य तथा नागरिकों की प्रगति के लिए आन्तरिक शान्ति सुरक्षा तथा सुव्यवस्था आवश्यक है। राज्य लूट पाट, खून-खराबी, चोरी इत्यादि से नागरिकों की रक्षा करता है इसके लिए राज्य पुलिस की व्यवस्था करता है। जिससे नागरिक निरापद होकर

जीवन यापन करें। देश के अन्दर शान्ति तथा सुव्यवस्था आवश्यक है जिससे नागरिक अपने अधिकारों का यथायोग्य उपभोग कर सकें तथा अपने कर्तव्यों को कर सकें। इस प्रकार राज्य समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए पुलिस की व्यवस्था करता है।

(३) **न्याय:**—हरेक देश और समाज में कुछ असामाजिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति भी होते हैं तथा कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को रोकना राज्य तथा सरकार का कर्तव्य है, नहीं तो राज्य में अशान्ति फैल जायेगी और साधारण जनता का जीवन कष्टमय हो जायेगा। जो व्यक्ति कानून के विरुद्ध काम करते हैं राज्य उनको उचित दण्ड देता है राज्य यह काम कारावास द्वारा, न्यायालयों द्वारा तथा न्याय विधानों द्वारा करता है। न्याय का उद्देश्य है कि जनता कानूनों का पालन करे, परस्पर सद्भावना से रहे, तथा कानूनों का सच्चे दिल से सम्मान करे। इसी से राज्य में शान्ति व सुव्यवस्था हो सकती है। इन उद्देश्यों की पूर्ति इन उपायों से हो सकती (१) न्याय सस्ता तथा निष्पक्ष हो (२) रंग जाति अथवा पद के कारण पक्षपात न हो। (३) न्याय, न्यायसंगत हो।

(४) इनके अतिरिक्त राज्य के निम्नलिखित आवश्यक कार्य हैं। सम्पत्ति रक्षा सम्बन्धित नियमों को बनाना, उनके बेचने तथा उपभोग के कानून बनाना, पति-पत्नी तथा उनकी सन्तान सम्बन्धी कानूनी सम्बन्ध निश्चित करना, अपराध को निश्चित करना तथा उचित दण्ड निश्चित करना, नागरिकों के अधिकार तथा कर्तव्यों की सीमा निर्धारित करना, राजनीतिक सुविधाओं की सूची तैयार करना, राज्य एवं नागरिकों के बीच, अथवा व्यक्ति और व्यक्तिओं के बीच किये हुये समझौते के लिए कानून बनाना। ये सब राज्य के आवश्यक कार्य हैं।

लोक हित साधक, ऐच्छिक अथवा अनावश्यक कार्यः— ये कार्य राज्य, नागरिक के जीवन को उत्तम बनाने के लिए करता है।

(१) **शिक्षा:**—राज्य में शिक्षा का स्थान महत्वपूर्ण है। राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों के सांस्कृतिक विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान करें। राज्य का कर्तव्य है कि प्रत्येक नागरिक को शिक्षित बनाये, क्योंकि शिक्षा द्वारा ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। आधुनिक प्रगतिशील राज्य शिक्षा का प्रबंध करना अपना धर्म एवं कर्तव्य समझते हैं। उन्नत देशों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क है। सभी देशों में ऐसा आयोजन करना उचित है। राज्य; स्कूल, कालेज, विद्यालय, टेकनिकल व व्यवसायिक विद्यालयों का प्रबन्ध करता है।

शिक्षा का ध्येय केवल पढ़ने-लिखने की योग्यता प्राप्त करना ही नहीं होना चाहिए। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को बलवान व स्वस्थ होने का ज्ञान, जीविकोपार्जन तथा स्वावलंबी होने का ज्ञान, कर्त्तव्याकर्तव्य अर्थात् नागरिकता का ज्ञान होना चाहिए, तभी एक शिक्षित व्यक्ति सुयोग्य बन सकता है। प्रजातन्त्र राज्य में प्रत्येक नागरिक का राज्य के सुप्रबन्ध में दायित्व होता है। योग्य नागरिक बनने के लिए कर्तव्य तथा अधिकारों को समझने के लिए शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। योग्य शिक्षा द्वारा ही योग्य नागरिक की सृष्टि हो सकती है। सामाजिक जीवन की सफलता के लिए तथा देश के कल्याण के लिए योग्य शिक्षा आवश्यक है। राज्य का विकास इसी से हो सकता है।

शिक्षा के साथ ही साथ राज्य को कला तथा साहित्य की ओर ध्यान देना चाहिए। देश की उन्नति का यही मार्ग है। राज्य की सभ्यता तथा उन्नति की गणना उसकी कला तथा साहित्य से ही होती है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से कला तथा साहित्य के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दे सकता है। राज्य को ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए जिससे अप्रत्यक्ष रूप से भी कला तथा साहित्य निर्माण के लिए नागरिकों को प्रोत्साहन मिल सके।

राज्य को इस विज्ञान के युग में प्रजा की रुचि विज्ञान की ओर बढ़ाना आवश्यक है। इसके बिना कोई राज्य उन्नत नहीं हो सकता है। परन्तु वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग मनुष्य की भलाई के लिए ही होना चाहिए विनाश के लिए नहीं। आज विज्ञान विध्वंसकारी सिद्ध हुआ है।

नागरिकों का सांस्कृतिक स्तर बढ़ाने के लिए अधिकांश उन्नत राज्य वाचनालय, पुस्तकालय, अजायबघर, व्यायामशालाएँ, अनुसन्धानशालाएँ तथा प्रयोगशालाओं का भी प्रबन्ध करते हैं।

(२) स्वास्थ्य, सफाई और रोगों के इलाज का काम—प्रत्येक उन्नतिशील राज्य नागरिकों की स्वास्थ्य-रक्षा अपना कर्तव्य समझता है। राज्य की उन्नति नागरिकों के स्वास्थ्य पर ही निभर है। बिना स्वास्थ्य के कोई काम करना सम्भव नहीं है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रह सकता है—यह सत्य है। निर्बल अस्वस्थ नागरिक बाहरी आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है। उसी प्रकार निर्बल अस्वस्थ व्यक्ति सांस्कृतिक, आर्थिक इत्यादि कार्यों में भी भाग लेने में असमर्थ होता है। राज्य की उन्नति के लिए नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा, राज्य का आवश्यक कार्य है। राज्य अस्पताल, डिस्पेन्सरी, औषधालय, चिकित्सालय इत्यादि खोलकर नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा का प्रबन्ध करता है। वह चिकित्साओं के नये-नये शोध तथा स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का प्रचार करके राष्ट्र के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और इस प्रकार इन बातों से नागरिकों के ज्ञान की वृद्धि करता है। संक्रामक रोगों का निवारण करवाता है तथा भिन्न-भिन्न रोगों के लिए विशेष चिकित्सा का प्रबन्ध करता है। महामारी के समय बिना मूल्य की दवाइयों का वितरण करके राज्य नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करता है।

(३) वाणिज्य, उद्योग-धन्धे अथवा देश की आर्थिक उन्नति—अब लोग इस बात से सहमत हैं कि देश की आर्थिक उन्नति राज्य की

सहायता के बिना असम्भव है। आर्थिक दशा सुधारे बिना कोई सुखी नहीं हो सकता है। इसलिए राज्य को बेकारी तथा गरीबी दूर करना अपना कर्तव्य समझना चाहिए। तथा राज्य को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उत्पन्न करने चाहिए। प्राचीन काल में छोटे पैमाने पर या गृह-शिल्प द्वारा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। परन्तु भाप और बिजली के प्रयोग के कारण उत्पादन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं और आज कल उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा है। इसलिए राज्य ही उत्पादन के साधनों का प्रबन्ध कर सकता है। आर्थिक उन्नति ही देश को शक्तिशाली बना सकती है। आर्थिक उन्नति से देश में शान्ति रहती है तथा प्रजा में सन्तोष की भावना रहती है। परिणाम स्वरूप प्रजा में राज्य के प्रति भक्ति तथा प्रेम का आविर्भाव होता है। ऐसे वातावरण में साहित्य, कला, तथा विज्ञान की उन्नति हो सकती है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए राज्य को कृषि, सिंचाई, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, बैंकिंग इत्यादि विषयों पर भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। इसके साथ ही राज्य आयात-निर्यात को भी नियन्त्रित करता है। और दूसरे राज्यों से व्यापार का सम्बन्ध स्थापित करता है। इन विभिन्न प्रकारों से राज्य नागरिकों का आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक राज्य के कर्तव्य और भी बढ़ गया है। मजदूरों की जागृति के साथ फैक्टरी नियम, श्रमजीवियों के वेतन, उनकी चिकित्सा, काम के घण्टे निश्चित करना, मजदूरों के स्त्री-बच्चों की हिफाजत, उनकी छुट्टियाँ इत्यादि विषयों में भी राज्य हस्तक्षेप करता है। यदि इन कार्यों को राज्य नहीं करेगा तो मजदूर वर्ग मिलमालिकों की धन-पिपासा का शिकार बन जायगा। वस्तुओं का ठीक-ठीक वितरण करना भी राज्य का कर्तव्य है। वस्तुओं के दाम निर्धारित करना तथा कालाबाजार रोकना भी राज्य का महत्वपूर्ण कर्तव्य हो गया है। आर्थिक संतोष के बिना समाज तथा राज्य का संतुलन गड़बड़ हो जायगा तथा राज्य से क्रान्ति होने का सदैव भय बना रहेगा।

(४) यातायात के साधन :—राज्य में यातायात के साधनों की उन्नति बहुत आवश्यक हो गई है। सर्व प्रथम तो यातायात के साधनों द्वारा राज्य की आर्थिक उन्नति में सहायता मिलती है। व्यापार में वृद्धि होती है तथा मनुष्य को दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ सुगमता से मिलने लगती हैं। इसलिए राज्य को रेल, तार, वायुयान, सड़कें, टेली-फोन, डाक, रेडियो इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहिए। व्यक्ति इनका आयोजन नहीं कर सकता है, राज्य का ही इसका प्रबन्ध करना चाहिए। मानसिक तथा नैतिक क्षेत्र में भी यातायात के सुगम साधनों का प्रभाव पड़ता है। भिन्न-भिन्न भागों के व्यक्तियों के आपस में मिलने-जुलने से विचार विनिमय, ज्ञान और अनुभव की वृद्धि तथा आदान-प्रदान हो सकता है। परिणाम स्वरूप विचारों तथा भावों की संकीर्णता का विनाश होता है, और सहिष्णुता तथा उदारता के भावों का समावेश होता है। इससे नागरिकों का दृष्टिकोण विशाल होने लगता है। सुगम यातायात के साधनों से राज्य के हित की वृद्धि तथा प्रजा की सुविधाओं में वृद्धि होती है।

(५) राज्य नाप-तौल के पैमानों को निर्धारित करता है तथा सिक्के बनाता है। सिक्कों द्वारा तथा तौल द्वारा नागरिक वांछित वस्तुएँ खरीद सकता है।

(६) राज्य कृषि की उन्नति करता है। अच्छे बीज, खाद, वैज्ञानिक यंत्र तथा सिंचाई का प्रबन्ध करके कृषि को बढ़ाने तथा समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करता है। सहकारी समितियाँ बना कर कृषकों का हित साधन करता है। समाजवादी विचारों के प्रभाव के कारण कुछ देशों में जमींदारी उन्मूलन का प्रयत्न भी हो रहा है, और बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का राष्ट्रीय-करण करने का भी प्रयत्न हो रहा है। इंगलैंड की मजदूर सरकार ने खानें, बैंक तथा लोहा इत्यादि के वैयाक्तिक अधिकारों को समाप्त कर उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया है।

(७) सामाजिक कुरीतियों को दूर करना :—यह विषय भी राज्य के कार्य के अन्तर्गत है। समाज की ऐसी कुरीतियों को जो व्यक्ति के विकास में बाधक हैं तथा समाज के लिए हानिकारक है, राज्य नियम द्वारा रोकता है। बहुविवाह, बालविवाह, विधवा-विवाह-निषेध, अस्पृश्यता, धनाढ्यों के गुटों पर नियंत्रण, विवाह-विच्छेद, संपत्ति-सम्बन्धी अधिकार इत्यादि कार्य भी राज्य द्वारा किये जाने लगे हैं।

बहुधा समाज सुधारक ऐसे कार्यों में नेतृत्व ग्रहण करके जनमत तैयार करते हैं। परन्तु एक समय ऐसा आ जाता है जब राज्य के कानून की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। राज्य को ऐसे कार्यों में प्रोत्साहन देना चाहिये। और जरूरी कानून बनाकर समाज में सुधार करना चाहिये। प्रचार द्वारा ही रूढ़ियाँ बदली जा सकती हैं। केवल कानून बना देने से ही सामाजिक कुरीतियाँ बदल नहीं सकती हैं।

(८) आधुनिक राज्य इन कार्यों को भी करता है :— अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करना, राजदूतों को भेजना, खेल-कूद, आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध करना, जीवन-मरण का लेखा रखना आदि।

(९) अपाहिज, दरिद्र, अनाथ तथा बूढ़ों का प्रबन्ध :— आदर्श राज्य वही है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन का साधन प्राप्त हो। रूस में प्रत्येक व्यक्ति को राज्य द्वारा काम दिया जाता है। परन्तु हर एक देश में यह व्यवस्था नहीं है। वृद्धावस्था के कारण, शरीर अथवा मन से असमर्थ होने के कारण अथवा नौकरी न मिलने के कारण प्रत्येक देश में काफी संख्या में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनको जीविकोपार्जन का साधन नहीं होता है। ऐसे लोगों के जीवन निर्वाह की व्यवस्था राज्य की ओर से होनी चाहिये। प्रगतिशील राज्य इनकी व्यवस्था करना अपना धर्म समझते हैं तथा इस दिशा में प्रयत्नशील भी होते हैं।

राज्य के लोकहित कार्यों की कोई निर्धारित सूची नहीं बन सकती है। वे देश और काल के अनुसार घटते बढ़ते रहते हैं। आज हमारे जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में राज्य का अस्तित्व मालूम पड़ने लगा है। जीवन से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य को राज्य की आवश्यकता होती है। सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ राज्य के कर्तव्यों की सीमा बढ़ती जा रही है। तब क्या राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक हुआ है? गंभीर विचार करने से मालूम होता है कि राज्य ने इन कर्तव्यों को ग्रहण करके जनता को अधिक सुखी बना दिया है और अब जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से होने लगी है। अतः व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग ज्यादा अच्छी तरह से करने लगा है।

सरकार व सरकार के विभिन्न कार्य क्षेत्र

अध्याय ११

सरकार व उनके भेद

सरकार के भेद तथा गुण व दोष—राज्य और सरकार का इतना घनिष्ठ संबंध है कि अधिकतर व्यक्ति दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं। बोल चाल की भाषा में आमतौर से ऐसे प्रयोग सुनाई देते हैं—जैसे राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय नीति-राज्य की आर्थिक नीति अथवा राज्य की युद्ध नीति इत्यादि। वास्तव में यह नीति तो सरकार की नीति है। इसलिए इस प्रकार के प्रयोग ठीक नहीं हैं। राज्य कैसा भी क्यों न हो, प्रत्येक राज्य में समान रूप से चार गुणों की आवश्यकता होती ही है। इन गुणों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। राज्य को चलानेवाली मशीन सरकार है और सरकार राज्य का एक अंग है, सत्य ही है कि सरकार राज्य का महत्वपूर्ण अंग है। लास्की, दुग्वी इत्यादि लेखक सरकार तथा राज्य में कोई अन्तर नहीं देखते हैं। देखा जाय तो "राज्य" शब्द व्यापक शब्द है। "राज्य" शब्द में शासक तथा प्रजा दोनों ही सम्मिलित हैं, परन्तु "सरकार" शब्द केवल शासक वर्ग के लिए ही प्रयोग में लाया जाता है। परन्तु यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि राज्य की उन्नति तथा अभ्युदय सरकार पर ही निर्भर है। यदि सरकार दुष्ट बेईमान तथा स्वार्थी व्यक्तियों के हाथ में हो तो राज्य का वातावरण दूषित हो जाता है और राज्य अवनति की ओर जाता है। सरकार राज्य की इच्छा और आकांक्षाओं का सक्रिय रूप है। सरकार के बिना राज्य मनुष्यों का असंगठित गिरोह रह जाता है। अन्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि राज्य का बाहरी स्वरूप सरकार द्वारा हो देखा, समझा और स्पर्श किया जाता है। राज्य की पहचान

सरकार द्वारा ही होती है। राज्य का बाह्य स्वरूप सरकार द्वारा ही देखा जाता है। अतः सरकार का वर्गक्रम हस्तगत किया जायेगा।

सरकार का सबसे प्राचीन वर्गीकरण अरस्तू का था परन्तु यह वर्गीकरण अति प्राचीन माना जाता है। इस कारण यह वर्गीकरण आजकल त्याग दिया गया है। अरस्तू का वर्गीकरण इन दो सिद्धान्तों के आधार पर किया गया था—(१) राज्य की प्रभुशक्ति कितने लोगों के हाथ में है। (२) शासकों का उद्देश्य जनहित है या स्वहित। यदि राजसत्ता धारण करनेवाले व्यक्ति जनहित के लिए शासन करते हैं तो उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—(अ) राजतन्त्र—जब प्रभुशक्ति एक व्यक्ति के हाथ में हो। (ब) सामन्ततन्त्र—जब प्रभुशक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथ में हो। (स) वैधानिक जनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र जब प्रभुशक्ति अनेक व्यक्तियों के हाथों में हो। इन्हीं तीनों का विकृत रूप हो जाता है जब प्रभु शक्ति धारण करनेवाले व्यक्ति स्वार्थपरता में फंस कर अपने अथवा अपने वर्ग के स्वार्थ साधन के लिए शासन करते हैं। तब उनका वर्गीकरण क्रमानुसार यह है—(अ) अत्याचारतन्त्र अथवा निरंकुश शासन (ब) धनिकतन्त्र अथवा अल्प जनतन्त्र (स) व्यक्ति स्वार्थतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र।

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार है—सरकार के विभिन्न अंगों के, अर्थात् कार्यपालिका तथा विधान मंडल के पारस्परिक संबंध के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। इसके अन्तर्गत दो प्रकार की सरकारें हैं—(१) सभात्मक अथवा उत्तरदायी सरकार (२) अध्यक्षात्मक। सभात्मक सरकार में राज्य व्यवस्थापिका सभा को संपूर्ण अधिकार दे देता है। और कार्यकारिणी व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। अध्यक्षात्मक सरकारमें राज्य कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका सभा से स्वतन्त्र बना देता है। वे एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं।

सरकार का तीसरा महत्वपूर्ण वर्गीकरण है राज्य के शासन शक्ति का केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीयकरण। क्रमानुसार ये एकात्मक सरकार व संघ

सरकार कहलाती हैं। एकात्मक सरकार में राज्य की सारी शक्ति केन्द्र में केन्द्रित होती है और राज्य के स्थानीय इकाइयों को जो अधिकार प्राप्त होते हैं वे केन्द्र द्वारा प्रदान किये जाते हैं। संघ सरकार में केन्द्रीय सरकार के तथा उसकी इकाइयों के अधिकार पृथक होते हैं। ये विधान द्वारा वैधानिक रूप से विभाजित किये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त सरकार के अन्य भेद भी होते हैं जैसे—अधिनायक तन्त्र [Dictator ship] नौकरशाही [Bureancracy]। ये सरकारें मिश्रित सरकारें हैं अथवा उपरोक्त सरकारों के उपभेद भी हैं।

इसके अतिरिक्त मध्यकालीन युग में जब धर्म का बोल बाला था उस समय धर्मतन्त्र सरकार [Theocracy] का भी उदय हुआ था। लोगों का विश्वास था कि राज्य की प्रभुशक्ति ईश्वर के आधीन है और राजा ईश्वर का सेवक अथवा प्रतिनिधि है। मध्यकालीन युग में धर्म ही राज्य का आधार माना जाता था। इस सिद्धान्त को भी मध्यकालीन समझ कर त्याग दिया गया है। अब राज्य का आधार धर्म नहीं माना जाता है आधुनिक राज्यों ने राजनीति तथा धर्म को एक दूसरे से पृथक कर दिया है। आधुनिक विचार धारा के अनुसार धर्म व्यक्तिगत विषय माना जाता है। राजनीति में अब संगठित धर्म का कोई स्थान नहीं है। मध्यकालीन युग में खलीफा का राज्य धर्मतन्त्र था।

आधुनिक युग में तिब्बत की राजनीति संगठित धर्म से प्रभावित है उसी प्रकार पाकिस्तान के बुनियादी वसूल मुस्लिम धर्म के आधार पर बनाये गये हैं और उनकी राजनीति मुस्लिम धर्म से प्रभावित है।

अब हम राज्य के नये और पुराने वर्गी करणों की विवेचना करेंगे।

पुराने वर्गीकरणः—

(१) राजतन्त्र—राजतन्त्र सरकार वह है जहाँ राज्य-शक्ति एक ही व्यक्ति अथवा राजा के हाथ में हो। राज्य के सब कार्य राजा की इच्छा-

नुसार चलते हैं। राज्य कर्मचारियों के अधिकार राजा द्वारा ही दिये जाते हैं और वे सब कार्यों के लिए राजा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। राज्यतन्त्र सबसे प्राचीन प्रणाली है और अधिकांश राज्यों में इसी प्रकार की सरकार हुआ करती थी। राज्यतन्त्री प्रणाली में राजा ही कानून बनाता है, वही प्रजा को कानून का पालन करने के लिए बाध्य करता है तथा वही न्याय करता है।

एकतन्त्र सरकार के निम्नलिखित भेद पाये जाते हैं—

(क) वंशपरम्परागत अथवा निर्वाचित राजतन्त्र।

(ख) निरंकुश अथवा वैधानिक राज्यतन्त्र।

(क) वंशपराम्परागत अथवा निर्वाचित राजतन्त्र—वंशपरम्परागत राजतन्त्र के अनुसार राजा अपना पद पैतृक उत्तराधिकार के कारण पाता है। राजा पुरानी परंपरा के अनुसार राज्य करता है। अधिकांश देशों में यही प्रथा प्रचलित थी। निर्वाचित राजतन्त्र प्राचीन रोम तथा पोलैंड में पाई जाती थी और राजा चुनाव द्वारा ही राजपद ग्रहण करता था। निर्वाचित राजतन्त्र का गुण यही है कि राजा प्रजा के हितों के विरुद्ध कभी भी काम करने का प्रयत्न नहीं करता था।

(ख) निरंकुश अथवा वैधानिक राजतन्त्र—निरंकुश राजतन्त्र में राजा के असीमित तथा अनियन्त्रित अधिकार होते हैं। राज्य कार्य में कोई भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है तथा शासनाधिकार पूर्णरूपेण राजा के हाथ में रहते हैं। राजा की इच्छा ही कानून है। प्राचीन काल में तथा मध्यकाल में सब राजा निरंकुश हुआ करते थे। आज भी कई पिछड़ी जातियों में इस प्रकार का राज्य शासन प्रचलित है। वैधानिक एकतन्त्र में राजा निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी नहीं होता है। राजा की शक्ति विधान द्वारा और कानून द्वारा सीमित रहती है इस प्रणाली का उत्कृष्ट उदाहरण इंगलैंड का राजा है। राजा वहाँ नाममात्र के लिए सर्वप्रधान है।

प्रजातन्त्रात्मक भावना के उदय के बाद प्रजा ऐसी ही राज्य प्रणाली पसन्द करती है।

राजतन्त्र के गुण—(१) इस सरकार में दृढ़ता, संगठन की सरलता, तत्परता तथा एकाग्रता संभव है। राजतन्त्र में एक समान अविछिन्न अन्तरीय तथा परराष्ट्र नीति संभव है तथा एकतन्त्र में रोबदार निश्चित परराष्ट्र नीति भी सभंव है। (२) एक निश्चित व्यक्ति के हाथ में राज्यसत्ता होने से वाद-विवाद, मतभेद, पार्टीबंदी इत्यादि में व्यर्थ समय व्यय नहीं होता है तथा राजकार्य के महत्वपूर्ण निर्णय त्वरितरूप से कार्यान्वित किये जा सकते हैं। (३) जंगली तथा पिछड़ी हुई जातियों को काबू में रखने के लिए राजतन्त्र ही सर्वोत्तम सरकार है। (४) इस सरकार में धन की बचत होती है क्योंकि प्रजातन्त्र सरकार में व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को वेतन देने में तथा उनके चुनाव में बहुत अधिक धन व्यय होता है। (५) राष्ट्रीय संकट के समय प्रजा को देश की रक्षा के लिए संग्रहित करना आसान होता है। (६) राजकार्य सुगमता से तथा नियमानुसार हो सकते हैं क्योंकि राजा योग्य अधिकारियों को नियुक्त कर सकता है और राज्य कार्य में ढिलाई करने वालों को पदच्युत कर सकता है। राजकार्य के लिए राजा स्वयं फैसला कर सकता है और उसे किसी से विचार विनिमय की आवश्यकता नहीं होती है। (७) राजा के लिए सब प्रजा समान होती है और राजा किसी दलबंदी में न होने के कारण निष्पक्ष रूप से न्याय कर सकता है। (८) अधिकांश राज्यों में राजा के प्रति राज्यभक्ति की भावना पाई जाती है। राज्यभक्ति के कारण प्रजा में देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम का संचार होना स्वाभाविक है।

यदि राजा निःस्वार्थ निष्पक्ष उच्चविचारों वाला तथा नीतिवान हो और प्रजा का हित निरंतर ध्यान में रखनेवाला हो तो राजतन्त्र श्रेष्ठतम सरकार हो सकती है। राज्यसत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीभूत होने

के कारण राज्य के सब कार्य तत्परता से हो सकते हैं तथा देश, समाज और प्रजा की उन्नति भी ऐसी सरकार द्वारा बहुत जल्दी हो सकती है। योग्य तथा प्रजारंजक राजा राज्य में क्रान्ति नहीं होने देगा। राजा के अनुभव तथा सलाह का लाभ राज्य को सदैव होता रहेगा।

दोष :—परन्तु उपरोक्त बातें व्यवहार में नहीं पाई गई हैं। (१) अधिकतर राजा स्वार्थी व अत्याचारी ही हुए हैं। सच है महान से महान व्यक्ति का अधःपतन शक्ति के उन्माद के कारण ही होता है। अधिकतर मनुष्य निरंकुश अथवा अनियन्त्रित शक्ति पाकर उसका दुरुपयोग करते हुए ही पाये गये हैं। (२) यह केवल भ्रम है कि एक योग्य व्यक्ति सब प्रकार के कार्यों में तथा सब परिस्थितियों में योग्यता अथवा दक्षता दिखलावे। एक ही व्यक्ति में सब गुण विद्यमान नहीं हो सकते हैं। सर्वगुण संपन्न व्यक्ति तो क्वचित ही पाये जाते हैं। (३) यह देखा गया है कि राजा के निकट सलाहकार अथवा चापलूस जुट जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का मुख्य ध्येय स्वार्थहित होता है प्रजाहित नहीं। ऐसे व्यक्ति योग्य राजा की हाँ में हाँ मिलाकर उसे बिगाड़ते हैं और ऐसे व्यक्ति अयोग्य राजा को बुरी सलाह देकर बिगाड़ते हैं। इस प्रकार राजा को प्रजा के हित का विस्मरण हो जाता है। (४) राजतन्त्र से प्रजा में राजनीतिक जागृति नहीं हो पाती है। प्रजा राज्य का दायित्व राजा को देकर आलसी और सत्वहीन बन जाती है। राजनीतिक जागृति, देश-प्रेम तथा विचारवान जागृत, चौकस सकर्मक आत्मनिर्भरता, स्वतन्त्रता, नागरिकता ही अच्छे शासन की कसौटी है। केवल सुदृढ़ शासन ही नहीं। उत्तरदायित्व ही उपरोक्त गुणों को प्रस्फुटित करता है। परन्तु राजतन्त्र में प्रजा परमुखापेक्षी बन जाती है अर्थात् चरित्र-निर्माण की दृष्टि से एवं नैतिक दृष्टि से राजतन्त्र अच्छा नहीं कहा जा सकता है। (५) वंश परंपरा का सिद्धान्त तर्क युक्त नहीं है क्योंकि प्रजा को अयोग्य, दुष्ट, लंपट, अत्याचारी राजा, का भी शासन सहन करना पड़ता है। सुयोग्य राजाओं के उत्तराधिकारी निकृष्ट तथा निकम्मे निकल जाते हैं।

शासन का सुप्रबंध अथवा कुप्रबंध केवल संयोग पर निर्भर रहता है। इस बात की कोई शाश्वती नहीं कि सब राजा सुयोग्य और अच्छे ही हों।

राजतन्त्र विचारधारा के कारण अधिकांश देशों ने राजतन्त्र का परित्याग किया है।

(२) सामन्ततन्त्र—इसका प्रचलित अर्थ है सर्वोत्तम कुलीन व्यक्तियों द्वारा राज्यशासन। इस शासन प्रणाली के अनुसार कुछ थोड़े व्यक्ति ही शासन संचालन करते हैं। ये थोड़े व्यक्ति धन के बल से, वीरता के बल से अथवा कुलीनता के बल से शासन की बागडोर अपने हाथ में कर लेते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि यदि राज्य गुणी, बुद्धिमान, संस्कृत, बलवान और नीतिवान व्यक्तियों के हाथ में हो तो राज्य बहुत जल्द उन्नति के शिखर पर पहुँच जायेगा। परन्तु ऐसे शासन की योजना में ये कठिनाइयाँ हैं—

(१) सर्वोत्तम व्यक्तियों को कौन चुनेगा (२) सर्वोत्तम होने का मापदंड क्या है? क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारानुसार ही सर्वोत्तम व्यक्ति की मीमांसा करेगा, जैसे कोई बल को सर्वोत्तम मानेगा, कोई विद्या को उच्च स्थान देगा, कोई नीति को और कोई धन को और कोई कुल को। इस प्रकार सर्वोत्तम व्यक्ति कौन है इस पर ही मतभेद होगा। इसके अतिरिक्त सर्वोत्तम व्यक्तियों को ढूँढ़ निकालना बहुत ही कठिन है। क्योंकि करोड़ों की आबादी में से ऐसे नररत्न ढूँढ़ निकालना सहज काम नहीं है। इसलिए व्यावहारिक रूप से सामन्ततन्त्र को कार्यान्वित करना कठिन है। व्यवहार में उच्चजनतन्त्र का पाया धन अथवा जन्म पर ही निर्धारित होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि योग्य पिता की संतान योग्य ही हो यह एक संयोग की बात है। इसलिए जन्म अथवा कुल श्रेष्ठता का मापदंड नहीं हो सकता है। अब धन को लीजिए। धनवानों की संतान बहुधा आलसी, आरामतलब तथा भ्रष्ट हो जाती है। इस कारण धन भी श्रेष्ठता का मापदंड नहीं हो सकता है।

संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार के सामन्ततन्त्र शासन के प्रयोग किये गये हैं। उनमें जन्मजात तथा धनजात सामन्ततन्त्र तो साधारणतया पाये जाते हैं। इनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। संसार में सैनिक सामन्त तंत्र की भी योजना हुई है। जब सैनिक सेवा ही राज्य शासन के लिए सर्वोत्तम गुण माना गया है। धर्मजात सामन्ततन्त्र भी मध्यकालीन युग में प्रचलित था, जब धर्म के गुरु ही शासन के योग्य समझे जाते थे और शासन-कार्य उन्हीं को सौंपा जाता था।

गुण—(१) यदि राज्य शासन सचमुच योग्य व्यक्तियों द्वारा किया जावे तो देश को वास्तव में लाभ होगा, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह असंभव प्रतीत होता है। (२) यह सरकार सुदृढ होगी तथा इसकी आन्तरिक तथा वहिर नीति अविच्छिन्न रूप से हो सकती है। (३) कुलीन तन्त्र का आधार तन्त्र का आधार योग्यता तथा बुद्धिमानी होती है। इसलिये यह शासन असंख्य बुद्धि रहित मूर्ख व्यक्तियों के शासन के दोष से वंचित रहता है। कुलीन तन्त्र गुण को अधिक महत्व देता है, केवल संख्या को नहीं। (४) इस सरकार की धारणा यह है कि राज्य कार्य कठिन और जटिल होता है। सभी व्यक्ति इसे दक्षता से नहीं कर सकते हैं। इसलिए राज्य-कार्य केवल दक्ष तथा निपुण व्यक्तियों के हाथ में ही सौंपना चाहिए। (५) इस प्रकार की सरकार धैर्य संयम तथा विवेक से काम लेती है और देश की संस्कृति रीति-रिवाज साहित्य का आदर करती है तथा सनातन प्रथाओं की रक्षा करती है और उनको प्रोत्साहन देती है। (६) इस प्रकार की सरकार स्थायी होती है इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की कम संभावना रहती है। इस सरकार में उतावलेपन के लिए कोई स्थान नहीं है तथा यह सरकार विवेक तथा विचार के उपरान्त राजनैतिक सुधारों के लिए प्रवृत्त होती है। (७) यह सरकार प्रजातन्त्र की उच्छृंखलता तथा राजतन्त्र की निरंकुशता के दोषों से रहित होती है। (८) इस सरकार

के शासक आर्थिक दृष्टि से संपन्न होते हैं इस कारण घूसखोरी, बेइमानी धनापहरण इत्यादि दोषों से मुक्त रहते हैं। वे केवल यश और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए उत्सुक रहते हैं।

दोषः—(१) कुलीनतन्त्र वर्ग-स्वार्थ में फँस कर जनहित को भूलकर अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए शासन करता है। परिणाम स्वरूप राज्य में वर्गभेद पैदा हो जाता है जिससे ईर्ष्या, संघर्ष इत्यादि भावनाओं का आविर्भाव होता है। (२) इस सरकार में राजकार्य की योग्यता की कसौटी धन ही माना जाता है, यह कसौटी सर्वथा दोषपूर्ण है। (३) योग्य व्यक्ति को ढूंढ़ निकालना तथा योग्यता का मापदंड बनाना असंभव कार्य है। (४) यह सरकार सनातनी विचारों की पक्षपाती होती है, इसलिए यह उन्नति में बाधक है तथा प्रजा के अधिकारों का विरोध करती हैं। (५) इस सरकार में राजनीतिक चेतना का अभाव होता है और इसमें शासक वर्ग अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकते हैं।

३—प्रजातन्त्र अथवा जनतन्त्र—प्रजातन्त्रात्मक सरकार वह सरकार है जिसमें राज्य की प्रभुशक्ति जनता में निवास करती है और जिसमें जनता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य कार्य में भाग लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो। भिन्न भिन्न लेखकों द्वारा प्रजातन्त्र राज्य की परिभाषायें ये हैं:—१—सीली के अनुसार प्रजातन्त्र सरकार वह सरकार है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता है। २—डायसी के अनुसार प्रजातन्त्र सरकार वह सरकार है जिसमें जनता की बहुत बड़ी संख्या के हाथ में शासनका अधिकार हो। ३—लॉर्ड ब्राइस की व्याख्या बहुत श्रेष्ठ मानी जाती है। वह इस प्रकार है—प्रजातन्त्र शासन व्यवस्था ऐसी व्यवस्था है जिसमें राज्य की शासन शक्ति किसी वर्ग विशेष के हाथ में न होकर पूरी जनता अथवा प्रजा के हाथों निहित हो। ४—अब्राहम लिंकन की परिभाषा बहुत अच्छी मानी जाती है। वह इस प्रकार है—प्रजातन्त्र वह

सरकार है जिसमें सम्पूर्ण जनता अपने हित के लिए अपनी इच्छानुसार शासन करती है।

इन परिभाषाओं से निष्कर्ष यही निकलता है कि जनता ही राज्य की सर्वोच्च शक्ति की अधिकारिणी है। राज्य शासन में प्रजा का ही अन्तिम निर्णय है और राज्य शासन में प्रजा का बहुमत ही सर्वमान्य होता है। प्रजातन्त्र में शासन की बागडोर जनता के ही हाथ में रहती है तथा प्रजा का नियन्त्रण भी शासकों पर रहता है। प्रजातन्त्र राज्य में राज्य का उद्देश्य प्रजा का हित साधन ही है।

प्रजातन्त्र राज्य के आधारः—१—स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जब व्यक्ति शासन कार्य में भाग लेगा तभी वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा। सरकार की शक्ति जनता द्वारा प्रदत्त है। सरकार का कर्तव्य है कि जनता की आज्ञा का पालन करे। जनता ही सरकार को बदलती है और जनता ही सरकार की स्थापना करती है। २—समता—समाज में सब व्यक्ति बराबर हैं। समाज में ऊंच-नीच, धनी-निर्धनी का भेद-भाव नहीं होना चाहिए. ३—प्रत्येक व्यक्ति समान न्याय द्वारा शासित होना चाहिए ४—व्यक्ति का हित और सामाजिक हित विरोधात्मक नहीं है इसलिए समाज के हित में व्यक्ति का हित निहित है ५—प्रत्येक व्यक्ति राजनीतिक अधिकार का समान रूप से अधिकारी है तथा प्रत्येक व्यक्ति को राज्य शासन का अधिकार होना चाहिए। अतः राज्य शासन पर प्रभाव डालने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए।

समानता व स्वतन्त्रता ही प्रजातन्त्र के मूल मन्त्र हैं। प्रजातन्त्र राज्य व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए प्रयत्नशील है। व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। समानता के बिना स्वतन्त्रता का कोई मूल्य

नहीं है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए समान रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग आवश्यक है। अतः स्वतन्त्रता तथा समानता प्रजातन्त्र राज्य के मूल सिद्धान्त हैं।

प्रजातन्त्र के रूप—प्रजातन्त्र के दो रूप होते हैं:—१. प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र २. अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र।

(१) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—आज कल प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र स्विटजरलैण्ड की कुछ रियासतों में तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की कुछ रियासतों को छोड़ कर कहीं भी प्रचलित नहीं हैं। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र वह सरकार है जहाँ जनता अपनी इच्छा प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक सभा में प्रकट करती है, अर्थात् राज्य की सम्पूर्ण जनता राज्यकार्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में जनता एक निश्चित स्थान में एकत्रित होकर कानून बनाती है, न्याय करती है, राज्य कर्मचारियों को चुनती है, युद्ध और सन्धि का निर्णय करती है, आय-व्यय का ब्योरा बनाती है और कर लगाती है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ऐसे राज्य में ही सम्भव है जहाँ का क्षेत्रफल छोटा हो, जहाँ की जनसंख्या इतनी कम हो कि एक स्थान पर एकत्रित होकर राज्यकार्य प्रत्यक्ष रूप से कर सके। सामाजिक जीवन की समस्याएँ दिन प्रति दिन जटिल होती जाती हैं। राज्य कार्य करने के लिए तथा कानून बनाने के लिए विशेष गुण एवं विशेष योग्यता की एवं विशेष निपुणता की आवश्यकता होती है। साधारण जनता इस कार्य में कहाँ तक सफल हो सकती है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। गार्नर का यह कथन यथार्थ ही है कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तभी सम्भव हो सकता है जब जनसंख्या इतनी कम हो कि एक स्थान में एकत्रित हो सके और ऐसा समाज बहुत अधिक विकसित न हो तथा सामाजिक जीवन की समस्याएँ सरल और प्रारम्भिक अवस्था में हों। उदाहरणार्थ, भारत की जनसंख्या ३५ करोड़ की है, अतः यहाँ पर प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव नहीं है।

(२) अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—आधुनिक राज्य इतने बड़े होते हैं कि

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सरकार तो सम्भव नहीं है। इस कारण अधिकांश राज्यों में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ही है। 'प्रजातन्त्र' का प्रयोग ही 'अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र' के अर्थ में होने लगा है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अथवा प्रतिनिधि प्रणाली वाली सरकार में शासन जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में ही रहता है। जनता सरकार का काम चलाने के लिये प्रतिनिधियों को निर्वाचित करती है और ये प्रतिनिधि जनता के नाम से शासन करते हैं, और अपने कार्य के लिए ये जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रतिनिधि जनता के हित को ध्यान में रखकर ही शासन-कार्य चलाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि ये जनता को सन्तुष्ट नहीं करेंगे तो अगले चुनाव में वे निर्वाचित नहीं हो सकेंगे।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का आधार—निर्वाचित व्यक्ति जनता की सेवा करेंगे तथा जनहित के लिए अथक प्रयत्न करते रहेंगे। जनता ऐसे ही व्यक्तियों को चुनेगी जिनमें उसको विश्वास है कि वे उसके हितों की रक्षा करेंगे तथा उसके हितों की वृद्धि करेंगे। निर्वाचन पद्धति से जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है, वह राज्य के कार्यों को समझने लगती है, तथा उसमें दिलचस्पी लेने लगती है—अर्थात् राज्यकार्य जनता की सम्मति से ही चलता है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में भेद यही है कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में सार्वभौमिकता प्रजा में ही निहित होती है और प्रजा ही उसका प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करती है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में सार्वभौमिकता का निवास जनता में ही है किन्तु व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही इस सार्वभौमिकता का प्रयोग करते हैं। दोनों प्रणाली में जनता की इच्छा ही सर्वेसर्वा है तथा जनता ही राज्य कार्य को निर्धारित करती है।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सरकार को उत्तम बनाने के लिए तथा जनता की इच्छाओं के निरंतर यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित करने के लिए राजनीतिज्ञों ने कुछ उपाय ढूँढ़ निकाले हैं। अनुभव से यह देखा गया है कि व्यव-

स्थापिका सभा के सदस्य बन जाने के उपरान्त प्रतिनिधि लोकमत को अव-हेलना करके मनमाना करने लगते हैं। चुनाव के समय जनता को बड़े-बड़े सुधारों का प्रलोभन देकर बहुमत प्राप्त कर लेते हैं और सदस्यता प्राप्त कर लेने पर अपनी इच्छानुकूल शासन करने लगते हैं। अर्थात् जनता के प्रतिनिधि जनता की इच्छाओं को कार्य-रूप में परिणित नहीं करते हैं।

स्विटजरलैंड में ये उपाय प्रचलित हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में भी इन उपायों को कुछ राज्यों ने ग्रहण किया है। परन्तु संसार के अधिकांश अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सरकारों ने इन्हें ग्रहण नहीं किया है।

(१) जनारंभाधिकार (Initiative)—प्रत्येक कानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा ही बनाया जाता है, परन्तु व्यवस्थापिका सभा के असावधानी के कारण अथवा कार्य के भार के कारण, यदि कोई कानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा न बनाया गया हो, परन्तु जनता किसी कानून को महत्वपूर्ण समझती हो तो कुछ शर्तों की पूर्ति के बाद जनता स्वयं कानून का ढांचा तैयार कर सकती है, और व्यवस्थापिका सभा को तथा व्यवस्थापिका मंडल को उस पर विचार करने के लिए बाध्य करती है। अर्थात् जब जनता ही कानून बनाने का कार्य आरंभ करती है तब इस अधिकार को जनारंभा-धिकार कहते हैं।

(२) जनादेश (Referendum)—जनादेश वह अधिकार है जिससे व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत कानून को, विधान द्वारा निश्चित जन समुदाय अपनी मांग द्वारा जनता के वोट के लिए अथवा जनता के समक्ष लाने के लिए व्यवस्थापिका सभा को बाध्य करता है। स्विटजरलैंड में व्यस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत प्रत्येक कानून जनता के निर्णय के लिए तथा जनता की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। यही वहाँ की परिपाटी है।

(३) जनसम्मति—यह अधिकार पहले महायुद्ध के बाद प्रयोग में लाया जा चुका है। जनसम्मति द्वारा ही 'सार' प्रदेश फ्रांस में सम्मिलित

किया गया था। काश्मीर का भविष्य भी जनसम्मति पर छोड़ा गया है अर्थात् काश्मीर का जनसमुदाय अपनी राय से ही पाकिस्तान में अथवा भारतसंघ में सम्मिलित होगा। जन सम्मति द्वारा ही महत्वपूर्ण विषयों पर जनता के मत का आभास मालूम देता है। संसार में कुछ भूमि भाग ऐसे हैं जिनकी जनता मिश्रित है और जो दो राज्यों के बीच में पड़ते हैं। दोनों ही देश इस भूमि भाग पर अपना अधिपत्य जमाना चाहते हैं। ऐसे मतभेद के समय जनसम्मति द्वारा ही जनता की इच्छा का पता चलता है। यही तरीका न्यायपूर्ण तथा संतोषजनक हो सकता है।

(४)—वापसी (Recall)—जनता को यह अधिकार है कि यदि जनता द्वारा चुना हुआ प्रतिनिधि जनता की इच्छाओं का यथाथ प्रतिनिधित्व न करके मनमाना करने लगता है तो ऐसे समय जनता ऐसे सदस्य को वापस बुला ले तथा उस रिक्त स्थान पर नये सदस्य चुने।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र बनाने के लिए उपर्युक्त चार उपाय बनाये गये हैं।

प्रजातन्त्र के गुण:—(१) यह एकमेव सरकार है जो जनता द्वारा स्थापित की जाती है। इसमें शासन कार्य जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। शासक वर्ग प्रजा के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा प्रजा से नियन्त्रित रहते हैं। इस कारण शासक वर्ग अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं कर सकते हैं और यदि वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं तो जनता ऐसे शासकों को पुनः निर्वाचित नहीं करती है। सारांश यह है कि इस सरकार का मुख्य सिद्धांत जनहित ही होता है। जनता की मांगे तथा उनकी आवश्यकताओं की जानकारी प्रतिनिधियों द्वारा होती रहती है। इस कारण उनकी पूर्ति प्रजातन्त्र सरकार द्वारा ही की जा सकती है।

(२) यह सरकार किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण समाज की उन्नति के लिए तथा समाज हित के लिए शासन करती है।

लघुमत के नागरिकों को भी अपने विचार प्रकट करने की सुविधा प्राप्त होती है तथा पिछड़ी हुई जातियों के अधिकारियों की रक्षा तथा उन्नति की सुविधा इस सरकार द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

(३) प्रजातंत्र निरंकुशतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के दोषों से मुक्त रहता किसी वर्ग, जाति, अथवा किसी बलवान व्यक्ति द्वारा जनता का शोषण नहीं हो सकता है।

(४) अन्याय तथा असमानता ही क्रान्ति के मुख्य कारण हैं। परन्तु इस सरकार में विद्रोह की आशंका कम होती है क्योंकि जनता शासन को अपना शासन समझती है और यह शासन स्थायी होता है। शान्ति और सुव्यवस्था की संभावना इस शासन में अधिक होती है।

(५) यह सरकार समानता, व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा नागरिकों के अधिकारों को महत्व देती है। इस सरकार में शासक तथा शासित के बीच गहरी खाईं नहीं होती है। समानता के सिद्धान्त पर स्थिति यह सरकार सभी मनुष्यों को आध्यात्मिक नैतिक तथा आर्थिक उन्नति करने का अवसर देती है। प्रत्येक मनुष्य अपने विकास के लिए प्रयत्नशील होता है क्योंकि योग्यता के बल पर प्रत्येक नागरिक ऊँचे से ऊँचे पद को प्राप्त कर सकता है।

(६) जन साधारण में शासन के प्रति अपनत्व की भावना होने के कारण उनमें राज्य के प्रति प्रेम तथा भक्ति की भावना उत्पन्न होती है। इसी भावना को राष्ट्रीय प्रेम कहते हैं और इसी भावना के कारण राजनैतिक चेतना की सृष्टि होती है।

(७) प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यक्ति को उच्च ध्येयों के लिए छोटे स्वार्थों का बलिदान करना सिखलाता है।

(८) और सरकारें जनता की मूढ़ावस्था का अनुचित लाभ उठाकर राज्य शासन करती हैं। प्रजातन्त्र राज्य नैतिक तथा राजनीतिक शिक्षा का

पक्षपाती है। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को अधिकार तथा कर्तव्यों का बोध होता है। इसी से राजनीतिक जागृति का जन्म होता है। प्रजातन्त्र राज्य की सफलता सच्ची नागरिकता पर ही अवलंबित है। इसलिए प्रजातन्त्र राज्य जनता को दबा कर नहीं बल्कि जनता को जागृत करके ही अपनी नींव सुदृढ़ करता है। परिणामस्वरूप नागरिकों में देश-प्रेम जागृत होता है। अतएव साधारण जनता शासन की समस्याओं को समझने लगती है और सरकार के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगती है।

(९) इस सरकार का सर्वोच्च गुण है चरित्रगठन। इस सरकार का नागरिक के बौद्धिक तथा नैतिक चरित्र पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। दायित्व ही मनुष्य की अच्छी परन्तु सुप्त प्रवृत्तियों को जगाता है। इस सरकार के कारण प्रत्येक नागरिक में आत्मविश्वास की भावना की जागृति होती है। यह सरकार नैतिक गुणों को, जैसे, सहिष्णुता, लेन-देन, भ्रातृत्व महानुभूति, प्रेम, सहयोग, सेवाभाव इत्यादि गुणों को प्रोत्साहित करती है तथा यह सचेतन, जागृत स्वस्थ विचारवान नागरिकता की सृष्टि करती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में उत्तरदायित्व तथा त्याग की भावना का उदय होता है। तथा नागरिक कुटुम्ब, समाज, देश के लिए त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है।

अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रजातन्त्र राज्य स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्त पर स्थापित है, इसलिए इस सरकार की पूर्ण सफलता तभी होगी जब संसार से युद्ध का निर्वासन होगा और प्रजातन्त्रात्मक भावनाओं से प्रेरित होकर सब राष्ट्र एक शासन, विश्व नागरिकता तथा विश्व-संघ-राज्य की ओर बढ़ेंगे।

प्रजातन्त्र सरकार के दोष :—(१)प्रजातन्त्र शासन गुण तथा योग्यता के बदले जनसंख्या को महत्व देता है। 'लॉके' का कथन है कि प्रजातन्त्र सरकार मूर्ख, गरीब, अयोग्य, अशिक्षित तथा अज्ञानियों का शासन है।

(२) प्रजातन्त्र सरकार में प्रत्येक व्यक्ति के वोटों का समान मूल्य है। अर्थात् विद्वान् तथा मूर्ख दोनों ही की राय का समान मूल्य है। प्रजातन्त्र सरकार बहुमत के अनुसार शासन कार्य करती है। प्रत्येक देश में मूर्खों तथा अशिक्षितों की संख्या अधिक होती है। अतः प्रजातन्त्र शासन मूर्खों का शासन है बुद्धिमानों का नहीं।

(३) प्रजातन्त्र शासन में राज्य के कानून बहुमत के आधार पर बनते हैं। परन्तु बहुमत उचित अथवा अनुचित भी हो सकता है। सभी निर्णय बहुमत के आधार पर होते हैं, इस कारण अल्प संख्यकों के हित के बलिदान की आशंका रहती है।

(४) इस सरकार से अवसरवादी तथा पदलोलुप व्यक्ति खूब लाभ उठाते हैं। ये लोग चुनाव के समय झूठी-झूठी प्रतिज्ञाओं से तथा भावना प्रद व्याख्यानों से जनता का हृदय मोह लेते हैं। परन्तु निर्वाचन के बाद स्वार्थ में लीन होकर अपने शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। इस प्रकार प्रजा-तन्त्र सरकार स्वार्थ परायण व्यक्तियों के हाथ की कठपुतली बन जाती है।

(५) लोकतन्त्र सरकार का वातावरण संस्कृति, विज्ञान, साहित्य कला इत्यादि की उन्नति के लिए अनुकूल नहीं होता है। यह सरकार विद्वत्ता, बुद्धिमानी इत्यादि को प्रोत्साहन नहीं देती है। यह केवल संख्या को महत्व देती है। इस सरकार में सारा महत्व राजनीति तथा राजनीति में भाग लेने वाले व्यक्तियों को ही दिया जाता है।

(६) धनी लोग धन की लालच दिखाकर गरीबों को वोट देने के लिये बाध्य करते हैं। पत्रकारों को आधीन करके जनमत अपनी ओर मोड़ लेते हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्र का वातावरण दूषित हो जाता है।

(७) दलबन्दी के सब दोष इस सरकार में विद्यमान होते हैं। जिन देशों में दो से अधिक राजनीतिक दल होते हैं उन देशों में सरकार जल्दी-जल्दी बदलती है। इससे राज्यकार्य में हानि होती है।

(८) इस सरकार में राजनीति पेशा हो जाता है और कुछ व्यक्ति राजनीतिक सत्ता हाथ में रखने के लिए सभी तरह के साधन हस्तगत करते हैं।

(९) सबका दायित्व किसी का दायित्व नहीं होता है। इसलिए इस सरकार में आन्तरिक शासन सुदृढ़ नहीं होता है और परराष्ट्र नीति अस्थायी हो जाती है। राजतन्त्र तथा सामन्ततन्त्र सरकारें सुदृढ़ तथा स्थिर सरकारें होती हैं।

(१०) प्रजातन्त्र सरकार में निर्णय सभा द्वारा किया जाता है। ऐसी सरकार में वाद विवाद में समय नष्ट होता है। गंभीर संकट के समय यह सरकार शीघ्र निर्णय नहीं कर सकती है।

(११) प्रजातन्त्र सरकार स्वतन्त्रता तथा समानता के आधार पर बनती है। परन्तु प्रकृति में असमानता पाई जाती है। सामाजिक जीवन में नियन्त्रण आवश्यक है। स्वतन्त्रता से तो विप्लव हो जायगा।

(१२) प्रजातन्त्र सरकार में समानता के सिद्धान्त को अपनाया है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को उच्च से उच्च पद के लिए उपयुक्त समझता है। शासन चलाने के लिए शिक्षा व अनुभव की आवश्यकता होती है। आधुनिक राज्य शासन जटिल तथा पेंचीदा हो गया है। साधारण सदस्य उसको समझने में असमर्थ हैं अर्थात् प्रजातन्त्र सरकार समानता के सिद्धान्तों का अतिरेक करके शासनकार्य में निपुणता को गौण स्थान देती है।

(१३) प्रजातन्त्र सरकार कानून जनहित के लिए नहीं लेकिन वोट पकड़ने के हेतु बनाती है। इस शासन में धन का अधिक व्यय होता है।

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थः—संसार के अधिकांश देशों में प्रजातन्त्र सरकार की स्थापना है और प्रायः सभी राजनीतिज्ञ इसे सर्वश्रेष्ठ सर-

कार समझते हैं। मनुष्य अपूर्ण है इसलिए उसके द्वारा नियोजित सभी संस्थायें अपूर्ण ही होंगी। प्रत्येक सरकार तथा प्रत्येक संस्था जनता की अथवा सदस्यों की अच्छाइयों तथा बुराइयों का प्रतिबिंब मात्र है। प्रजातन्त्र सरकार के अनेकों दोष होते हुए भी अधिकांश राजनीतिज्ञ इसकी सराहना करते हैं और सरकार के संगठन तथा समाज की रचना के लिए प्रजातन्त्र सरकार को ही उच्च स्थान देते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि जैसे-जैसे प्रजातन्त्रात्मक भावना देश के कोने-कोने में फैलेगी वैसे-वैसे प्रजातन्त्र सरकार के दोष कम होते जायँगे। प्रजातन्त्रात्मक भावना मनुष्य जीवन का सिद्धान्त है—यह समाज संगठन की एक दृष्टि है। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन यापन करने से पूर्ण मानवता का जन्म हो सकेगा। आज प्रजातन्त्र सिद्धान्त केवल सरकार के कार्य में ही लागू है। प्रजातन्त्र प्रणाली केवल सरकार के ही संगठन में प्रयोग करने से इसको पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है, बल्कि इस सिद्धान्त का प्रयोग राज्य, समाज, कुटुम्ब, संस्था अर्थात् प्राणीमात्र के जीवन के सभी पहलुओं में होना चाहिए। यह एक श्रेष्ठतम भावना है, मानवजीवन यापन के लिए एक महत्वपूर्ण आदर्श है। प्रजातन्त्रात्मक भावना ऐसे समाज की रचना करना चाहती है जिसमें साम्राज्यवाद अथवा शोषणवर्ग और शोषितवर्ग न हों। ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, छूत-अछूत की भावना न हो। समाज तथा राष्ट्र में समानता, एकता, न्याय और स्वतन्त्रता का व्यवहार हो तथा ऐसी भावनायें सक्रिय रूप से प्रोत्साहित हों। प्रजातन्त्र सरकार तभी सफल हो सकती है जब राजनीतिक समानता के साथ ही साथ सामाजिक तथा आर्थिक समानता की स्थापना करने का प्रयत्न होगा। आज केवल राजनीतिक समानता की स्थापना हुई है अर्थात् प्रत्येक नागरिक को समान रूप से वोट देने का अधिकार प्राप्त हुआ है। परन्तु जब तक आर्थिक तथा सामाजिक समानता भी स्थापित नहीं होती तब तक ईर्ष्या, द्वेष, लालच, घूसखोरी, विरोध, संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता इत्यादि प्रवृ-

त्तियों का साम्राज्य बना रहेगा। ये प्रवृत्तियाँ जब तक नागरिकों में विपुल रूप में रहेंगी तब तक उसका प्रतिबिंब समाज तथा सरकार पर भी पड़ेगा। समाज तथा सरकार तो नागरिकों का समूह है इसलिए प्रजातन्त्र सरकार की पूर्ण सफलता के लिए आर्थिक व सामाजिक समानता आवश्यक है। इन तीनों समानताओं की प्राप्ति के बिना संसार की समस्याओं का अन्त नहीं हो सकता है।

प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए नैतिक समानता की भी आवश्यकता है। मनुष्य के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति तथा विकास करने का पूर्ण रूप से अधिकार तथा अवसर प्राप्त होना चाहिए। आज इंगलैंड, अमेरिका, भारत आदि देशों में राज्य तथा सरकार प्रजातन्त्रात्मक है किन्तु आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्र में इन देशों में आज की असमानता विद्यमान है। राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र की स्थापना से राज्य में एक प्रकार का स्थायीपन आ जाता है। जनता अन्य क्षेत्रों में भी प्रजातन्त्र की स्थापना की मांग करने लगती है तथा अन्य क्षेत्रों में प्रजातन्त्र स्थापित करने का प्रयत्न आरम्भ कर देती है। यदि जनता पूर्ण प्रजातन्त्र स्थापित करने में पूर्ण सफल हुई तो ठीक है, नहीं तो, राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रजातन्त्र का अन्त हो जाता है अर्थात् प्रजातन्त्र को सफलीभूत बनाने के लिए प्रजातन्त्र की स्थापना आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्र में भी होना आवश्यक है। अर्थात् जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रजातन्त्रात्मक भावना का समावेश होना आवश्यक है। जब प्रजातन्त्र की यह सुन्दर इमारत इन चार स्तंभों पर खड़ी रहेगी तभी यह स्थायी हो सकेगी और तभी सच्ची पवित्र मानवता का जन्म होगा। विश्वशान्ति तथा विश्वविकास का यही मूलमन्त्र है।

प्रजातन्त्र को सफल बनाने के उपाय :—

जैसा कहा जा चुका है प्रजातन्त्र सरकार के दोष होते हुए भी यही सरकार सबसे अच्छी व उत्तम मानी जाती है। अधिकांश राज्यों ने इस

प्रणाली को ग्रहण किया है। वास्तव में पूर्ण रूप से प्रजातन्त्र कहीं पर भी नहीं है। यह बात स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र राज्य की सफलता का दायित्व जनता पर भी बहुत सीमातक निर्भर है। सारांश यही कि प्रजातन्त्र राज्य को पूर्णतया सफल होने के लिए अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है। और साथ ही जनता में भी कुछ गुणों का होना आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्र को इस ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।

(१) **जनता का शिक्षित होना**—प्रजातन्त्र सरकार जनता पर ही निर्भर है। प्रजातन्त्र राज्य सफल तभी हो सकता है जब जनता शिक्षित हो। प्रत्येक नागरिक के लिए अच्छी उदार शिक्षा का प्रबन्ध राज्य द्वारा होना आवश्यक है। साधारण शिक्षा के साथ राजनीतिक शिक्षा भी अनिवाय होनी चाहिए जिससे जनता राज्य की समस्याओं को समझे। शिक्षा द्वारा स्वतन्त्र विचार तथा विवेक को प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है, जिससे व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र के प्रत्येक पहलू पर स्वतन्त्रता तथा विवेक द्वारा मत प्रकट कर सके। विद्या मंदिरों में वर्गविहीन साम्प्रदायिकता रहित वातावरण होना चाहिए। राजनीतिक दलों का आधार साम्प्रदा-यिकता, वर्ग वेद अथवा अन्य भेद जो मनुष्य को मनुष्य से पृथक करे नहीं होना चाहिए। किन्तु राजनीतिक दलों का संगठन राष्ट्रीय अथवा आर्थिक सिद्धान्तों पर ही होना चाहिए।

(२) शासक वर्ग के अन्दर नैतिक बल का होना परमावश्यक है, जिससे वे ईमानदारी, बुद्धिमानी तथा निस्वार्थ भावना से काम करें। शासक वर्ग में ऐसे व्यक्ति हों जो अपने कार्य में रुचि रखते हों। शासक वर्ग ऐसा हो जो राज्य-कार्य का दायित्व वहन करने योग्य हो तथा बहुमत के आगे नतमस्तक हो अर्थात् प्रजा को ऐसे व्यक्तियों को निर्वाचित करना चाहिए जिनका आचरण पवित्र व निष्काम हो।

(३) जनता में सहयोग सहिष्णुता, कर्तव्यनिष्ठता, ईमानदारी, सेवा, त्याग तथा सार्वजनिक कार्य के लिए उत्साह इत्यादि भावनाओं को शिक्षा

(७) राज्य को स्वायत्त शासन की व्यवस्था करनी चाहिये तथा प्रजा को उसके लिये उत्साहित करना चाहिये। साधारण नागरिक राष्ट्रीय समस्याओं में दिलचस्पी लेने में असमर्थ होता है। परन्तु अपने गाँव अथवा शहर के कार्यों में दिलचस्पी लेता है। स्वायत्त शासन द्वारा नागरिक राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करता है। स्वायत्त शासन द्वारा वह शासन कला में दक्ष होता है। इन्हीं समस्याओं द्वारा अपने दायित्व को वह समझने लगता है। स्वायत्त शासन द्वारा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना सीखता है। स्वायत्त शासन पर ही प्रजातन्त्र राज्य की नींव सुदृढ़ हो सकती है। नागरिक राजनीति का प्रारम्भिक पाठ यहीं पढ़ता है।

(८) प्रजातन्त्र राज्य की नींव राजनीतिक जागृति पर निर्भर है। राजनीतिक जागृति, लेखन स्वातन्त्र्य, भाषण स्वातन्त्र्य तथा विचार स्वातन्त्र्य से सम्भव है। प्रजातन्त्र राज्य में प्रजा को तीनों प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। समाचार पत्रों को सरकार की रचनात्मक तथा सुधार की दृष्टि से आलोचना करनी चाहिए। समाचार पत्रों को क्रान्ति की आह्वाहना नहीं करनी चाहिये। तथा समाचार पत्रों का प्रकाशन पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ साधन के लिये नहीं होना चाहिये।

(९) शासकों को जनता की भावना तथा आवश्यकताओं का आदर करना चाहिये। जब शासकों पर जनता का विश्वास हट जाय उस समय ऊँचे से ऊँचे पद का त्याग कर अन्य लोगों को जनता की सेवा करने का अवसर देना चाहिये।

(१०) नागरिकों की निरन्तर सतर्कता तथा शासकों को निरंकुश शासन से रोकना इन्हीं दो बातों पर प्रजातन्त्र की सफलता निर्भर है।

उपरोक्त विवरण पढ़कर यह स्वाभाविक है कि पाठकों के मन में यह विचार आयेगा "उपरोक्त गुणों के सम्पादन के बाद ही प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना सम्भव है।" उपरोक्त बातें आदर्श रूप में रक्खी गई हैं। कुछ

चीजें ऐसी हैं कि प्रजातन्त्र शासन प्रणाली की स्थापना के बाद ही उनकी उत्पत्ति हो सकती है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रजातन्त्र सरकार के हाथों से त्रुटियाँ होने की सम्भावना अधिक होती है जैसे जैसे राजनीतिक जागृति होगी तथा नागरिकता की भावना का उदय होगा वैसे वैसे प्रजातन्त्र राज्य की कार्य कुशलता तथा दक्षता बढ़ती जायेगी। इसलिए इस शासन प्रणाली को प्रारम्भ कर देना चाहिये।

तानाशाही—प्रथम महायुद्ध के बाद पराजित देशों में राजनीतिक व आर्थिक संकट ने भयंकर रूप धारण किया था। लोकतन्त्र इस संकट को हल करने में असफल रहा। लोकतन्त्र सरकारों को कुचल कर इटली में फासिस्टवाद तथा जर्मनी में नाजीवाद का उदय हुआ। योरोप के अधिकांश देशों में जैसे पोलैण्ड, रोमेनिया, टर्की, युगोस्लाविया इत्यादि देशों में अधिनायक तन्त्र अथवा तानाशाही बढ़ने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रजातन्त्र सरकार अब फिर सिर उठा न सकेगी। इटली और जर्मनी के तानाशाही के कारण ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, और उसी युद्ध में दोनों तानाशाही का अन्त हुआ। तानाशाही उस सरकार को कहते हैं जिसमें राज्यशक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में हो तथा राज्य का संचालक सैनिक बल द्वारा ही राज्य शासन करता हो। इटली तथा जर्मनी में एक दल तथा एक नेता की सरकार बनी। ऐसी सरकार का सिद्धान्त, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद तथा सैनिक शक्ति ही है। जब समाज और व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में राज्य हस्तक्षेप करता है तो ऐसी सरकार को तानाशाही अथवा सर्वसर्वा कहते हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक सभी क्षेत्र में राज्य की सत्ता सर्वसर्वा होती है। सर्वसर्वा शक्ति राज्य के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को योजना द्वारा संगठित करती है।

तानाशाही सरकार आर्थिक अथवा राजनीतिक संकट के बाद और सैनिक शक्ति द्वारा उत्पन्न होती है। तानाशाह के हाथ में सम्पूर्ण प्रभुत्व

शक्ति रहती है। उसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं रहता है, और तानाशाह असाधारण शक्ति सम्पन्न रहता है।

तानाशाही सरकार तथा राजतन्त्र सरकार में मूलतः यह भेद है। तानाशाह क्रान्ति अथवा विप्लव के बाद राज्यशक्ति सम्पादन करता है, और तानाशाह वास्तविक शासक होता है। परन्तु उसके पास राजसी चिन्ह नहीं होते हैं। तानाशाह वंशानुक्रम के अनुसार शासक नहीं होते हैं। अधिकांश तानाशाही सरकारों में विचार, भाषण, लेखन तथा वक्तव्य की स्वतन्त्रता का नाम-निशान भी नहीं होता है। तानाशाह राज्य तथा समाज के प्रत्येक पहलू का निर्णायक होता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करने में किसी प्रकार से भयभीत नहीं होता है। तानाशाह महत्वाकांक्षी होते हैं।

तानाशाही सरकार के गुण :—(१) राष्ट्रीय एकता का पोषक है। (२) राज्य में तत्परता तथा दृढ़ता होती है। (३) जल्दी निर्णय कर सकती है। (४) विदेशी नीति तथा युद्ध के समय इसमें कार्यक्षमता पाई जाती है। (५) पूँजीवाद की जटिल समस्याओं को सुलझा सकती है। (६) नागरिक के समक्ष देश प्रेम का उच्च ध्येय रखती है। इसके कारण नागरिकों में उत्कृष्ट देशभक्ति का संचार होता है। (७) इसकी सैनिक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि अन्य राष्ट्र इसकी शक्ति से भयभीत होते हैं।

दोष :—(१) इसका आधार दबाव तथा भय है। नागरिकों की सम्मति तथा शुभेच्छा नहीं इसलिए मूलतः यह संघर्ष तथा युद्ध को वांच्छनीय समझती है। सैनिक-शक्ति अत्यधिक बढ़ा लेने से राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का समतुलन नष्ट हो जाता है। इसका परिणाम जनता के लिए दुःखकर होता है। जब एक राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगता है तब स्वरक्षा के हेतु दूसरे राष्ट्र भी अपनी सामरिक शक्ति बढ़ाने लगते हैं।

परिणाम स्वरूप युद्ध की मनोवृत्ति तथा युद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। कालान्तर में यह विश्वयुद्ध में परिणित होता है। (२) तानाशाही सरकार राज्यों के शान्तिमय सम्बन्ध तथा समानता में विश्वास नहीं करती है। (३) इस प्रकार की सरकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा नागरिकों के मूल अधिकारों को कुचल देती है। अर्थात् ऐसी सरकार में भाषण, लेखन, विचार, धर्म इत्यादि की स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। फल स्वरूप ऐसा शासन व्यक्तित्व का विकास तथा नैतिक उन्नति का अवरोध करता है। अर्थात् राज्य व्यक्ति को प्रभुशक्ति का दास समझता है तथा नागरिकों को राज्य का निर्जीव अंग मात्र समझता है। (४) तानाशाह के पतन अथवा मृत्यु के बाद शासन व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती है। उसे सम्भालना असम्भव हो जाता है। बहुत समय तक देश अंधकार तथा अव्यवस्था में पड़ा रहता है।

आधुनिक प्रजातन्त्र के लिये इस प्रकार की सरकार अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। प्रजातन्त्र सरकार समानता स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व पर स्थित है। तानाशाही दासता तथा शारीरिक बल पर। प्रजातन्त्र सरकार शान्ति प्रेमी है, तानाशाही युद्ध प्रेमी।

नौकरशाही अथवा कर्मचारियों का राज्य :—इस सरकार का शासन कर्मचारियों द्वारा होता है। जो विशेषरूप से सार्वजनिक कार्य अथवा राज्यकार्य के लिये दीक्षित होते हैं। ये प्रजातन्त्र राज्य के शासकों के समान प्रजा द्वारा निर्वाचित होकर शासन के कार्य-भार को ग्रहण नहीं करते हैं। इनकी नियुक्ति विशिष्ट परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद होती है। इनको वेतन, वेतन की वृद्धि, पेन्शन, अवकाश इत्यादि निश्चत अवधि व निश्चित नियम के अनुसार व ओहदे के अनुसार प्राप्त होता है। ये अपने विभाग के कार्य में दक्ष व कुशल होते हैं। ये किसी राजनैतिक दल के सदस्य नहीं हो सकते हैं। राजनीतिक विभाग में काम

करना इनका पेशा होता है। नौकरशाही सरकार को जनता की अनुमति, जनता के मत अथवा जनता की इच्छा से कोई सरोकार नहीं होता है। जनता का अनुकूल वा प्रतिकूल मत इन्हें पदस्थ वा अपदस्थ नहीं करता है। अर्थात् ये राज्यकार्य के लिये जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते हैं। ऐसी सरकार दक्ष व कार्यकुशल होती है। परन्तु ऐसी सरकार जनता में देश भक्ति, दायित्व इत्यादि भावना को प्रोत्साहित नहीं करती है। जो भावनायें प्रजातन्त्र सरकार का मूलमन्त्र हैं।

प्रत्येक राज्य में नौकरशाही का होना आवश्यक है। इसके बिना राज्यकार्य असम्भव हो जायेगा। नौकरशाही राज्य के दिन प्रतिदिन के कार्यभार को वहन करती है। विभागों के आन्तरिक कार्यों का निरीक्षण करती है। जब मन्त्रिमण्डल अपदस्थ होता है तो राज्यकार्य चलाती है। नौकरशाही तथा निर्वाचित मन्त्रिमण्डल का सम्बन्ध :—नौकरशाही को सदैव मन्त्रियों को परामर्श देना चाहिये। प्रजातन्त्र राज्य में नौकरशाही का स्थान गौण होना चाहिये। निर्वाचित व्यक्ति ही राज्य की नीति को निर्धारित करते हैं। नौकरशाही उस नीति को सुचारु रूप से व दक्षता से कार्यान्वित करने के मार्ग दिखाती है।

उपरोक्त वर्गीकरण के अलवा सरकारों का वर्गीकरण शासक मण्डल तथा व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध के अनुसार किया जाता है। इनमें इंगलैंड की सभात्मक सरकार तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की अध्यक्षात्मक सरकारें हैं :—

(१) सभात्मक अथवा उत्तरदायी सरकार:—इस सरकार में राज्य के सर्वोच्च शासक का कोई उत्तरदायित्व नहीं होता है। वह केवल नाम मात्र के लिए शासक होता है। सर्वोच्च शासक निश्चित काल के लिए निर्वाचित होता है जैसे फ्रांस में, तथा इंगलैंड के राजा की तरह वंशानुवंश प्रणाली के अनुसार जीवन काल के लिए नियुक्त होता है।

इस सिद्धान्त में सर्वोच्च शासक के अधिकार अपरिमित होते हैं। परन्तु व्यवहार में नहीं के बराबर होते हैं।

राज्य शासन का वास्तविक कार्य कैबिनेट अथवा मंत्री-मण्डल द्वारा होता है। सभात्मक सरकार का संगठन इस प्रकार होता है। विधान सभा के सदस्यों के निर्वाचन के समय देश के विभिन्न राजनीतिक दल राजनीतिक निर्वाचन क्षेत्रों में अपने अपने दल के उम्मेदवारों को खड़ा करते हैं। निर्वाचन से पूर्व उम्मेदवार अपने दल का कार्यक्रम जनता के सम्मुख रखते हैं। व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के निर्वाचन के बाद सर्वोच्च अधिकारी बहुमत दल के नेता को प्रधान मन्त्री का पद देता है। प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को चुनता है। यही मन्त्रिमण्डल शासकमण्डल अथवा कैबिनेट कहलाती है। समस्त राजकीय कार्य इन मंत्रियों में बाँटे जाते हैं, और एक मन्त्री एक राजकीय विभाग के लिये उत्तरदायी होता है। व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। और प्रधानमन्त्री मन्त्रीपरिषद् का नेता होता है। कैबिनेट अपने नीति और कार्यों के लिए व्यस्वस्थापिका सभा के प्रति वैधानिक रीति से उत्तरदायी होती है। तथा व्यवस्थापिका सभा के अविश्वास के प्रस्ताव पर मन्त्रिमण्डल को पदत्याग करना पड़ता है अर्थात यह सरकार तभी तक शासन कर सकती है जब तक उसे विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। इस उत्तरदायित्व के कारण ही इसे उत्तरदायित्व पूर्ण सरकार कहते हैं। इस प्रकार सभात्मक सरकार में विधान सभा का महत्व-पूर्ण अंग होता है। इस सरकार में शासक मण्डल अथवा कैबिनेट कोई निश्चितसमय के लिये पद ग्रहण नहीं करती है। परन्तु विधान सभा के इच्छा तथा विश्वास पर ही इसका अस्तिव निर्भर है। कदाचित ऐसा भी होता है कि यदि मन्त्रिमण्डल को पूर्ण विश्वास है कि जनमत उसकी तरफ है तो मन्त्रिमण्डल अविश्वास के प्रस्ताव के बाद पदत्याग करने के बदले विधान सभा को स्थगित करने का और पुनः निर्वाचन के लिए प्रस्ताव रखता

है। अर्थात जनमत प्रत्यक्ष रूप से मन्त्रिमण्डल के भविष्य का निर्णय करता है। अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सभात्मक सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना परमावश्यक है, क्योंकि प्रत्येक दल अपने प्रतिनिधियों को व्यवस्थापिका के सदस्यता के लिए खड़ा करता है।

सभात्मक सरकार की विशेषतायें

(१) विधान मण्डल तथा कार्यपालिका का घनिष्ट सम्बन्धः— कैबिनेट अथवा मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा का अंग तथा उसका एक प्रमुख विभाग ही होता है। व्यवस्थापिका सभा मन्त्रिमण्डल का जनक होता है, और मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य व्यवस्थापिका सभा का सदस्य होने के लिए बाध्य होता है, तथा मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा के कार्यों का संचालन करता है। विधान सभा के बहुमत का नेता ही मन्त्रिपरिषद का भी प्रधान होता है। इस प्रकार विधान सभा अथवा धारा सभा में और मन्त्रि-परिषद में अटूट सम्बन्ध होता है, और उन्हें पृथक समझना कठिन है। अर्थात धारा सभा तथा कार्यकारिणी सभा का सम्बन्ध घनिष्ट है, और वे एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे से प्रभावित हैं।

(२) संगठन की एकताः—मन्त्रिमण्डल समस्त राजकीय कार्य प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में एकमत से, सामूहिक रूप से तथा संगठित रूप से करता है। मन्त्रिमण्डल का उत्थान, पतन, पदत्याग पदग्रहण तथा अन्य कार्य सब एक इकाई की भाँति होता है। मन्त्रिपरिषद लोक सभा के सम्मुख सदैव एकमत, एक नीति का अनुसरण करते हैं। अर्थात् अपने आन्तरिक मतभेद को जनता के सम्मुख अथवा धारा सभा के सम्मुख प्रकट नहीं होने देते हैं।

(३) मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्वः—मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूव से धारा सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। उनको प्रत्येक कार्य संगठित रूप से करना अनिवार्य होता है। मन्त्रिपरिषद अविश्वास

के प्रतत्व को स्वीकार करके सामूहिक रूप में पदत्याग करता है। यदि एक मन्त्री के नीति के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास होता है तो सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल को पदत्याग करना पड़ता है। अर्थात् समस्त मन्त्रिमंडल सामूहिक रूप से प्रत्येक मन्त्री का साथी है। और प्रत्येक मन्त्री मन्त्रिपरिषद् के प्रति अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी है।

(४) प्रत्येक मन्त्री राजकीय कार्य सहयोग तथा सहकार्य से करता है। प्रधानमन्त्री विशेष प्रभावशाली तथा शक्तिशाली होता है क्योंकि वह धारा सभा का नेता तथा राज्य के राजनीतिक दल का भी नेता होता है। नीति सम्बन्धी विषयों में मन्त्रिमंडल उसका निर्णय समझने तथा कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है। प्रधानमन्त्री ही मन्त्रिमंडल की सदस्यता में रद्दोबदल कर सकता है।

(५) **अवधि की अनिश्चितता**:—मन्त्रिमंडल किसी निश्चित समय के लिये चुना नहीं जाता है। मन्त्रिमंडल जब तक धारा सभा का विश्वास पात्र है तब तक पदस्थ रहता है।

(६) मन्त्रिमंडल की बैठक गुप्त होती है। तथा प्रत्येक मन्त्री का कर्तव्य है कि वह सरकारी रहस्यों को गुप्त रक्खे।

(७) शासन की वास्तविक शक्ति मन्त्रिमंडल में निहित रहती है। राज्य का वैधानिक प्रधान नाम मात्र का प्रधान होता है। वह मन्त्रिमंडल के परामर्श के अनुसार ही का करता है।

[८] वस्तुतः मन्त्रिमंडल का उत्तरदायित्व केवल धारा सभा के प्रति ही नहीं होता है। विधान सभा के सदस्य जनता के प्रतिनिध होते हैं। अतः मन्त्रिमण्डल अन्तिम रूप से जनता के समक्ष उत्तरदायी होता है। अतएव विधान सभा की शक्ति तथा अधिकार जनता ही है।

[९] विरोधी दल धारा सभा में सरकार को उसकी नीति पर आलोचनात्मक प्रश्न पूछती है। इससे सरकार को अपनी नीति के लिए सदैव

सचेत रहना पड़ता है। यह आलोचनायें बहुमत की तानाशाही को रोकती है।

सभात्मक अथवा मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार के गुण :—

[१] इस सरकार में धारा सभा तथा कार्यकारिणी का अर्थात् कानून बनाने वाले तथा शासन करने वाले विभागों में पूर्ण सहयोग रहता है। इस कारण राज्य के कार्यों में किसी प्रकार की बाधा अथवा संघर्ष नहीं होता है। अर्थात् दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण से राज्य कार्य शान्तिपूर्वक तथा सुचारु रूप से चलता है।

[२] इस सरकार के कार्य योग्यता तथा तत्परता से किये जाते हैं। मन्त्रिपरिषद् धारा सभा का नेता होता है तथा धारा सभा में उसे बहुमत प्राप्त रहता है। इसलिए मन्त्रिपरिषद् जिस प्रस्ताव को आवश्यक समझते हैं तत्परता तथा सुगमता से पास करते हैं।

[३] सभात्मक सरकार जनमत से प्रभावित रहती है। क्योंकि यह पूर्ण रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी रहती है। इस प्रकार इस सरकार में जनशक्ति की प्रभुता बनी रहती है। यदि सरकार जनमत का विरोध करती है तो पदत्याग के लिए बाध्य हो जाती है। जनता नई सरकार की स्थापना करती है धारा सभा को सरकार के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार होता है। सरकार धारा सभा के प्रति जवाबदेह होती है।

[४] इसका महत्वपूर्ण गुण है लचीलापन तथा परिवर्तनशीलता। आर्थिक संकट के समय अथवा राष्ट्रीय संकट के समय यह तत्परता से मन्त्रि-परिषद में परिवर्तन करके ऐसे मन्त्रिपरिषद् का संगठन कर सकती है, जो युद्ध अथवा अन्य प्रकार के संकट से योग्यता पूर्वक देश को मुक्त कर सके।

[५] यह सरकार निरंकुश होकर मनमानी नहीं कर सकती है। क्योंकि सभात्मक सरकार की शक्ति अपरिमित नहीं है। इसके शक्ति का मूल स्थान व्यवस्थापिका सभा है जो इसे दबाव में रख सकती है।

[६] अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा यह सरकार अधिक शक्तिशाली होती है। राज्यकार्य निशंक भाव से कर सकती है।

[७] आवश्यकतानुसार अयोग्य मन्त्री को हटा कर योग्य मन्त्री को नियुक्त कर सकती है।

[८] धारा सभा में विपक्षी दल अथवा अल्पमत का दल सरकार के कार्यों की आलोचना करता है। इससे दो फायदे हैं [अ] सरकार पद से मदान्ध होकर जनहित को भूल नहीं सकती है। [ब] सरकार जनता की इच्छाओं से सदैव परिचित रहती है। [स] सरकार तानाशाही अथवा मनमानी करने से अपने आप को रोकती है।

दोषः—[१] यह सरकार परिवर्तनशील, अनिश्चित तथा अल्पजीवी होती है। इससे राज्यकार्य तथा सार्वजनिक कार्य में गड़बड़ी पैदा होती है। फ्रांस में कई राजनीतिक दल होने के कारण सरकार बारम्बार बदलती है। जिससे राज्यकार्य सुचारु रूप से चल नहीं पाता है। प्रत्येक नई सरकार नये विचार तथा नये तरीके हासिल करना चाहती है। कभी-कभी नई सरकार जनता की मनस्थिति बिना समझे बूझे एकाएक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के लिये प्रस्तुत होती है। इससे जनता में असंतोष तथा आशंका की भावना पैदा होती है। कारण यही है कि प्रत्येक मन्त्रि-परिषद् इतना अल्पजीवी होता है कि वह अपने छोटे से मन्त्री काल में बहुत कुछ कर डालना चाहता है।

[२] शासन प्रबन्ध में दृढ़ता व स्थाइत्व का अभाव होता है।

[३] यह सरकार विभक्त कार्यप्रणाली के अनुसार कार्य नहीं करती है। कार्यकारिणी तथा धारा सभा के कार्य अर्थात् शासन कार्य तथा कानून बनाने के कार्य सरकार के हाथ में एकत्रित हो जाते हैं। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती है।

[४] इस सरकार का आधार राजनीतिक दलबन्दी है। इस सरकार से दलबन्दी की प्रवृत्ति बढ़ती है। इससे ईर्षा संघर्ष इत्यादि बढ़ता है। अल्प-संख्यक दल अच्छे से अच्छे प्रस्ताव का विरोध करना अपना धर्म समझते हैं। इससे प्रजा के अन्दर तथा धारा सभा में प्रतिद्वन्दिता की प्रवृत्ति बढ़ती है। दलबन्दी के कारण अन्य दल के अथवा स्वतन्त्र विचार वाले योग्य व्यक्तियों को राज्यकार्य में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता है। अर्थात् राष्ट्र दलबन्दी के कारण योग्य व्यक्तियों का उपयोग नहीं कर सकता है। कार्यकारिणी अपने नेतृत्व द्वारा धारा सभा पर दबाव डालती है, और धारा सभा निर्जीवता से उसकी इच्छा की पूर्ति करने के लिये बाध्य होती है। जब नेतृत्व बलवान तथा प्रभावशील होता है तो पार्टी के नेता दल के सदस्यों को प्रत्येक कार्य में साथ देने के लिये बाध्य करते हैं।

[५] यदि नेतृत्व शक्तिहीन हो तो शासक मण्डल अपनी शक्ति को स्थिर रखने के लिये धारासभा के इच्छा के अनुकूल काम करके उसे खुश करने का प्रयत्न करता है।

[६] व्यवस्थापिका सभा बहुत समय वाद-विवाद और समालोचना में बिताती है। इससे समय का नाश और शक्ति का ह्रास होता है व्यवस्था-पिका सभा का मुख्य कार्य कानून बनाना है। उसे अपनी शक्ति उसी में लगानी चाहिये।

[७] सब महत्व पूर्ण निर्णय मन्त्रिमण्डल की सम्मति द्वारा होते हैं। युद्ध के समय अथवा संकट काल के समय निर्णय सत्वरता से लेने पड़ते हैं। ऐसे समय यह सरकार सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। क्योंकि अधिक व्यक्तियों का मतैक्य होना सरल नहीं है।

इंगलैण्ड की देखा-देखी सभात्मक सरकार की स्थापना अधिकांश राज्यों में हुई है। परन्तु इंगलैण्ड में ही यह सरकार सफलता पूर्वक कार्य कर

रही है। इटली, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी में यह सरकार असफल रही है। प्रथम महायुद्ध के बाद इन देशों में तानाशाही सरकार की स्थापना हुई थी।

[२] **अध्यक्षात्मक सरकार** :—इस प्रणाली में राष्ट्र का अधिपति अध्यक्ष अथवा राष्ट्रपति होता है जिसके शासनाधिकार नाममात्र के लिये नहीं होते हैं परन्तु वास्तविक होते हैं। राष्ट्रपति जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन योजना के अनुसार निश्चित समय के लिये निर्वाचित किया जाता है। समय से पहले राष्ट्रपति केवल महाभियोग के लिये ही हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका सभा का सदस्य नहीं होता है और उसके कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। अर्थात् कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभा के कार्यों में कार्य विभाजन की आयोजना है। परन्तु व्यवहार में इसमें कठिनाइयाँ आ जाने के कारण राष्ट्रपति संकटकाल में अथवा महत्वपूर्ण परिस्थिति के समय संदेश भेज कर अथवा धारा सभा के सम्मुख भाषण दे कर अपनी नीति का निर्देश कर सकता है, तथा सरकार की आवश्यकताओं को स्पष्ट कर सकता है। राष्ट्रपति अपनी सहायता के लिये मन्त्रिमण्डल नियुक्त करता है। वही उन्हें पद से हटा सकता है। राष्ट्रपति के कार्यपालिका के सदस्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी न होकर राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे विधानसभा के सदस्य नहीं हो सकते हैं और उसकी कार्यवाही में भाग नहीं ले सकते हैं।

राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल धारा सभा के सदस्य नहीं हो सकते हैं। इस कारण धारासभा में प्रस्ताव भी पेश नहीं कर सकते हैं। धारासभा कार्यकारिणी को उसकी नीति पर प्रश्न नहीं कर सकती है। धारा सभा प्रजा द्वारा निश्चित समय के लिये निर्वाचित होती है। धारा सभा तथा कार्यकारिणी एक दूसरे को अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा नहीं सकते हैं। इस प्रकार की सरकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में है। वहाँ की सरकार अधिकार विभाजन तथा शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर नियोजित है।

अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषतायें

[१] **राष्ट्रपति की प्रधानता** :—राष्ट्रपति निश्चित समय के लिये निर्वाचित किया जाता है और वह अपने कार्य के लिये पूर्ण तथा स्वतंत्र है। उसका उत्तरदायित्व विधान सभा के प्रति न होकर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचिकों के प्रति होता है। राष्ट्रपति के अधिकार वास्तविक होते हैं। मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है। यह राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार काम करता है। राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की संख्या को अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार घटा बढ़ा सकता है।

[२] **कार्य विभाजन** :—व्यवस्थापिका सभा तथा कार्यकारिणी के अधिकारों तथा कार्यों का पूर्ण रीति से विभाजन किया गया है। धारा सभा का काम कानून बनाना तथा कार्यकारिणी का काम शासन करना है। राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल विधान सभा के सदस्य नहीं होते हैं और वे विधान सभा के बैठक में भाग नहीं लेते हैं। इस प्रकार राष्ट्रपति विधान सभा के दबाव से स्वतन्त्र है तथा व्यवस्थापिका सभा राष्ट्रपति के हस्तक्षेप से स्वतंत्र हैं।

[३] **उत्तरदायित्व का अभाव** :— इस प्रकार से कार्य विभाजन के कारण कायपालिका अपने कार्य के लिए विधान सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं है, और अपने कार्य के लिए विधान सभा के प्रति जवाब देह नहीं है। दोनों का ही निश्चित कार्य क्षेत्र है और विधान सभा तथा राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल दोनों ही स्वतंत्र रूप से अपने कार्य करते हैं।

[४] **निश्चित अवधि** :—राष्ट्रपति तथा अन्य अधिकारी निश्चित समय के लिए निर्वाचित किये जाते हैं और अपनी कार्य काल की अवधि में पूर्ण रूप से अधिकार सम्पन्न हैं। ये केवल महाभियोग साबित होने पर निश्चित अवधि के पूर्व हटाये जा सकते हैं।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण :—

[१] शासन की नीति दृढ़ और निश्चित होती है और स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकती है। कार्यपालिका के कार्य में विधान मंडल हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

[२] इस सरकार में विभाजन तथा समतुलन के सिद्धांत के कारण नागरिकों के अधिकारों की रक्षा होती है। क्योंकि धारा सभा तथा कार्य-कारिणी सम्मिलित रूप से उन पर आघात करने में असमर्थ है।

[३] यदि राष्ट्रपति योग्य शासक हो तो राजकार्य तत्परता तथा उत्साह से हो सकता है। सर्वोच्च अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में होने से नीति में एकता बनी रहती है तथा शासन सबल और त्वरित होता है। सभात्मक सरकार की कार्यकारिणी में अनेक मत हो जाते हैं इस कारण नीति निर्धारण में समय लगता है।

[४] इस सरकार में दलबन्दी का बहुत जोर नहीं रहता है और इस सरकार में विपक्षी दल को अपदस्थ करके पदासीन होने की प्रलोभना भी नहीं होती है। जिन देशों में अनेक वर्ग साम्प्रदायिकता तथा दलबन्दी विद्यमान है उन राज्यों के लिये अध्यक्षात्मक सरकार श्रेयस्कर साबित होगी।

[५] अध्यक्षात्मक सरकार में राज्यकार्य में निपुणता तथा कुशलता अधिक पाई जाती है, क्योंकि मन्त्री अपना पूरा समय तथा शक्ति शासन कार्य में लगाते हैं। सभात्मक सरकार की तरह मन्त्रियों का समय कानून बनाने में नष्ट नहीं होता है।

[६] अध्यक्षात्मक सरकार में लिखित विधान अनिवार्य है। विधान द्वारा ही प्रत्येक विभाग के अधिकार तथा उसकी सीमा निहित की जाती है। अर्थात् शासकों को विधान के निश्चित सीमा के अन्तर्गत शासन करना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार जनता की स्वतन्त्रता कायम रहती है।

दोष:—[१] यदि व्यवस्थापिका सभा तथा शासक वर्ग दो विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्य हों तो उनके विचार तथा नीति में मतभेद होना स्वाभाविक है। इससे दोनों अंगों में संघर्ष तथा मतभेद होने का भय होता है। ऐसा होने से राज्यकार्य स्थगित सा हो जाता है।

(२) जिस समय राष्ट्र पर वैधानिक संकट अथवा अन्य प्रकार का संकट आता है उस समय ऐसा होने की सम्भावना है कि धारा सभा शासकों का दृष्टिकोण न समझ सके, क्योंकि दोनों के कार्य स्वतन्त्र तथा पृथक हैं। अतः ऐसे समय व्यवस्थापिका विपरीत कानून बनाकर अथवा अन्य रीति से राज्यकार्य में सहायक होने के बदले बाधक हो सकती है।

[३] इस सरकार में राष्ट्रपति केवल जनता के प्रति उत्तरदायी है। तथा निश्चित अवधि के पूर्व सुगमता से हटाया भी नहीं जा सकता है। इसका प्रभाव राज्यकार्य पर इस प्रकार हो सकता है।

[अ] यदि राष्ट्रपति और धारा सभा एक ही दल के हुए तो राष्ट्रपति अपने वास्तविक अधिकारों से धारा सभा को दबाकर तानाशाही अथवा अधिनायकतन्त्र स्थापित कर देगा।

[ब] उत्तरदायित्व के अभाव में राष्ट्रपति निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी हो सकता है।

[४] इस सरकार में सहयोग का अभाव है। तथा धारा सभा को कार्यपालिका का अनुभवपूर्ण नेतृत्व प्राप्त नहीं होता है, और कार्यपालिका पर किसी प्रकार का नियन्त्रण सम्भव नहीं हो पाता है।

[५] राष्ट्रपति का पद इतना महत्वपूर्ण तथा शक्ति सम्पन्न होता है कि उसको प्राप्त करने के लिये निर्वाचन के समय उथल-पुथल मच जाती है। यह देश के स्वस्थ वातावरण को दूषित करता है, और देश के स्वतन्त्रा के लिये घातक है। जिस देश के नागरिक अशिक्षित तथा अनागरिक हों उन देशों के राष्ट्रपति का निर्वाचन अनिष्टकारी साबित हो सकता है।

[६] यदि जनमत अथवा धारा सभा राष्ट्रपति के कार्य से असन्तुष्ट है तो उसके पास निश्चित अवधि के पूर्व महाभियोग के अतिरिक्त अध्यक्ष को पद से हटाने का कोई वैधानिक तरीका नहीं है।

[७] संकट के समय अथवा परिस्थिति के अनुसार अध्यक्षात्मक सरकार कार्य सुगमता के लिये सरकार के विविध अंगों से सहायता तथा सहयोग नहीं प्राप्त कर सकती है, क्योंकि अध्यक्षात्मक सरकार अपरिवतनशील होती है और इस सरकार में अधिकार विभाजन का सिद्धान्त कठोरता पूर्वक अपनाया जाता है।

उपरोक्त विवेचना के बाद इतना ही करना पर्याप्त होगा कि अधिकांश राजनीति के लेखक सभात्मक सरकार को अध्यक्षात्मक सरकार के तुलना में उच्च समझते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहार में भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अध्यक्षात्मक सरकार अधिक दोष पूर्ण पाई गई है। इस सरकार में मुख्यतः दो त्रुटियाँ पाई गई हैं। जो व्यवहारिक रूप से असन्तोषप्रद हैं।

[अ] राष्ट्रपति का विधान सभा के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव।

[ब] राष्ट्रपति द्वारा विधान सभा को अपनी नीति तथा कार्य सम्भालने का अभाव। कुछ अध्यक्षात्मक सरकारों ने सभात्मक सरकार में परिवतन की माँग भी पेश की थी यही कारण है कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने सभात्मक प्रणाली को ही अपने संविधान में स्थान दिया है।

एकात्मक तथा संघीय सरकारें :—

इनका विभाजन शासन शक्ति के केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीयकरण के अनुसार होता है। यह एकात्मक सरकार तथा संघीय सरकार कहलाती है। यहाँ पर इतना कहना उपयुक्त होगा कि एकात्मक सरकार उन राज्यों में होती हैं जिनका कि संविधान एकात्मक हो और संघीय सरकार उन राज्यों में होती है जिनका संविधान संघात्मक हो।

प्रत्येक आधुनिक राज्य में केन्द्रीय सरकार होती है जो समस्त देश की सरकार होती है। इसके अलावा शासन को सुलभ, सुगम तथा योग्य बनाने के लिये देश को कई भागों में बाँटा जाता है। इन प्रथक भागों के शासन को स्थानीय सरकारें अथवा राज्य को सरकारों के नाम से संबोधित किया जाता है। ये सरकारें इन प्रथक भागों की देखभाल करती हैं हमारे देश की केन्द्रीय सरकार देहली में हैं। इसके अतिरिक्त राज्यों की सरकारें हैं जैसे बंबई, मद्रास, उत्तर प्रदेश इत्यादि। इंगलैण्ड, फ्रांस तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी दो प्रकार की सरकारें हैं केन्द्रीय सरकार तथा स्वायत्त सरकारें। इन सरकारों का सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ही सरकार एकात्मक अथवा संघीय है, इसकी पहचान होती है। एकात्मक सरकार में स्थानीय तथा केन्द्रीय सरकार का संबंध घनिष्ठ होता है। तथा केन्द्रीय सरकार का झुकाव एकीकरण की ओर होता है। संघीय सरकार में केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय अथवा राज्यों की सरकार काफी स्वतन्त्र होती हैं। संघीय सरकार में केन्द्रीय सरकार को एकता वान्छनीय है परन्तु एकीकरण नहीं।

एकात्मक सरकार :—

एकात्मक सरकार एकीकरण अथवा केन्द्रीयकरण की बुनियाद पर कार्य करती है। केन्द्रीय सरकार की शक्ति सर्वेसर्वा होती है। शासन की सुविधा तथा सुगमता के लिए स्थानीय अथवा प्रान्तीय सरकारों का निर्माण किया जाता है, और उनके हाथों में कानून बनाने और शासन करने के सीमित अधिकार ही दिये जाते हैं। परन्तु ये केन्द्रीय सरकार के कठ-पुतली होते हैं, और स्थानीय शासन केन्द्रीय शासन के इशारे पर नाचते हैं। उनका अस्तित्व केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर है। वास्तव में सब शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथ में होती हैं और वह शासन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। जिन अधिकारों का उपयोग स्थानीय सरकार करती है वे अधिकार उसके मौलिक अधिकार नहीं होते हैं। केवल

केन्द्रीय सरकार द्वारा सुविधार्थ दिये जाते हैं। केन्द्रीय सरकार इन अधिकारों को वापिस ले सकती है तथा उनकी भौगोलिक सीमा को घटा बढ़ा सकती है, अथवा किसी स्थानीय सरकार का अन्त भी कर सकती है व्यवहार में चाहे ऐसा सम्भव न हो किन्तु सैद्धान्तिक रूप से केन्द्रीय सरकार के अधिकारों को कोई शक्ति इन्कार नहीं कर सकती है। एकात्मक शासन विधान में केन्द्रीय कार्यकारिणी केन्द्रीय धारा सभा तथा केन्द्रीय न्यायालय की सर्वोच्च शक्ति होती है, और वास्तविक शासक केन्द्रीय सरकार ही होती है। अन्य शक्तियाँ इन्हीं के निरीक्षण तथा अध्यक्षता में कार्य करती है अतः एकात्मक सरकार की दो विशेषतायें हैं। [अ] केन्द्रीय सरकार सर्व शक्तिशाली है। [ब] इनकी शक्ति स्थानीय सरकार सीमित नहीं कर सकती है क्योंकि स्थानीय सरकार की शक्ति मौलिक नहीं है। एकात्मक सरकार वह सरकार है जिसकी शक्तियाँ तथा अधिकार केन्द्र में केन्द्रित रहते हैं। फ्रांस, इटली, इंगलैंड में ऐसी सरकारें पाई जाती हैं। छोटे राज्यों में जहाँ का क्षेत्रफल कम हो, जिस राज्य की भाषा, रीति,-रिवाज, संस्कृति तथा आर्थिक परिस्थिति न्यूनाधिक एक समान हो, ऐसे राज्यों में एकात्मक सरकारें सफलीभूत हो सकती हैं।

एकात्मक सरकार के गुण:—

(१) इस सरकार का सर्वोच्च गुण है राज्यसत्ता का एकीकरण तथा शासन, न्याय, कानून सम्बन्धी विषयों में एकरूपता, इसलिए राज्य में एकता की भावना का निर्माण होता है तथा समस्त प्रजा में सहयोग प्रेम तथा ऐक्य की भावना का उदय होता है। केन्द्रीय सरकार का पूर्णरूपेण उत्तरदायित्व होने के कारण राज्यशासन सरलता से तथा निर्विघ्न रूप से चलता है।

[२] समस्त अधिकारों का सूत्र केन्द्रीय सरकार होने के कारण राज्य के विभिन्न भागों में संघर्ष विभाजन प्रवृति और विरोधात्मक भावना अथवा विचार का उदय नहीं होता है।

[३] राज्यसत्ता का एकीकरण होनेके कारण राज्य में शान्ति सुव्यवस्था की स्थापना विदेश नीति अथवा युद्ध के समय योग्यता, कार्य-दक्षता तथा तत्परता सम्भव है। युद्ध संचालन के लिए एकात्मक सरकार अधिक उपर्युक्त है। एकात्मक सरकार का संगठन सरल होता है। तथा राज्यकार्य तत्परता से होता है।

[४] इस सरकार में रुपयों की बचत होती है। संघीय सरकार में केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकार के भिन्न-भिन्न संगठन होने के कारण रुपयों का दोहरा खर्च होता है।

[५] केन्द्रीय सरकार के निरीक्षण के भय से प्रान्तीय सरकारें सर्त-कता से काम करती हैं।

दोष:—[१] इस सरकार का सबसे बड़ा दोष यह है कि एक ही संस्था के हाथों में सत्ता तथा अधिकारों का अत्यधिक केन्द्रीयकरण होने से अधिकारों का दुरुपयोग होने की आशंका होती है। केन्द्रीय सरकार मन-माना कर सकती हैं। ऐसे सरकार में योग्यता का अभाव हो सकता है क्योंकि केन्द्रीय सरकार सब ओर दृष्टि डालने में असमर्थ हो सकती है।

[२] इस सरकार में स्थानीय शासन की उपयोगिता का पूरा लाभ नहीं उठाया जाता है। स्थानीय शासन स्थानीय शासक ही योग्यता पूर्वक कर सकते हैं। क्योंकि स्थानीय क्षेत्र की आवश्यकताओं को स्थानीय शासक ही समझ सकते हैं, और स्थानीय शासक उन्हें आसानी से तथा कुशलता से कर सकते हैं।

[३] एकात्मक सरकार का केन्द्रीयकरण स्थानीय शासकों का स्थानीय कार्यों के प्रति उत्साह तथा अभिरुचि का अपहरण करता है। क्योंकि स्थानीय शासक को अपने कार्य के लिये स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व का अभाव होता है। इससे जनता राजनीतिक शिक्षा से वंञ्चित रह जाती है।

[४] प्रजातन्त्र सरकार के लिये विकेन्द्रीयकरण आवश्यक है। क्योंकि प्रजातन्त्र राज्य की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति स्थानीय, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय कार्यों में दिलचस्पी ले। परन्तु केन्द्रीय करण से इस भावना का लोप हो जाता है। प्रजातन्त्र राज्य की सफलता स्थानीय सरकार पर निर्भर है। अतः एकात्मक सरकार पूर्णरूपेण प्रजातन्त्रात्मक नहीं हो पाती है।

[५] स्थानीय सरकारें राष्ट्रीय सरकार की प्रयोगशालायें हैं। परन्तु केन्द्रीयकरण स्थानीय स्वतंत्रता का हरण करता है। इस कारण यह प्रयोगात्मक भावना प्रोत्साहित करने में असमर्थ है।

[६] सरकार को दृढ़ रखने के लिये एकात्मक सरकार को अनमनीय नौकरशाही पर ही भरोसा रखना पड़ता है। नौकरशाही के लिये प्रजातन्त्रात्मक भावनाओं की वृद्धि असहनीय है।

संघीय सरकारः—संघीय सरकार एकात्मक सरकार के विपरीत होती है। इसमें शासन शक्ति में विकेन्द्रीय करण के सिद्धान्त लागू हैं। शासन प्रबन्ध संबंधी अधिकार दो क्षेत्रों में बाँटे जाते हैं।

[१] अखिल देशीय महत्व के विषय।

[२] स्थानीय महत्व के विषय।

प्रान्तीय सरकार के अधिकार तथा केन्द्रिय सरकार के अधिकार संविधान द्वारा विभाजित किये जाते हैं। संविधान द्वारा उनका पृथक क्षेत्र निहित किया जाता है। संघ सरकार अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होती है, तथा प्रान्तीय सरकारें अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होती हैं। वे एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार यह दोहरी शासन प्रणाली है। कई संघीय सरकारों में नागरिकों को दो प्रकार की नागरिकता प्राप्त होती है। इसलिये उन्हें दो सरकारों के कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

संघ शासन की स्थापना के लिये आवश्यक शर्तें तथा उद्देश्य:—[१] संघीय शासन में एकता ही मूल मन्त्र है। एकीकरण अथवा केन्द्रीयकरण नहीं।

[२] निबल छोटे छोटे राज्य अपना व्यक्तित्व कायम रखना चाहते हैं परन्तु शक्तिशाली बाह्य शक्तियों के प्रतिरोध के लिये बलवान राष्ट्रीय सरकार का भी संगठन चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति में संघीय सरकार की स्थापना होती है अर्थात् छोटे छोटे निबल राज्य अपने व्यक्तित्व तथा अस्तित्व को कायम रखते हुए अपनी रक्षा के लिये एक बृहत् राज्य की स्थापना करते हैं। यही संघीय सरकार के स्थापना का उद्देश्य है।

[३] छोटे राज्य अपना समुचित आर्थिक विकास नहीं कर पाते हैं अन्य राज्यों के साथ मिलकर अपना आर्थिक विकास भली भाँति कर सकते हैं।

[४] ऐसे राज्य जिनकी राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक परम्परा समान है संघ स्थापन कर लेते हैं।

[५] अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सबल बनाने के लिये भी राज्य संघ की स्थापना करते हैं। सबल राज्यों का ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में आदर होता है।

[६] संघ स्थापन करने वाले राज्यों की भूमि तथा भौगोलिक स्थिति मिलता जुलती होनी चाहिये।

[७] संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों में मिल कर रहने की भावना होनी चाहिये साथ ही साथ उनके संस्कृति, इतिहास, भाषा, रीति-रस्म, जाति तथा धर्म में न्यूनाधिक साम्य होना चाहिये राष्ट्रीय भावना तथा एकता की भावना पर ही संघ की सफलता निर्भर है।

संघीय सरकार के मुख्य लक्षण:—[१] इस सरकार में विधान का सर्वोच्च स्थान होता है। संविधान द्वारा ही केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों के शासनाधिकारों का विभाजन होता है। विधान द्वारा उनके अधिकारों

की सीमा निश्चित की जाती है। जिससे दोनों ही बिना हस्तक्षेप के अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन कर सकें।

[२] **संविधान लिखित तथा अपरिवर्तनशील हो** :—उपरोक्त कार्य सिद्धि के लिये विधान लिखित तथा अनंमनीय होना आवश्यक है। संघात्मक सरकार एक प्रकार का इकरारनामा है। इकरारनामे को लिखित होना आवश्यक है। जिससे उसकी शर्तें स्पष्ट हों। यह सरकार अनम-नीय होनी चाहिये। क्योंकि यदि आसानी से संविधान में संशोधन अथवा परिवर्तन हो जायेगा तो संघ तथा प्रान्त की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के समतुलन में परिवर्तन से संघात्मक सरकार के मुख्य उद्देश्य का अन्त हो जायेगा।

[३] **न्यायालय का विशेष स्थान** :—जहाँ दो समान शक्तियाँ विद्यमान है वहाँ पर मतभेद तथा संघर्ष होना स्वाभाविक है। संघ तथा संघांतरित राज्यों के बीच अधिकारों के विषय में, अधिकारों की सीमा के विषय में अथवा अन्य किसी विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है। ऐसे मामले उच्च न्यायालय के सम्मुख रक्खे जायेंगे तथा उसी का निर्णय सर्वमान्य होगा। अर्थात् इस सरकार में स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना अति आवश्यक है।

[४] इस सरकार में दोहरी नागरिकता भी होती है। एक तो संघीय नागरिकता तथा दूसरी रियासतों की नागरिकता। किन्तु भारत संघ राज्य में एक ही नागरिकता मानी गई है।

अन्य विशेषतायें:—[५] अन्त में इतना कहना आवश्यक है कि संघ राज्य में एकता रहती है परन्तु एकत्व नहीं रहता है। रियासतों के अधिकार शासन विधान का उल्लंघन किये बिना हरण नहीं किये जा सकते हैं।

[६] संघ के अन्तर्गत संघांतरित राज्यों को, संघ को छोड़ने का अधि-कार साधारणतया प्राप्त नहीं होता है।

[७] संघातरित राज्यों की स्वतन्त्रता तथा सर्वभौमिकता का अन्त हो जाता है।

[८] अन्तर्राष्ट्रीय जगत में संघ का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। संघांतरित राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व नहीं रह जाता है। वे केवल संघ राज्य की रियासतें रह जाती हैं।

संघात्मक सरकार के गुण :—[१] संघ राज्य राष्ट्रीयता तथा स्थानीयता दोनों ही को प्रोत्साहन देकर दोनों के गुणों की रक्षा करता है तथा उनके गुणों की पुष्टि करता है।

[२] छोटे राज्यों के व्यक्तित्व, अस्तित्व तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुये उन्हें बलवान राज्यों द्वारा हड़पने से बचाता है।

[३] स्थानीय तथा राष्ट्रीय सरकारों के कार्य विभाजन करने से प्रत्येक सरकार यथास्थान योग्यता तथा दक्षता से काम करती है। लिखित संविधान होने से सार्वजनिक स्वतन्त्रता के अपहरण का भय नहीं रहता है।

[४] स्थानीय शासक योग्यता पूर्वक तथा परिस्थिति समझ कर शासन कर सकते हैं। इससे उनकी राजनीतिक शिक्षा होती रहती है तथा राज्यशासन में उनकी दिलचस्पी बनी रहती है।

[५] प्रजातन्त्र कार्य विभाजन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को राजकार्य का उत्तरदायित्व प्रदान करती है। यह सरकार प्रजातन्त्र सरकारों की स्थापना करती है। इस प्रकार साधारण नागरिक स्थानीय शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेकर अपने नैतिक तथा आध्यात्मिक बल का प्रदर्शन कर सकता है। शासनाधिकारों के विभाजन हो जाने से निरंकुश शासन के उदय की सम्भावना कम हो जाती है। क्योंकि संघ राज्य तथा स्थानीय राज्य एक दूसरे को निरंकुश होने से रोकते हैं। फलस्वरूप संघीय सरकार में जनता की स्वतन्त्रता अधिक सुरक्षित है।

[६] बड़े-बड़े देशों में जहाँ पर विभिन्न सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्तर मौजूद हैं, वहाँ पर ऐसी सरकार उपयुक्त है। संघीय सरकार अखिल देशीय महत्व के विषयों को अपने आधीन रख लेती है, तथा शेष विषय राज्यों को दे देती है। इससे राज्य रुचि, सुविधा तथा परिस्थिति के अनुसार उनका प्रबन्ध करते हैं। अर्थात् संघ राज्य में एकता के साथ ही साथ विभिन्नता का एक अद्भुत सामञ्जस्य पाया जाता है। यह सरकार आर्थिक योजनाओं का सुप्रबन्ध कर सकती है। इससे आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त होती है।

[७] अन्तर्राष्ट्रीय नीति में संघ राज्य की शक्ति तथा गौरव अधिक होता है। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आज ४८ राज्यों की सम्मिलित आवाज है। रूस भी संघीय शासन के कारण ही शक्ति सम्पन्न राष्ट्र बन पाया है।

आज संघीय राज्य व्यवस्था ही भविष्य की सरकार हो सकेगी। इस सरकार द्वारा विश्व राज्य की स्थापना की आशा की जा सकती है। स्वतन्त्र राज्य अपने अस्तित्व को मिटाकर एकात्मक राज्य के लिये हामी कदापि नहीं भरेंगे, परन्तु स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए विश्व संघ राज्य की स्थापना के लिये प्रस्तुत होने की सम्भावना अधिक है।

आज प्रत्येक राजनीतिज्ञ विश्व रूपी एक राज्य के संगठन को कल्याणकारी समझता है। ऐसे विश्व रूपी राज्य का आधार संघीय सरकार ही हो सकेगी। जिसमें प्रत्येक स्वाधीन राज्य अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखते हुए एक विशाल विश्वव्यापी महान राज्य की स्थापना में सहायक होगा, तथा विश्वव्यापी महत्व के विषयों के विश्व संगठन के लिये सहर्ष सम्मति देगा। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय नागरिकता, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिकता में परिणित हो जायेगी। ऐसे ही विश्वराज्य द्वारा मानव समाज तथा मानव संस्कृति का हित और कल्याण हो सकता है। क्योंकि संसार व्यापी राज्य की

स्थापना ही से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ जैसे आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय विरोध तथा संघर्ष—राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शोषण—राज्य का राज्य द्वारा अथवा साम्राज्यवाद द्वारा, तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध इत्यादि व्यापक व्याधियों का अन्त हो जायेगा तथा मानव समाज निशंक तथा निस्संकोच भाव से अपने विकास तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा।

दोषः—[१] संघांतरित राज्यों का संघ से हट जाने का तथा विप्लव के बाद संघ का अन्त होने का डर लगा रहता है।

[२] संघ सरकार विदेशी नीति पर सफलता पूर्वक तथा कुशलता पूर्वक अमल नहीं कर पाता है। संघातरित राज्यों के मतभेद तथा दल-बन्दी के कारण संघराज्य निर्बल हो जाता है। संघराज्य तथा संघांतरित राज्य अपने अधिकार तथा शक्ति बढ़ाने के लिये सदैव दक्ष रहते हैं। इस से संघराज्य निर्बल हो जाता है।

[३] सम्मिलित राज्यों की दलबन्दी तथा गुटबन्दी के कारण गृह युद्ध तथा आन्तरिक युद्ध की आशंका लगी रहती है, तथा गुटबन्दी के कारण सरकार निर्बल, विभक्त तथा असहाय हो जाती है।

[४] दोहरी सरकार होने के कारण यह प्रणाली जटिल तथा पेचीदा होती है। इसमें धन का अपव्यय, कष्ट तथा शासन कार्य में विलम्ब की सम्भावना अधिक होती है।

[५] संघांतरित राज्यों के शासन के स्तर में, शासन प्रणाली में, तथा कानून में एक रूपता नहीं होती है। साथ ही साथ प्रत्येक संघांतरित राज्य अपनी ही वृद्धि तथा उन्नति को प्रमुख स्थान देता है।

[६] संघ राज्य की विदेशी नीति दृढ़ तथा स्थिर नहीं हो पाती है। आन्तरिक शासन में दोहरी नागरिकता के कारण निर्बल होने की सम्भावना होती है। क्योंकि नागरिकों को दो सरकारों की आज्ञा माननी पड़ती है।

उपरोक्त दोष ऐसे हैं जो कि सुगमता से हटाये जा सकते हैं। भारत के संघीय संविधान का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है जिसमें—

[१] राज्यशक्ति बढ़ाने के लिये इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की गई है।

[२] सघीय कानूनों का पालन यथा योग्य होने के लिये संघीय अधिकारियों की नियुक्ति की गई है।

[३] संघीय सरकार को पर्याप्त अधिकार दिये गये हैं तथा आवश्यकतानुसार अथवा संकट के समय संघीय सरकार को अवशिष्ट विषयों पर भी कुछ अधिकार दिये गये हैं। इन अधिकारों का उपयोग यथासम्भव संघांतरित राज्यों के सम्मति से किया जा सकेगा।

अध्याय १२
सरकार के अंग तथा उनका सम्बन्ध
और
अधिकार विभाजन का सिद्धान्त

राज्य और सरकार की तुलना :—कुछ लेखकों का मत है कि सरकार और राज्य पर्यायवाची शब्द हैं। बोलचाल की भाषा में इनका ऐसा ही प्रयोग है। नियम कानून की स्थापना के लिए तथा मनुष्यों के हित की वृद्धि के लिए सरकार राज्य का साधन है। जहाँ राज्य होगा वहाँ सरकार अवश्य होगी। सरकार के बिना राज्य का अस्तित्व असंभव है। सरकार के बिना राज्य मनुष्यों का अनियन्त्रित झुंड है। सरकार राज्य की मशीन है, और राज्य इसी के द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। राज्य एक स्थायी सत्ता है। सरकार परिवर्तनशील तथा अस्थायी है। राज्य परतन्त्र होने पर ही बदलता है। परन्तु सरकार दिन प्रतिदिन वर्ष प्रतिवर्ष बदलती है। हिन्दुस्थान में आज कांग्रेस सरकार शासन कर रही है। निर्वाचन के बाद अन्य सरकार शासन कर सकती है। किसी निश्चित भूमि भाग के अन्तर्गत रहने वाली समस्त जन संख्या राज्य का निर्माण करती है। सरकार का निर्माण राज्य शासन करने वाले कुछ सरकारी अफसर होते हैं। मनुष्य के मननिर्मित कल्पना का नाम राज्य है। राज्य एक अमूर्त वस्तु है। सरकार एक ठोस वस्तु है—जो देखी जा सकती है, जिसका प्रभाव मालूम किया जा सकता है। सरकार एक मूर्त संगठन है। राज्य की प्रकृति एक समान है परन्तु सरकार की किस्में तथा रूप अनेक हैं जैसे ग्यारहवें अध्याय में वर्णन किया गया है। व्यक्ति के कर्तव्य तथा अधिकार सरकार द्वारा प्राप्त होते हैं, राज्य द्वारा नहीं।

राज्य में प्रभु शक्ति होती है जो असीमित है। सरकार की शासन शक्ति सीमित है और राज्य ही सरकार को यह शक्ति प्रदान करता है।

राज्य के अन्तर्गत अनेकों संगठन होते हैं। सरकार भी राज्य का एक संगठन है। परन्तु सरकार राज्य का सर्वोच्च संगठन है। सरकार अन्य संगठनों को नष्ट भ्रष्ट कर सकती है अथवा उन्हें उन्नति के पथ पर ले जा सकती है। सरकार राज्य के अन्दर की राजनैतिक शक्ति है अथवा सरकार राज्य का प्राण है। राज्य का पतन तथा उत्थान सरकार द्वारा ही हो सकता है। सरकार की शक्ति अनन्त है परन्तु अनियन्त्रित नहीं। सरकार स्वयं कानूनों का पालन करती है और दूसरों से करवाती है। देश की रक्षा, शान्ति तथा दण्ड विधान सरकार द्वारा ही होता है। सरकार हो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृति, सुधार तथा उन्नति करवाती है। समानता, स्वाधीनता, बन्धुत्व इत्यादि भावनाओं को सरकार ही प्रोत्साहित कर सकती है। साथ ही साथ समाज में इनका प्रचार सामाजिक नेताओं द्वारा इन आदर्शों को आचरण में ला कर हो सकता है अर्थात् शिक्षा द्वारा, आज्ञा द्वारा, दृष्टान्त व उदाहरण द्वारा इन आदर्शों का प्रचार किया जा सकता है। सरकार और समाज के सम्मिलित कार्य से व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति हो सकती है। व्यक्ति के हित में राज्य और समाज का हित निहित है। आज जनताजागृत है, सरकार के अत्याचारों को सहन नहीं कर सकती है। आधुनिक युग में सरकार जनता के हित को ठुकरा कर नहीं, परन्तु उस को प्रमुख स्थान देकर ही स्थायी हो सकती है।

सरकार के असंख्य कार्य है जिनका उल्लेख दसवें परिच्छेद में किया जा चुका है। इन समस्त कार्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। सरकार के ३ अंग ये हैं। (१) सरकार देश के लिये कानून बनाती है। इस अंग को व्यवस्थापिका सभा कहते हैं। (२) सरकार उन कानूनों का पालन करने के लिए प्रजा को बाध्य करती है अर्थात् 'कानूनों' का पालन करने वाले तथा शासन करने वाले विभाग को

कार्यकारिणी कहते हैं। (३) कानून तोड़ने वाले को दण्ड देने वाला अथवा न्याय करने वाला विभाग न्यायपालिका कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक सरकार के तीन मुख्य विभाग होते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि सरकार के दो ही विभाग हैं। कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभा अथवा विधान मण्डल। वे न्यायपालिका को कार्यकारिणी का अंग मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं मालूम देता है। यदि न्यायपालिका तथा कार्यकारिणी पृथक न किये जायँ तो न्याय की उचित व्यवस्था नहीं हो सकेगी तथा न्याय की स्वतन्त्रता का अपहरण हो जायेगा। न्यायपालिका का काम केवल अपराधियों को दण्ड देना ही नहीं है बल्कि व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना भी है। इसलिये सरकार के तीन विभाग ही होना उचित मालूम देता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान तो सरकार के पांच विभाग भी करते हैं। इन सब मतों में सरकार के विभागों के तीन अंग मानने वालों के मत सबसे अधिक प्रचलित तथा मान्य है।

सरकार के इन अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध और अधिकार विभाजन का सिद्धान्त :—

इन विभागों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में दो मत हैं। पहला, मॉन-टेस्क्यू, ब्लैकस्टोन तथा अरिस्टोटल इत्यादि का कथन है कि तीनों विभाग एक दूसरे से पृथक तथा पूर्णतया स्वतन्त्र होकर कार्य करें दूसरे मत वालों का कथन है कि सरकार की यह तीन शाखायें हैं, जो एक दूसरे पर अव-लम्बित है। इसलिये इनका परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है। प्रथम सिद्धान्त के आधार पर अध्यक्षात्मक सरकार की स्थापना होती है तथा द्वितीय के आधार पर सभात्मक सरकार की स्थापना होती है।

[१] **अधिकार विभाजन का सिद्धान्त :—**मानटेस्क्यू, ब्लैक-स्टोन तथा अरिस्टाटोल इत्यादि इस सिद्धान्त के प्रचारक तथा पक्षपाती थे।

अधिकार विभाजन सिद्धान्त के अनुसार जनता के अधिकारों की सुरक्षा के लिये विधान निर्माताओं, शासनाधिकारियों तथा न्यायकर्त्ताओं के अधिकार अलग अलग लोगों के हाथ में होने चाहिये। तथा प्रत्येक विभाग में सर्वोच्च तथा स्वाधीन रूप से कार्य करने का अधिकारी होना चाहिये। प्रत्येक विभाग एक दूसरे से स्वतन्त्र होने चाहिये, और तीनों विभागों का कार्यक्षेत्र सीमित होना चाहिये। इनके अनुसार किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी विभाग के हाथ में एक से अधिक कार्यों का एकत्रीकरण होना अनुपयुक्त है, तथा किसी एक व्यक्ति विशेष अथवा किसी एक विभाग का प्रभुत्व होना हानिकारक है। इनका कथन है कि विधान मण्डल का कार्य केवल कानून बनाना, कार्य पालिका का काम केवल शासन करना और न्यायपालिका का काम केवल न्याय करना ही होना चाहिये। तीनों विभागों का एक दूसरे के कार्य में नियंत्रण करना ठीक नहीं है, तथा एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप ही करना यथार्थ है। यदि तीनों विभाग एक ही हाथ में सौंपे जायेंगे तो राज्य प्रजातन्त्रवादी न होकर निरंकुशवादी हो जायगा। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा स्वप्नवत हो जायगी।

अधिकार विभाजनवादियों की दलीलें ये हैं:—

मॉनटेस्क्यू का कथन है कि सरकार की शक्ति तथा सत्ता यदि तीनों अंगों में विभाजित नहीं की जायेगी तो सरकार का शासन अन्यायपूर्ण होने का डर है। इससे नागरिकों के जीवन तथा अधिकारों में हस्तक्षेप होने का भय है। शक्ति तथा अधिकार अच्छे से अच्छे मनुष्य को मदान्ध कर देती है। एकाग्र अधिकार से मदान्धता तथा स्वेच्छाचार का प्रादुर्भाव होता है। व्यक्ति के कार्य की समालोचना ही व्यक्ति को मनमाना करने से रोकती है। यदि शासन कार्य तथा न्यायकार्य एक ही हाथ में सौंपा जाय जैसे राजा के अथवा व्यवस्थापिका सभा के तो कानून बनाने का तथा उसको पालन करवाने के कार्य दोनों ही के वे अधिकारी हो जायेंगे

तो राजा अथवा व्यवस्थापिका सभा ऐसे ही कानून बनायेंगे जो उसके अस्तित्व को तथा शक्ति को स्थायी रखने में सहायक होंगे। ऐसी परिस्थिति में नागरिकों पर अन्याय होने का तथा तानाशाही शासन का डर लगा रहेगा। पुनः यदि व्यवस्थापिका सभा तथा न्यायालय का सम्मिलित अधिकार हो तो भी नागरिकों के अधिकारों की रक्षा शंकात्मक हो सकती है। इस परिस्थिति में भी न्यायाधीश तथा व्यवस्थापिका सभा सम्मिलित अधिकारों की प्राप्ति के कारण मनमाना कानून बनाने के प्रलोभन को रोक नहीं सकेगी। यदि कार्यकारिणी सभा तथा न्यायाधीश का काम एक ही हाथ में सौंपा जाय तो विशुद्ध न्याययुक्त न्याय की सम्भावना घट जायेगी। राज्य का शासक वर्ग अपने वर्ग अथवा अपने मुँह लगों के हित साधन का प्रयत्न करेंगे। अतएव न्याय की निष्पक्षता का लोप हो जायगा। इस कारण यदि सरकार के तीनों अंग एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के हाथ में सौंपे जायेंगे तो नागरिकों की स्वाधीनता तथा न्याययुक्त शासन का अन्त हो जायगा। सरकार शासक वर्ग के हाथ की कठपुतली मात्र बन जायेगी।

अधिकार विभाजन के प्रचारक इस प्रकार से तर्क करते हैं कि यदि न्यायालय तथा व्यवस्थापिका सभा दोनों ही शासक वर्ग के प्रभाव में हों तो शासित कठिन दण्ड, अन्याय अथवा सरकार के स्वेच्छाचारी व्यवहार से अपनी रक्षा के लिये किसकी शरण लेगा? सरकार के सम्मिलित अधिकारों की योजनानुसार शासित वर्ग को दुराचार, अत्याचार एवं अन्याय से बचने के लिये अथवा पुनर्विचार के लिये क्रान्ति के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जायगा। परन्तु अधिकार विभाजन से यदि कार्यपालिका शासितों पर अत्याचार करती है, तो शासित वर्ग अत्याचार के विरुद्ध न्याय पालिका से निवेदन कर सकता है। यही उनके रक्षा का उत्तम उपाय हो सकता है। यदि अधिकार विभाजन के सिद्धान्त पर सरकार के विभागों का संगठन किया जावे, तो धारा सभा द्वारा उन्नतिशील एवं विकासयुक्त कानूनों की स्वीकृति की आशा भी शासित वर्ग कर सकता है।

अधिकार विभाजन की पुष्टि करते हुए उनका कथन है कि सरकार के तीनों विभागों को पृथक रखना तथा उनके कार्य की सीमा निहित करने ही में जनता का कल्याण है। कोई भी विभाग स्वेच्छाचारी नहीं होगा। नागरिक शासकों के स्वेच्छाचार तथा अत्याचार से बचने के लिये न्याय की शरण ले सकता है तथा व्यवस्थापिका सभा द्वारा जनहितकारी कानून की आशा कर सकता है।

उनका अन्तिम तर्क यह है। सरकार के विभिन्न अंगों का सुचारु रूप से संचालन करने के लिये विभिन्न गुणों की आवश्यकता होती है। कोई व्यक्ति शासन कार्य में पटु होता है, परन्तु वह न्याय कार्य में असमर्थ होता है। क्योंकि न्यायाधीश को कानून समझने की क्षमता, गम्भीरता तथा विचार शीलता इत्यादि गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है। उसी प्रकार एक न्यायाधीश को न्याय कार्य में उच्च योग्यता प्राप्त हो सकती है, परन्तु वह साथ ही साथ कानून बनाने में तथा शासन कार्य में पटु हो, यह आवश्यक नहीं है। उसी प्रकार रक्षा विभाग में सैनिकों को अथवा सिपाहियों को स्फूर्ति, तेजी और शारीरिक बल की आवश्यकता है। प्रथम श्रेणी के सैनिक होने के नाते वे अच्छे शासक अथवा अच्छे न्यायाधीश हों, यह आवश्यक नहीं है। अर्थात् मनुष्य की योग्यता का विकास सर्वतोमुखी हो और एक योग्य व्यक्ति प्रत्येक कार्य में उच्च श्रेणी की योग्यता रखता हो यह सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि होती है और प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति अथवा मानसिक झुकाव एक विशिष्ट दिशा में होता है। जब व्यक्ति इसी के अनुसार अथवा मानसिक झुकाव के अनुसार कार्य करता है तब योग्य व्यक्ति उच्चकोटि की क्षमता प्राप्त कर सकता है। किन्तु अपनी शक्ति को अनेक कार्य में लगा देने से उसके शक्ति का तथा समय का ह्रास होता है।

इसके अतिरिक्त एक ही कार्य करते करते व्यक्ति के अनुभव का संग्रह बढ़ जाता है। इससे व्यक्ति की कार्य की तत्परता, क्षमता तथा योग्यता

बढ़ जाती है। आधुनिक जीवन तद्रूप राज कार्य जटिल, पेंचीदा तथा मिश्रित हो गया है। इसलिये अंगों के विभाजन से प्रत्येक विभाग के कार्य उच्चतम रीति से होंगे और व्यक्ति को योग्यतानुसार अधिकार दिये जायेंगे।

मध्यकालीन युग में राजा ही सरकार के इन तीनों विभागों के लिये उत्तरदायी हुआ करता था। उस समय भी कुछ इने-गिने राजाओं से जैसे अशोक, अकबर, महारानी एलिजाबेथ इत्यादि के राज्य शासन से प्रजा सुखी व सन्तुष्ट थी। अधिकांश राजा स्वेच्छाचारी थे, और अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते थे। उस समय राज्यकार्य सरल थे, जीवन भी सरल था। मनुष्य की आवश्यकतायें कम थीं, जीवन का क्षेत्र सीमित था। आज की परिस्थिति में जमीन आसमान का अन्तर हो गया है। जीवन जटिल हो गया है। राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को प्रभावित कर रही है। जनता सजग और सतर्क है। सरकार का कार्य क्षेत्र जनता की आवश्यकतानुसार तथा बौद्धिक प्रगति के अनुसार घटता बढ़ता जाता है। अर्थात् सरकार के प्रत्येक विभाग में वैज्ञानिक ज्ञान तथा विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। विभाजित अधिकारों द्वारा ही प्रत्येक विभाग दक्षता से काम कर सकेगा। और सरकार के विभाग विशिष्ट मर्मज्ञों के आधिपत्य में सुचारु रूप से चल सकेंगे।

विभाजन सिद्धांत की समालोचना :—

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का विधान विभाजन सिद्धांत पर ही ढाला गया है। उसकी शासन पद्धति का आधारभूत सिद्धांत यही है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी अधिकारों का सम्पूर्ण विभाजन हानिकारक, असम्भव तथा अव्यवहारिक सिद्ध हुआ है। मनुष्य शरीर के समान सरकार जीवित, जीता जागता तत्व है। व्यवस्थापिका सभा, न्यायालत तथा कार्यकारिणी इस सरकार रूपी शरीर के अवयव हैं। इन तीनों के कार्य अलग अलग, होते हुए भी उनका परस्पर अटूट सम्बन्ध है। जैसे शरीर के अंग अलग अलग

रहकर कार्य नहीं कर सकते हैं, और अलग अलग रहकर जीवित नहीं रह सकते हैं उसी प्रकार सरकार के विभागों का पृथक अस्तित्व सम्भव नहीं हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में तीनों विभागों की सीमा निहित की गई है, और अपने अपने कार्य में वे स्वतन्त्र भी हैं। परन्तु व्यवहार में उन्हें एक दूसरे से परामर्श लेना पड़ता है, और वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। अर्थात तीनों अंगों को स्वाधीनता रखते हुए, लेन-देन का व्यवहार करना ही पड़ता है। अतः तीनों विभागों में पूर्ण सम्बन्धविच्छेद असम्भव है, अव्यवहारिक है। अतः शासन यन्त्र का उचित रूप से संचालन करने के लिए, तथा कार्य की सुगमता के लिए तीनों अंगों का परस्पर परामर्श तथा परस्पर सम्बन्ध अनिवार्य हो जाता है। यदि प्रत्येक अंग पृथक रूप से कार्य करने लगेगा, तो राज्य की एक रूपता नष्ट हो जायेगी। मान लीजिये कार्यकारिणी सभा राज्य पर परराष्ट्र द्वारा आक्रमण का अंदेशा करती है। इस कारण कार्यकारिणी व्यवस्थापिका सभा से युद्ध की तैयारी के निमित्त धन की माँग करती है। व्यवस्थापिका सभा का यह कर्त्तव्य है कि वह इस पर पूर्ण रूप से विचार करे और यदि माँग योग्य है तो उसकी पूर्ति करे, अन्यथा राज्य कीस्वाधीनता का लोप हो जायगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के लिये तीनों विभाग एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी प्रेसिडेण्ट, विधान सभा को भाषण द्वारा, संदेश द्वारा प्रभावित करता है। अर्थात् प्रेसिडेण्ट कानून के बनाने में भी कभी कभी आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप कर सकता है।

दूसरा उदाहरण लीजिये आज की परिपाटी है कि कार्यकारिणी न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है। यदि इसे कार्यकारिणी का हस्तक्षेप समझकर न्यायाधीशों को वोट द्वारा चुनने का आग्रह किया जावे, तो न्यायाधीश भी पार्टीबन्दी तथा पक्षपात के चक्कर में फँस जायेंगे। तात्पर्य यह है कि केवल विभागों के विभाजन से ही नागरिकों के अधिकारों की रक्षा नहीं होती है, परन्तु नागरिकों के अधिकारों की रक्षा उनके सजगता, साहस,

उत्साह तथा राष्ट्रीय जाग्रति पर भी निर्भर है। यह समझने के लिये विधान के वास्तविक रूप पर गौर करना होगा। क्योंकि नागरिकों के अधिकारों की रक्षा विधान के वास्तविक रूप पर भी निर्भर है। ब्रिटेन तथा अन्य सभात्मक देशों में सरकार के विभाग सम्मिलित रूप से तथा सहयोग से राज्य शासन संचालित करते हैं। वहाँ के निवासी भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के निवासियों के समान स्वतन्त्र नागरिक अधिकारों का उपभोग कर रहे हैं। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि तो यह है कि यह तीनों अंगों को समान शक्ति प्रदान करता है। वास्तव में आधुनिक युग में धारा सभा ही सर्व प्रधान है। क्योंकि नागरिकों की इच्छा तथा भावना इसी के द्वारा व्यक्त की जाती है। कानून इसी के द्वारा बनाये जाते हैं। तथा न्ययालय उन्हीं कानूनों की व्याख्या करता है। अतः कार्यकारिणी उन्हीं कानूनों का पालन करने के लिये नागरिकों को बाध्य करता है। व्यवस्थापिका सभा सब विभागों को द्रव्य वितरण करती है, और उसी के द्वारा सब विभागों को अपने आधिपत्य में रखती है। तात्पर्य यह है कि प्रजातन्त्र राज्य में सजग और जाग्रत जनमत ही सरकार पर दबाव डाल सकता है, और अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है। केवल बनावटी विभाजन द्वारा ही पूर्ण रूप से कार्य सफलता सम्भव नहीं है। इसलिये विधान मण्डल सरकार के सब विभागों में प्रधान और प्रमुख है।

सरकार के कार्य विभाजन का अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्तः—इस आलोचना का निष्कर्ष क्या है? विभाजन अथवा सम्बन्ध ? उपरोक्त सिद्धान्त में आंशिक सत्य है। इसमें कोई शंका नहीं कि प्रत्येक विभाग के कार्य की सीमा निहित होनी चाहिये। कुछ हद तक उन्हें स्वाधीन भी रहना चाहिये परन्तु साथ ही साथ उनमें व्यवहारिक रूप से तथा सरकार की सुगमता के लिये परस्पर सम्बन्ध होना चाहिये और लेन-देन भी होनी चाहिये। कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका सभा में समय

समय पर कानून बनाने के अधिकार होने चाहिये तथा व्यवस्थापिका सभा को कार्यकारिणी के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार तथा प्रश्न पूछने का तथा पद से हटाने का अधिकार होना चाहिये। जिससे कि प्रत्येक कार्य पूर्ण विचार के बाद ही किया जावें। कार्यपालिका को विशेष परिस्थिति में विधानमण्डल के कानूनों को अस्वीकृत करने का अधिकार होना चाहिये। दैनिक शासन कार्य के लिये विधान मण्डल में कार्यपालिका को कानून बनाने का अधिकार होना चाहिये। कार्यकारिणी के स्वेच्छाचार पर नियन्त्रण होना चाहिये। सर्वसम्मति द्वारा ही प्रत्येक कार्य होना चाहिये। कार्यकारिणी का कार्य सदैव जनमत द्वारा ही प्रभावित रहना चाहिये। कार्यकारिणी को ही न्यायाधीशों को पदस्थ करने का अधिकार होना चाहिये। न्यायालयों को कानून को वैधानिक अथवा अवैधानिक कहने का अधिकार होना चाहिये। उन्हें विधान मण्डल द्वारा निर्मित विधियों के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करने का अधिकार होना चाहिये। व्यवस्थापिका सभा को ही न्यायाधीशों की योग्यता, उनके अधिकार तथा उनकी शक्ति और कार्य आदि का निश्चय करना चाहिये। निष्कर्ष यही निकलता है कि तीनों अंगों का सर्वोत्तम सम्बन्ध होना चाहिये। तीनों अंगों को अधिकांश रूप से अपने अपने क्षेत्र में स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिये। तथा विभिन्न अंगों की कार्य की सीमा निहित करते हुए उनका परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करना चाहिये।

अधिकार के पृथक्करण के सिद्धान्त को आजकल अवरोध और सन्तुलन का भी सिद्धान्त कहते हैं। सरकार के अंगों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अधिकार होना चाहिये। परन्तु साथ ही साथ सब अंगों को निरंकुशता से रोकने के साधन भी होने चाहिये। इसलिए प्रत्येक अंग पर कुछ न कुछ नियन्त्रण होना आवश्यक है। विधान इस प्रकार से बनना चाहिये कि प्रत्येक अंग एक दूसरे पर नियंत्रण रख सके। उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अधिकारों का पूर्ण विभाजन हितकर नहीं है।

परन्तु अवरोध तथा सन्तुलन द्वारा सरकार के तीनों अंगों को निरंकुशता तथा पूर्ण स्वतंत्रता से रोकना कल्याणकारी तथा आवश्यक भी है।

प्रजातंत्र राज्यों की सफलता के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका परमावश्यक है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा तथा उनके स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये न्यायपालिका को विधानमण्डल तथा कार्यकारिणी के प्रभाव से मुक्त रहना चाहिये। न्यायपालिका के न्यायाधीशों को निष्पक्ष, निष्काम, विचारवान तथा चौकस होना चाहिये। न्यायाधीशों को किसी प्रकार शासक के दबाव में नहीं रहना चाहिये। न्यायाधीशों का वेतन, वृद्धि इत्यादि शासकों के इच्छा पर नहीं होनी चाहिये। न्यायाधीशों का वेतन उपयुक्त होना चाहिये और उनका कार्यकाल शासकों के हस्तक्षेप से बाहर होना चाहिये। तभी न्यायाधीश निष्पक्ष एवं स्वाधीनता से न्याय कर सकता है। इसके अतिरिक्त शासकों को कानून की अवज्ञा करने वालों को दण्ड देने का अधिकार नहीं होना चाहिये। न्यायाधीश को ही दण्ड निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। यदि शासकों को न्यायाधीश के अधिकार प्राप्त हो जाँय, और एक ही व्यक्ति के हाथ में शासन कार्य तथा न्यायकार्य दे दिये जावें तो दोषी पर अत्याचार होने का भय होता है। तथा न्याय की निष्पक्षता की आशा कम हो जाती है।

आधुनिक जगत में सरकार का महत्वपूर्ण अंग व्यवस्थापिका सभा ही है। व्यवस्थापिका सभा राज्य शक्ति का प्रतिनिधि है।

विधानमण्डल अथवा व्यवस्थापिका सभा के कार्य:— (१) व्यवस्थापिका सभा राज्य में शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा कायम रखने के लिये कानून बनाती है। पुराने दकियानूसी कानूनों को हटाकर कानून बनाती है, और नये विचारों के अनुकूल कानून बनाती है। इसको सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक इत्यादि हर विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। कहीं-कहीं इसे शासन विधान निर्माण करने का तथा

उसमें संशोधन करने का भी अधिकार प्राप्त है। व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये हुए कानून प्रत्येक व्यक्ति पर लागू हैं।

(२) सभी देशों में विधानमण्डल के सम्मुख आय-व्यय का व्योरा विचार करने के लिये तथा स्वीकार करने के लिये रक्खा जाता है। करों को घटाना-बढ़ाना, नये करों को लगाना इत्यादि कार्य भी विधानमण्डल करता है।

सभात्मक सरकार में तो कार्यकारिणी विधानमण्डल का अंग होती है। कार्यकारिणी प्रत्येक कार्य के लिये विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होती है और विधानमण्डल अविश्वास प्रस्ताव द्वारा इसे पद त्याग करने के लिये बाध्य कर सकता है। अध्यक्षात्मक सरकार में विधानमण्डल सन्धि प्रस्तावों पर स्वीकृति देता है। तथा शासनाधिकारियों की नियुक्ति में भी विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक है।

(३) इसी सभा द्वारा जनता अपनी माँगों की पूर्ति करती है। विधान मण्डल सरकार के कर्मचारियों पर प्रश्नों द्वारा, प्रस्तावों द्वारा, वेतन में काँट छाँट द्वारा स्थगित-प्रस्तावों द्वारा नियन्त्रण रखता है। व्यवस्थापिका सभा द्वारा ही सरकार को जनता के रुख का पता चलता है। इन्हीं के द्वारा जनमत भी जाग्रत तथा सचेत होता है।

(४) विधान सभा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निरीक्षण करती है, और युद्ध घोषणा एवं सन्धि प्रस्ताव इसी की अनुमति से किया जाता है।

(५) विधान सभा सरकार का कार्यक्रम तथा नीति निर्धारित करती है।

(६) कहीं-कहीं व्यवस्थापिका सभा राज्यदोषारोपण तथा सर्वोच्च न्यायालय का भी काम करती है। निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों को भी तय करती है।

उपरोक्त वर्णन से धारा सभा का महत्व स्पष्ट ही है। विधानमण्डल के कार्यों का तथा उसके संगठन की उचित व्यवस्था पर ही देश की शान्ति सुव्यवस्था तथा अभ्युदय निर्भर है। विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानूनों

का समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। इस कारण देश के प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था विधान मण्डल में करनी चाहिये।

संसार के अधिकांश देशों में दो सभायें हैं। एक निचली सभा तथा दूसरी उच्च सभा। उच्च सभा में ज्यादातर अनुभवी, बड़े उमर के, धनवान तथा राज्य के विशिष्ट दल के, वर्ग के तथा धर्म के सदस्य चुने जाते हैं। इससे राज्य के सब स्तरों के लोगों को अपने विचार व्यक्त करने का मौका मिलता है। उच्च सभा के सदस्य लम्बी अवधि के लिये चुने जाते हैं।

विधान मण्डल की अवधि :—दोनों सभाओं का जीवनकाल न तो कम ही होना चाहिये और न बहुत अधिक। साधारणतया चार पाँच वर्ष की अवधि ठीक समझी जाती है। कम वर्षों की अवधि से जल्दी जल्दी चुनाव से बहुत धन का अपव्यय होता है, और जल्दी चुनाव से जनता में हलचल मची रहती है। सदस्यों को शासन सम्बन्धी कार्यों का अधिक अनुभव नहीं हो पाता है। यदि धारा सभा की अवधि अधिक हो तो धारा सभा बदलते हुये जनमत से बहुत दूर हो जाती हैं, और धारा सभा के सदस्य जनमत को अपने कार्य में प्रतिबिम्बित नहीं कर सकेंगे। सदस्यता की अधिक अवधि होने से जनमत के विरुद्ध कार्य करने का भय सदा लगा रहेगा। क्योंकि ऐसे सदस्यों को अपदस्थ करने का कोई उपाय जनता के हाथ में नहीं है। छोटी सभा अथवा निचली सभा के सदस्य आम जनता से चुने जाते हैं। इस सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होती है। इनके सदस्य जल्दी जल्दी पदत्याग करते हैं जिससे वे बदलते हुये जनमत को प्रतिबिम्बित कर सकें।

दोनों सभायें अपने सभापति को स्वयं चुनती हैं। छोटी सभा को सभापति स्पीकर कहते हैं तथा बड़ी सभा के सभापति को प्रेसिडेन्ट।

साधारणतः व्यवस्थापिका सभा के प्रत्येक देश में दो भवन हैं। परन्तु महायुद्ध के बाद कुछ देशों में जैसे टर्की, पुर्त्तगाल, फिनलैण्ड, बल्गेरिया इत्यादि में एक भवन की व्यवस्था की गई है।

साधारणतः सभी देशों में दो भवन हैं। उनके गुण निम्नलिखित हैं।

दो सभाओं से लाभः—(१) दो सभा होने से बड़ी सभा विवेक को भूल कर जल्दबाजी, उतावलेपन अथवा जोश के कारण किये हुये कानूनों का प्रतिरोध कर सकती है। क्योंकि बड़ी सभा में अधिकतर अनुभवी विचारवान व्यक्ति होते हैं। छोटी सभा के क्रांतिकारी प्रवृत्ति को बड़ी सभा रोकती है। कभी कभी आवेश, पक्षपात, दलबन्दी के षड़यन्त्र में फँस कर छोटी सभा ऐसे कानूनों का प्रस्ताव करती है जो देश के भविष्य के लिये हानिकारक होते हैं। बड़ी सभा ऐसे समय रोक टोक लगाकर देश को संकट से बचाती है।

(२) इसी प्रकार बड़ी सभा जाँच पड़ताल, रोक थाम, पुनर्विचार करने के लिये आवश्यक है। तथा कानूनों की त्रुटियाँ दूर कर उनमें संशोधन करती है।

(३) यदि एक ही सभा हो अर्थात् यदि रोकथाम करने के लिये उच्च सभा न हो, तो छोटी सभा निरंकुश निर्विरोध हो कर जनता पर अत्याचार करके उनकी स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचा सकती है।

(४) विशेष हितों तथा अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था दो भवनों में आसानी से हो सकती है। प्रत्येक राज्य में धनवान, धार्मिक, अल्पसंख्यक अथवा विशिष्ठ गुणवान व्यक्ति होते हैं। इसके अतिरिक्त मिलमालिक, श्रमिक के नेता, जमींदार, व्यवसायी इत्यादि भी अल्पसंख्या में होते हैं। अल्पसंख्यक होने के कारण चुनाव में बहुमत मिलना कठिन हो जाता है, तथा गुणवान अथवा विशेषज्ञ चुनाव की दौड़-धूप में फँसना पसन्द नहीं करते हैं। नागरिक के नाते ऐसे व्यक्तियों को भी विधानसभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये जिससे उन्हें अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर मिले। दो सभायें होने से विधान मण्डल पूर्ण तथा सर्वांगीण हो सकता है। उच्चभवन में विशेषज्ञ विशिष्ठ वर्ग अथवा सम्प्रदाय

के व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है। ऐसे प्रतिभाशाली तथा अनुभवी व्यक्ति जो निर्वाचन में भाग नहीं लेना चाहते हैं, सरकार उन्हें उच्च सभा में मनोनीत भी कर सकती है, और निचली सभा में आम जनता को आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है।

(५) दो सभायें होने से प्रत्येक कानून पर दुबारा विचार विनिमय होता है। एक बार निचले भवन में तथा दूसरी बार उच्च भवन में प्रत्येक कानून पर विचार किया जाता है। इस विलम्ब के कारण जनता को कानून पर विचार करने का एवं अपने विचारों को अखबारों में छापने का तथा सभा द्वारा प्रकट करने का अवसर मिल जाता है।

(६) संघात्मक सरकारों में तो दो सभायें आवश्यक हैं। बड़ी सभा में विभिन्न राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है तथा छोटी सभा में आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

(७) शासक मण्डल एक सभा के हाथ की कठपुतली बन सकता है। उसके आदेशानुसार शासक-मण्डल को काम करना पड़ता है। दो सभा होने से शासक-मण्डल बड़ी सभा को पुनर्विचार के लिये अनुरोध कर सकता है। इस प्रकार शासक-मण्डल के स्वाधीनता की रक्षा होती है।

(८) दोनों सभायें एक दूसरे पर दबाव डालती हैं और विधि निर्माण में एक दूसरे को मनमाना करने से रोकती हैं तथा सरकार का समतुलन बनाये रखती हैं।

(९) निचली सभा को अत्यधिक कार्यभार रहता है, इसलिये उसे नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने का अधिक अवकाश नहीं मिलता। उच्च भवन सुगमता पूर्वक यह काम कर सकता है।

दो सभाओं से हानि:—(१) कानून जनता के विचारों का मूर्ति रूप है। एक ही विषय पर जनता के दो मत नहीं हो सकते हैं। इसलिये

एक ही व्यवस्थापिका सभा होनी चाहिये। दो सभायें होने से परस्पर विरोध तथा संघर्ष होगा। इस से जनता निर्जीव तथा बेकाम हो जाती है। फ्रेंच राजनीतिज्ञ अबीसाय ने कहा है कि यदि दोनों सभाओं के समान विचार हैं तो दो सभाओं का अस्तित्व व्यर्थ है। यदि दोनों सभाओं के विचार प्रतिकूल हैं तो दो सभाओं का होना हानिकारक हैं।

(२) दो सभायें एक सभा की जल्दीबाजी तथा उतावलेपन से देश की रक्षा करता है। यह कथन व्य ै है। प्रत्येक कानून पर त्रीवार विचार किया जाता है, और यदि कानून में कोई दोष भी रह जाता है तो कार्य-पालिका का प्रधान हस्ताक्षर से पू ै उन दोषों को दूर कर सकता है।

(३) विशेष हितों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करना प्रजातन्त्र सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। बड़ी सभा में प्रतिक्रियात्मक शक्तियों को स्थान देने से राष्ट्रीय प्रगति तथा विकास में रुकावट आ जायेगी।

(४) दूसरी सभा होने से राष्ट्र का खर्च बढ़ जाता है क्योंकि विधान सभा के प्रत्येक सदस्य को वेतन मिलता है।

(५) सब से बड़ी कठिनाई उच्च सभा के संगठन की है।

(अ) यदि बड़ी सभा चुनाव द्वारा संगठित की जाय तो वह छोटी सभा की प्रतिलिपि मात्र होगी। (ब) यदि नामजद की जाय तो बहुमत वाले दल अपने पिट्ठुओं से उसको भर देंगे। (स) यदि वंश परम्परा के अनुसार इस की रचना की जायेगी तो ऐसा करना प्रजातन्त्र-भावना के प्रतिकूल होगा। (द) यदि धन, बल के आधार पर चुनाव होगा तो उच्च सभा में प्रतिक्रियात्मक शक्तियों की वृद्धि होगी। ये राज्य के विकास को रोकेंगे।

(६) बड़ी सभा सदैव प्रगतिशील कानूनों का विरोध करती है इस कारण वे सदैव राजनीतिक विकास की बाधक हुई हैं।

(७) उच्च सभा के सदस्य अनुदार मत के धनिक होते हैं। वे सदैव अपने स्वार्थ हितों के साधन का प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरों के हितों की उन्हें परवाह नहीं होती है।

दोनों सभाओं का सम्बन्ध:—इतना विरोध होते हुये भी अधिकांश राज्यों में दो सभायें पायी जाती हैं। परन्तु धीरे-धीरे छोटी सभा का महत्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। आज सब राज्यकार्यों में छोटी सभा का उच्च स्थान है। आर्थिक कार्य में तो निस्सन्देह छोटी सभा ही सर्वेसर्वा मानी जाती है। अर्थात् आजकल दोनों सभाओं की समानता का अन्त हो गया है। आर्थिक कार्य में तो बड़ी सभा हस्तक्षेप नहीं कर सकती है, तथा कानूनों के पास होने में उच्च भवन केवल विलम्ब कर सकता है। किसी कानून को पास होने से रोकने का उसे अधिकार नहीं है। दोनों सभाओं के मतभेद एवं संघर्ष का अन्त सम्मिलित समिति, सम्मिलित अधिवेशन, सम्मिलित विचार विनिमय अथवा कुछ काल के लिये कानून को स्थगित करके इत्यादि उपायों से होता है।

कार्य कारिणी:—कार्य पालिका सरकार का वह अंग है जो राज्य में शासन को कार्यान्वित करता है अर्थात् राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करता है, और राज्य के नियमों को कार्य रूप में परिणित करता है। कार्य पालिका सरकार का वह अंग है, जो विधानमण्डल द्वारा बनाये हुये कानूनों का पालन राज्य के प्रत्येक व्यक्ति तथा समूहों से करवाती है। इस अंग को शासक-मण्डल भी कहते हैं। आधुनिक विद्वानों के अनुसार कार्यपालिका सरकार का महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली अंग है। इन लेखकों का कथन है कि विधान मण्डल का जनता के आवश्यकतानुकूल कानून बनाने का काम प्रजातन्त्र सरकार के प्रचार से बढ़ गया है। तदरूप इन कानूनों को व्यवहार में लाने का काम भी बढ़ गया है। यह स्वभाविक है कि सरकार के कर्त्तव्यों के बढ़ने से कार्य पालिका की शक्ति की भी वृद्धि हो। सरकार का यह सबसे अधिक सचेत तथा जागरुक अंग होता है।

इसके बिना राज्य में अशान्ति तथा अराजकता फैल जायेगी। दैनिक जीवन में व्यक्ति का सरकार के तीन अंगों में सबसे अधिक सम्पर्क कार्यकारिणी से आता है।

कार्यकारिणी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। संकुचित अर्थ में कार्यकारिणी शब्द से राज्य के प्रधान का बोध होता है, जैसे इंगलैंड का सम्राट, भारत तथा अमेरिका का अध्यक्ष। कभी-कभी इस संकुचित अर्थ में राज्य के मुख्य मन्त्रियों का भी बोध होता है। व्यापक अर्थ में इसका तात्पर्य आधीन पदाधिकारी, कर्मचारी (Civil Service) पुलिस तथा सेना विभाग, ग्राम चौकीदार, इत्यादि से भी है।

यहाँ पर कार्य पालिका का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जायेगा। यहाँ केवल सर्वोच्च अधिकारी के अर्थ में कार्यपालिका शब्द का प्रयोग किया जायगा।

किसी भी देश में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है।

(१) नकली अथवा नाम मात्र की कार्य पालिका। राज्य का सर्वोच्च शासक नाम मात्र का शासक होता है। जैसे इंगलैण्ड का राजा। उसे वास्तविक शासन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, और न तो उसको शासन के कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त होते हैं। वैधानिक दृष्टि से राज्य का समस्त कार्यभार उसके कन्धे पर होता है। परन्तु वास्तव में राज्य का शासन कार्य मन्त्रिमण्डल ही करता है जिन्हें वास्तविक शासक कह सकते हैं।
(२) वास्तविक कार्यपालिका के ही हाथों में राज्य की सारी सत्ता निहित होती है। देशका शासन-प्रबन्ध उसी के द्वारा होता है। उदाहरणार्थ अमेरिका का अध्यक्ष। शासन का कार्यभार बहुत अंशों तक वास्तविक रूपसे अमेरिका के राष्ट्रपति के अधीन है।

राज्य के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी एक व्यक्ति अथवा सभा हो इस विषय पर बहुत अधिक मतभेद है। स्विजरलैण्ड के अतिरिक्त संसार के अधिकांश

देशों में राज्य का सर्वोच्च अधिकारी एक ही व्यक्ति होता है। जैसे हिन्दुस्तान के नये विधान में राष्ट्रपति, केन्द्रिय तथा संघांतरित राज्यों के समस्त विधान मण्डलों के सदस्यों द्वारा चार वर्षों के लिए निर्वाचत हुये हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति चार वर्षों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। फ्रांस में विधान मण्डल की सम्मिलित बैठक द्वारा राष्ट्रपति निर्वाचित होता है। ब्रिटिश डोमीनियन के गर्वनर जनरल वैधानिक रूप से इंगलैंड के सम्राट द्वारा पांच वर्ष के लिए मनोनीन किये जाते हैं परन्तु वास्तविक रूप से देश के मन्त्रिमण्डल की शिफारिश पर ही वे चुने जाते हैं। इंगलैण्ड के मुख्य अधिकारी, इंगलैण्ड के सम्राट निर्वाचित नहीं किये जाते हैं। उनका पद उन्हें वंशपरंपरानुगत प्राप्त होता है। इस प्रकार संसार के अधिकांश देशों में सर्वोच्च अधिकारी एक ही व्यक्ति होता है। एक ही व्यक्ति होने से राज्य का कार्य तत्परता से तथा दृढ़ता से हो सकता है। अधिक व्यक्ति होने से मतभेद, वाद-विवाद के कारण विलम्ब की आशंका होती है। परन्तु साथ ही साथ एक ही व्यक्ति के हाथ में राज्य की बागडोर देने से शासक में अपने अधिकारों को बढ़ाकर अपने स्वार्थ साधन के लिए शासन करने की प्रवृत्ति का उद्गम होने की आशंका भी होती है। इसलिए अधिकांश देशों में राज्य का वास्तविक कार्यभार शासक-सभा को देना ही श्रेयस्कर समझा गया है।

कार्यपालिका की नियुक्ति की रीतियाँ:—उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्यपालिका की नियुक्ति तीन रीतियों से होती है।

(१) **वंशानुगत कार्यपालिका:**—सम्राट के मृत्यु के पश्चात् सम्राट का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी तथा राज्य का प्रधान होता है। यह प्रथा ब्रिटेन में प्रचलित है।

(२) **मनोनीत कार्यपालिका:**—यह पद्धति सभात्मक सरकारों में प्रचलित है। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राज्य के सम्राट द्वारा अथवा देश

के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति विधानमण्डल के बहुमत दल के नेता को ही प्रधान मन्त्री के पद के लिए मनोनीत करता है। इस प्रकार की कार्यपालिका जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। जब तक विधानमण्डल के विश्वास का पात्र रहती है तब तक अपने पद पर आरूढ़ रहती है।

(३) **निर्वाचित कार्यपालिका:**—जनता कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन दो रीति से करती है प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष। आजकल किसी भी देश में कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता है। क्योंकि इस महत्वपूर्ण कार्य में जनता की योग्यता पर शंका उत्पन्न होती है। तथा इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए जनता का निर्णय यथार्थ होगा अथवा नहीं इसमें संशय है। इसी कारण कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है जैसे अमेरिका के राष्ट्रपति तथा भारत के राष्ट्रपति का हुआ है।

कार्यपालिका के गुण:—सरकार के अंगों में कार्यपालिका का महत्व पूर्ण स्थान हैं सरकार की कार्य कुशलता इसी पर निर्भर है। कार्यपालिका में निम्नलिखित गुण होना परमावश्यक है। कर्तव्य निष्ठा, कार्य में स्फूर्ति, निर्णय में शीघ्रता, कार्य में गम्भीरता तथा गोपनीयता। अर्थात् प्रधान शासक का उत्साही, पौरुषवान, सचेत, एकाग्र तथा तत्पर होना आवश्यक है।

सर्वश्रेष्ठ शासक के कार्य

(१) **परराष्ट्र संबंधी अधिकार**—कार्यपालिका को परराष्ट्र संबंध स्थापित करना, सन्धि की योजना बनाना, युद्ध की घोषणा करना, विदेशी राजदूतों से मिलना अपने देश के राजदूत को नियुक्ति करने के अधिकार हैं। कुछ देशों में संधि करना तथा युद्ध घोषणा करना व्यवस्थापिका सभा के अनुमति से ही हो सकता है।

(१) **कानून निर्माण सम्बन्धी:**—व्यवस्थापिका सभा का भंग करना, निर्वाचन करवाना, स्थगित करना, बैठकें करवाना, स्वीकृति प्रस्तावों पर

हस्ताक्षर करना, परोक्ष तथा अपरोक्ष रीति से कानूनों पर प्रभाव डालना, कानून बनाना, व्यवस्थापिका सभा में संदेश भेजकर कानूनों पर प्रभाव डालना, अध्यादेश बनाना इत्यादि कार्य शासक करता है।

(३) सैनिक अधिकार :—कहीं-कहीं कार्यपालिका का अध्यक्ष जल-थल सेना का भी प्रधान होता है। युद्ध के समय आदेश देता है। इन विभागों के अधिकारियों की नियुक्ति भी करता है, तथा राज्य की परराज्य नीति को निर्धारित करता है।

(४) शासन सम्बन्धी अधिकार :—राज्य के शासन सम्बन्धी पदाधिकारियों को नियुक्त करता है उनको शासनादेश देता है, राज्य के समस्त कार्यों की देख-भाल करता है। अन्दरूनी शान्ति और सुव्यवस्था को प्रस्थापित करता है। शिक्षा प्रचार, व्यापार, उद्योग धन्धों का विकास, जानमाल की रक्षा, कानून की रक्षा, तथा राज्य के उन्नति के सब कार्य करता है।

(५) न्याय सम्बन्धी कार्य :—आवश्यकता पड़ने पर न्यायालयों द्वारा दिये हुए दण्ड को घटाता-बढ़ाता है, रक्षा प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को नियुक्त करता है, तथा आदर सूचक पदवियों का वितरण करता है।

न्याय विभाग :—सरकार के मुख्य अंगों में न्याय भी एक है। न्याय का कार्य नियमों की व्याख्या करना अपराधों की मात्रा निर्धारित करना तथा अपराधियों को अपराध के अनुकूल दण्ड देना है। न्याय के बन्धन के बिना देश में अराजकता फैल जायेगी। न्याय के बिना अधिकारों का अपहरण तथा स्वतन्त्रता का नाश हो जायेगा। अर्थात् राज्य में न्याय का महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य विभिन्न प्रकार के नियम बनाता है। क्योंकि मानवजीवन के विभिन्न अंगों को राज्य के नियम स्पर्श करते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति :—इसके तीन प्रकार हैं (१) न्याया-धीशों का जनता द्वारा निर्वाचन (२) न्यायाधीशों की व्यवस्थापिका सभा द्वारा नियुक्ति (३) न्यायाधीशों की सर्वोच्च शासक द्वारा नियुक्ति ।

प्रथम दो प्रकार की नियुक्ति दोषपूर्ण है क्योंकि न्यायाधीशों का राष्ट्रीय दल द्वारा चुना जाना राज्य के लिए हानिकारक है। राष्ट्रीय दल द्वारा चुनने से उनमें पक्षपात दुर्बलता तथा दलबंदी इत्यादि दुर्गुणों की उत्पत्ति होने का भय होता है । अंतिम प्रकार की नियुक्ति अधिकांश राज्यों में पाई जाती है। जैसे भारत संघ, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, इंगलैण्ड इत्यादि। यह पद्धति सर्वोत्तम है। कार्यपालिका न्यायालयों के परामर्शानुसार प्रतियोगिता मूलक परिक्षाओं के परीक्षाफल के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति करती हैं । इस प्रकार से नियुक्त न्यायाधीश पूर्ण रूप से स्वतंत्र होकर कार्य करते हैं । तथा किसी की कृपा पर आश्रित न होने के कारण निष्पक्ष तथा न्याय संगत न्याय करते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति जीवन पर्यन्त होती है तथा उनको अच्छा वेतन दिया जाता है जिससे वे धन के प्रलोभन से परे हों। सरकार न्याया-धीशों की योग्यता निश्चित करती है। न्यायाधीश पागलपन अथवा किसी महाभियोग के लिए व्यवस्थापिका सभा द्वारा निश्चित रीति से अपदस्थ किये जाते हैं।

नियुक्ति के पश्चात् न्यायाधीशों का कार्यपालिका से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। न्यायाधीशों के कार्य काल की निश्चित अवधि, निश्चित वेतन तथा निश्चित तरक्की की उचित व्यवस्था होनी चाहिये।

न्यायालयों का संगठन सभी देशों में समान नहीं होता है। परन्तु कुछ बातों में साम्य होता है। प्रत्येक देश में तीन प्रकार के न्यायालय पाये जाते हैं फौजदारी, दीवानी और माली। प्रत्येक देश में क्रमानुसार छोटे से लेकर बड़े न्यायालय पाये जाते हैं। छोटे न्यायालय अपने से

बड़े न्यायालय में अपील करते हैं। वहाँ से अपील बड़े न्यायालय में जाती है। यही क्रम सब राज्यों में होता है। संघीय शासन प्रणाली में दो प्रकार के न्यायालय होते हैं। संघीय तथा प्रांतीय।

न्यायालयों के कार्य :—

(१) नियमों की व्याख्या करना तथा अपराधी को दोष की मात्रा के अनुसार दण्ड देना।

(२) फौजदारी तथा दीवानी अभियोग चला कर दोषी के लिए दण्ड निर्धारित करना।

(३) नाबालिगों के लिए रक्षक नियुक्त करना, मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति की देख भाल करना, दिवालियों की सम्पत्ति की देख-भाल करना इत्यादि।

(४) विधान संबंधी विषयों में सर्वोच्च अधिकारी को परामर्श देना।

(५) विधान के अर्थ के संबंध में मतभेद को हल करना। संघ राज्यों में स्वीकृत विधियों की वैधानिकता तथा अवैधानिकता पर प्रकाश डालना।

(६) एक मनुष्य तथा दूसरे मनुष्य के बीच तथा राज्य एवं नागरिक के बीच आर्थिक मुकदमों का निर्णय करना।

(७) अपने निर्णयों द्वारा आगे आनेवाले मुकदमों के निर्णय के लिए नज़ीरें तैयार करना।

वर्तमान काल में न्याय नागरिकों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए अत्यावश्यक है।

अन्त में इतना कहना पर्याप्त है कि न्यायाधीशों को कानून का उच्चतम ज्ञान, निष्पक्ष, स्वाधीन विचार वाले, सुदृढ़ चरित्रवान तथा सच्चा होना परमावश्यक है।

अध्याय १३

संविधान अथवा शासन विधान

अब सरकार के संगठन के विषय में अध्ययन किया जायेगा । राजनीतिक भाषा में सरकार के संगठन के स्वरूप को संविधान कहते हैं । इसी संविधान के अनुसार देश की सरकार बनती है और कार्य करती है। संविधान सरकार के उन नियम कानूनों का पुञ्ज है जिनके अनुसार किसी देश के शासन की रूपरेखा निश्चित होती हैं । सरकार के विविध अंग होते हैं । प्रत्येक अंग के कुछ अधिकार होते हैं । सरकार का काम सुचारु रूप से चलने के लिए कुछ नियमों द्वारा इन अधिकारों की व्याख्या होती है और उनका परस्पर सम्बन्ध निश्चित होता है । इन्हीं नियमों को संविधान कहते हैं । ये नियम राज्य के ढाँचे को निश्चित करते हैं । ये नियम कानून लिखित तथा अलिखित दोनों ही प्रकार के होते हैं ।

शासन विधान की परिभाषा :—राज्य के शासन विधान की परिभाषा अनेकों विद्वानों ने अनेकों प्रकार से की है ।

(१) शासन विधान लिखित अथवा अलिखित नियमों के संग्रह को कहते हैं । जिसके अनुसार उच्च शासकों तथा जनता के आवश्यक अधिकारों का संचालन होता है ।

(२) शासन विधान सरकार की रूप रेखा का निर्माण करता है ।

(३) डायसी की परिभाषा—"संविधान का अभिप्राय उन सब नियमों से है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य की प्रभुशक्ति के वितरण और उपभोग को निर्धारित करे ।"

(४) जेलनिक की परिभाषा—"संविधान वैधानिक नियमों का एक समूह है जो राज्य के सर्वोच्च अंगों को निर्धारित करता है उनकी स्थापना की

रीति को स्पष्ट करता है। उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा कार्य क्षेत्र की व्याख्या करता है तथा उनमें से प्रत्येक के स्थान का राज्य से संबंध निर्धारित करता है।"

(५) गिलक्राइस्ट की परिभाषा—"ये वे लिखित अथवा अलिखित कायदे कानून हैं जो शासन की व्यवस्था का निश्चय, उनके विविध अंगों के अधिकारों का वितरण तथा आम सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं, जिनके द्वारा किसी देश की सरकार संगठित तथा कार्यान्वित होती है।"

(६) शासन विधान राज्य के सामूहिक कानून है। सरकार की विभिन्न विभागों की शक्ति, नागरिक के अधिकार और कर्तव्य तथा सरकार और नागरिक के पारस्परिक सम्बन्ध का लिखित अथवा अलिखित संग्रह को ही शासक विधान कहते हैं।

संविधान की आवश्यकता:—सरकार चाहे प्रजातन्त्रात्मक हो चाहे राजतन्त्रात्मक, सब में शासन विधान होना आवश्यक है। राज्य के अन्तगत अनेकों संस्थाएँ होती हैं। परन्तु सर्वोच्च तथा महत्वपूर्ण संस्था राजनीतिक संस्था है। पटवारी, कलक्टर से लेकर मन्त्रीगण तथा राष्ट्रपति तक सरकार के अनेकों कर्मचारी हैं तथा सरकार के अगणित कार्य हैं। प्रत्येक के पृथक कर्तव्य हैं। दूसरी ओर जनसमुदाय है जो इनसे शासित हैं, तथा कुछ अधिकारों का अधिकारी भी है। राज्य और समाज की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए इन विभिन्न अंगों के अधिकार, कर्तव्य, कार्य की सीमा, सम्बन्ध का निश्चित करना तथा उनका वितरण करना परमावश्यक है। शासन विधान इन्हीं सब की स्पष्ट व्याख्या करता है। इसलिए हरेक राज्य का काय शासन विधान के बिना चल ही नहीं सकता है। यदि नियम कानून न हों तो शासक वर्ग मनमाना करने लगेंगे प्रजा के अधिकार हड़प लेंगे और कर्मचारी आपस में लड़ने लगेंगे। इसलिए प्रत्येक विभाग के अधिकारियों के भी अधिकार और कर्तव्य सुनिश्चित होने चाहिये, जिससे की वे अधिकार का

दुरुपयोग न कर सकें। अन्त में इतना कहना पर्याप्त है कि जैसे रीढ़ की हड्डी के बिना शरीर स्थित नहीं रह सकता है उसी प्रकार शासन विधान के बिना सरकार का अस्तित्व सम्भव नहीं है। शासन विधान सरकार का निश्चित स्वरूप बतलाता है। समय, देश, काल तथा सामाजिक संगठन के अनुसार तथा भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार शासन विधान ढाला जाता है और हर एक देश अपनी मनोवृत्ति के अनुसार शासन विधान बनाता है। अर्थात् प्रत्येक शासन विधान में नागरिक की मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित होती है।

गटेल साहब ने शासन विधान के मुख्य गुणों विवरण का इस प्रकार किया है:—

(१) स्पष्टता, सरलता तथा निश्चित भाषा:—शासन विधान का सब से पहला गुण है स्पष्टता सरलता और निश्चित भाषा। जिससे की कोई व्यक्ति पढ़कर इसे समझ सके और उसमें विभिन्न अर्थ लगाने की गुंजाइश न हो। यदि शासन विधान स्पष्ट न हो तो सरकार के कार्य में मतभेद हो जायगा और उसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। शासन विधान सरल और संक्षिप्त होना भी आवश्यक है शासन विधान में केवल व्यापक और मूल सिद्धान्तों का ही समावेश होना चाहिये। छोटी-छोटी बातों का ब्यौरा करने से सरकार के कार्यों में कठिनाइयां आ जाती है।

(२) व्यापकता:—संविधान व्यापक होना चाहिये। सरकार के सभी अंगों का पूर्णरूपेण वर्णन तथा उनके क्षेत्रों की भली प्रकार से व्याख्या होनी चाहिये, किसी अंग का वर्णन छूटना नहीं चाहिये। विभिन्न अंगों के अधिकार स्पष्ट करने से ही कोई भी अंग निरंकुशता अथवा मनमानी नहीं कर सकेगा।

(३) अधिकारों की घोषणा:—अच्छे संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन अवश्य होना चाहिये; जिससे सरकार उनके

व्यक्तिगत अधिकारों का हरण न कर सके। साथ ही साथ प्रत्येक संविधान में जनता के अधिकारों की यथा योग्य रक्षा होनी चाहिये और संविधान इस प्रकार होना चाहिये कि जनता उन्नति के मार्ग पर-अग्रसर हो सके।

(४) **परिवर्तनशील**—संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया सरल होना चाहिये जिससे की परिस्थिति के अनुकूल, समयानुकूल नवीन आवश्यकतानुसार संविधान में परिवतन हो सके परन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि संविधान परिवर्तनशील होते हुये अपने स्थायीपन को न खो बैठे। अर्थात् संविधान का मुख्य गुण यही होना चाहिये कि वह समाज और राज्य के उन्नति में बाधक न हो।

(५) **स्वतंत्र न्याय पालिका:**—संविधान द्वारा राज्य में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना होनी चाहिए जिससे की मूल अधिकारों तथा व्यक्ति स्वातन्त्रय की रक्षा हो सके और निष्पक्ष, न्याय संगत, स्वतंत्र न्याय-पालिका की स्थापना हो सके।

(६) शासन विधान ऐसा हो कि वह समाज की परंपरा तथा वाता-वरण के अनुकूल हो। जिससे की समाज की उन्नति तथा संस्कृति अवि-रल धारा की तरह बहती रहे।

शासन विधान में बल का उपयोग कम हो तथा शासन विधान ऐसा हो कि वह शासक वर्ग को निस्वार्थ भावना से कार्य करने में सहायक हो। परन्तु यह सब होते हुये भी सबसे मुख्य बात तो यह है कि उत्तम से उत्तम शासन विधान भयंकर स्वरूप धारण कर सकता है, यदि जनता अपने अधिकारों की रक्षा तथा अपने स्वाधीनता की रक्षा सजग और सचेत होकर न करे। शासन विधान की पूर्ण सफलता जनता के उत्साह और नागरिक शिक्षा पर ही निर्भर है यदि जनता में प्रजातंत्रात्मक भावना कूट-कूट कर भरी है तो वह सरकार के अंगों को मनमाना करने से रोकेगी। तथा अपने अधिकार तथा स्वतंत्रता का यथायोग्य उपयोग करेगी।

जर्मनी का वीमर संविधान पूर्ण प्रजातंत्रात्मक था और वह सर्वोत्तम संविधान भी माना जाता था। परन्तु जर्मन नागरिकों ने सजग होकर अपने अधिकारों की रक्षा नहीं की इस कारण उसी प्रजातंत्रात्मक संविधान द्वारा हिटलर जर्मनी का सर्वेसर्वा अधिकारी बन गया।

संविधान का वर्गीकरण:—

१—(अ) लिखित तथा निर्मित—

(ब) अलिखित तथा विकसित—

सुविधा के लिए संसार के समस्त शासन विधानों को दो वर्गों में बाटा गया है—लिखित तथा अलिखित। आजकल लिखित विधानों की ही चलन है। इंगलैण्ड को छोड़कर अधिकांश राज्यों में जैसे अमेरिका, फ्रांस, भारत, जर्मनी इत्यादि में लिखित शासन विधान है। लिखित शासन विधान—वह है जिनमें शासन संबंधी मुख्य-मुख्य सब सिद्धान्तों का एक शासन पत्र में उल्लेख किया जाता है—कुछ संविधान ऐसे भी होते हैं जिसमें मुख्य तत्वों अथवा बुनियादी कानूनों का लिखित रूप होता है और शेष बातें कानून की सहायता से पूरित की जाती हैं। लिखित शासन विधान निर्मित होते हैं, और एक निश्चित समय ये लिखे जाते हैं।

अलिखित तथा विकसित शासन विधान वे हैं जिनमें अधिकांश बातें रीति-रिवाज, चलन, लोक नियम, न्यायालयों के निर्णय, शासक की घोषणा, समझौता, व्यवस्थापिका मण्डल द्वारा निर्मित नियम के अनुसार हो। अर्थात् जिनका विकास धीरे-धीरे हो। उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड का संविधान, जो ऐतिहासिक विकास की देन है। इसका क्रमशः स्वाभाविक रूपसे विकास हुआ है। यह कोई निश्चित दिन अथवा तिथि में नहीं लिखा गया है। इसका प्रारम्भ शताब्दियों पूर्व हुआ है।

आलोचना—शासन विधान का लिखित अथवा अलिखित विभाजन अपूर्ण तथा तर्कयुक्त नहीं है। कोई भी शासन विधान पूर्णतया

लिखित अथवा पूर्णतया अलिखित नहीं होता है। प्रत्येक देश के कुछ रीति-रिवाज, रस्में परम्परा इत्यादि होते हैं शासन सम्बन्धी अधिक से अधिक बातें लिखी जा सकती हैं। परंतु किसी एक समय भविष्य में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति का सिंहावलोकन करके उनका समावेश संविधान में किया जावे यह मानवीय मस्तिष्क के लिये असम्भव है। संविधान को कार्यरूप में लाने के बाद संविधान की अनेकों कमियाँ रीति-रिवाज द्वारा पूर्ण की जाती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विषय लिखित नहीं हो सकता। अर्थात् प्रत्येक लिखित संविधान में अलिखित अंश भी होता है, और अलिखित शासन विधान में कुछ अंश लिखित भी होते हैं इसलिए उपरोक्त वर्गीकरण विवादग्रस्त तथा अपूर्ण है। केवल मोटे-तौर से लिखित अथवा अलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है।

संक्षिप्त में इतना ही कहा जा सकता है कि लिखित संविधान का कुछ अंश अलिखित होता है, परन्तु अधिकांश अंश लिखित होता है, और अलिखित संविधान का कुछ अंश लिखित होता है, और अधिकांश अंश अलिखित होता है। इसी के अनुसार बहुत मोटे तौर से यह वर्गीकरण किया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह वर्गीकरण ठीक नहीं है। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से इस प्रकार का वर्गीकरण आवश्यक प्रतीत होता है।

नमनीय—परिवर्तनशील तथा अनमनीय अपरिवर्तनशील संविधान :—यह वर्गीकरण संविधान के संशोधन अथवा परिवर्तन के पद्धति के आधार पर किया गया है। **नमनीय शासन विधान**—प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के कानून होते हैं। वैधानिक कानून अथवा नियम वे हैं जो शासन विधान से सम्बन्धित होते हैं, और साधारण नियम वे हैं जो नागरिक के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं दैनिक कार्यों से संबधित होते हैं। नमनीय शासन विधान में वैधानिक तथा साधारण नियमों का संशोधन निर्माण अथवा परिवर्तन समान पद्धति से होता है, और उन दोनों के स्तर में अथवा महत्व में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। उदाहरणार्थ

इंग्लैण्ड के संविधान में ब्रिटिश पार्लमेंट वैधानिक कानूनों का उसी प्रकार परिवर्तन करती है जिस प्रकार साधारण कानूनों का करती है अर्थात् दोनों कानूनों में कोई अन्तर नहीं।

अनमनीय तथा अपरिवर्तनशील संविधान :—इस प्रकार के संविधान में साधारण एवं वैधानिक नियमों में अन्तर किया जाता है। वैधानिक नियमों को बदलने के लिये, उनमें संशोधन करने के लिए तथा उनका निर्माण करने के लिए एक स्वतन्त्र विधान परिषद् की आवश्यकता होती है, तथा वैधानिक कानूनों को बदलने के लिए एक विशिष्ट पद्धति का सहारा लेना पड़ता है। प्रायः उन देशों का जहाँ का संविधान लिखित होता है वहाँ का संविधान अपरिवतनशील होता है और जो संविधान अलिखित होता है वह प्रायः परिवतनशोल होता है। अमेरिका, भारत तथा फ्रांस का संविधान अपरिवितनशील है। अर्थात् नमनीय अथवा परिवतन-शील शासन विधान में वैधानिक नियम सरलता से बदले अथवा संशोधित किये जाते हैं, तथा अनमनीय एवं अपरिवर्तनशील शासन विधान में वैधानिक नियमों का संशोधन अथवा परिवर्तन कठिनाई से होता है।

मोटे तौर से विकसित, आलिखित, नमनीय एवं परिवर्तनशील संविधान एक वर्ग में रक्खे जा सकते हैं, और निर्मित, लिखित, अनमनीय, अपरिवतन-शील संविधान दूसरे वर्ग में रक्खे जा सकते हैं। अब इनके गुण और दोष पर विचार किया जायेगा।

संग्रहीत विकसित अलिखित, परिवर्तनशील एवं नमनीय संविधान के गुण:—

(१) ये संविधान समयानुकूल, आवश्यकतानुसार, प्रजा की राजनीतिक चेतना के अनुकूल बदले जा सकते हैं। अर्थात् समाज के गतिविधि के अनुकूल इनमें परिवर्तन होता जाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ

इनमें परिवर्तन होता जाता है। अर्थात् समय-समय पर इस प्रकार के संविधान राज्य और समाज की आवश्यकता की पूर्ति करते जाते हैं। ऐसे संविधान नष्ट-भ्रष्ट होने से बचे रहते हैं।

(२) परिवर्तनशील होने के कारण ऐसे विधानों में क्रान्ति अथवा विद्रोह होने की सम्भावना नहीं होती है। क्योंकि प्रजा की माँगों की पूर्ति संविधान द्वारा होती रहती है।

(३) असाधारण परिवर्तन के समय—युद्ध अवथा राष्ट्रीय दुर्घटना के समय ऐसा संविधान परिस्थितियों का सुगमता से सामाना कर सकता है। क्योंकि संकट को मुँह देने के लिए संविधान को तोड़ने मरोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सरकार के ढांचे में ही परिवर्तन करने से काम चल जाता है।

(४) परिवर्तनशील संविधान साधारणतया बोधगम्य होता है उनमें कानून की वारीकियाँ नहीं होती है। जिसे साधारण प्रजा समझ नहीं सकती है।

(५) ऐसे संविधान में कानून बदलने के लिए विशेष आयोजन नहीं करना पड़ता है।

(६) यह संविधान विकासमय होता है। भविष्य की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलने के लिए इसमें काफी गुंजाइश होती है।

(७) प्रगतिशील समाज के लिए संविधान प्रजा के विचारों का प्रतीक होना चाहिये। यह गुण ऐसे संविधान में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

दोषः—(१) संविधान जल्दी-जल्दी बदलने से क्षणिक एवं अस्थायी हो जाता है। इसमें प्रजा में सरकार के प्रति भय उत्पन्न होने की संभावना होती है।

(२) जनता भावना के आवेश में आकर ऐसा परिवर्तन कर सकती है जो राज्य के भविष्य तथा वर्तमान के लिए अहितकारी अथवा अनिष्टकारी साबित हो। बारम्बार परिवर्तन से शासन उचित रूप से नहीं चल सकता है। सरकार में द्वेष तथा दलबन्दी का उदय हो सकता है।

(३) जनता को शासन में परिवर्तन करने की बुरी आदत सी पड़ जाती है। यह प्रवृत्ति राजनीतिक तथा सामाजिक उन्नति में बाधक हो सकती है।

(४) अलिखित शासन विधान में शासकवर्ग अथवा विधान सभा अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकती है। क्योंकि कानून के निर्माताओं को अथवा विधान सभा को काफी अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि कानून के निर्माता मनमाना करने लगे तो प्रजा के अधिकार तथा उनके व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा होना संभव नहीं होगा।

(५) साथ ही साथ अलिखित शासन विधान में स्पष्टता नहीं होती है। उनमें स्पष्ट रूप से सरकार के विभिन्न अंगों के अधिकारों का विवरण भी नहीं होता है। इस कारण ऐसे संविधान में प्रजा के अधिकारों की रक्षा एवं प्रजा की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण होने का भय रहता है।

(६) ऐसे संविधान में दृढ़ता का अभाव होता है।

(७) ऐसा शासन विधान ऐसे ही देशों में सफलता प्राप्त कर सकता है जहाँ की प्रजा शिक्षित और सुसंस्कृत हो। जिस देश में राजनीतिक जागृति हो, प्रजा में विवेक तथा दायित्व की भावना हो और क्षणिक भावावेश को कार्यान्वित करने का स्वभाव न हो। इंगलैंड में ऐसा संविधान सफलीभूत हुआ है क्योंकि अंग्रेजों के रग-रग में प्रजातन्त्रात्मक भावना बसी हुई है। अर्थात् राजनीतिक शैक्षणिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में इस प्रकार के संविधान का उचित रूप से पालन नहीं हो सकेगा।

अपरिवर्तनशील, निर्मित, लिखित, अनमनीय संविधान के गुण:—(१) इस प्रकार का संविधान स्पष्ट, निश्चयात्मक दृढ़, तथा स्थायी होता है। लिखित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को इसमें पढ़कर अच्छी तरह से समझ सकता है।

(२) ऐसे संविधान अकारण बदले नहीं जा सकते हैं और न्यायाधीशों तथा शासकों द्वारा तोड़े मरोड़े नहीं जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे विधानों में प्रत्येक अंग के कार्य, उनकी सीमा, तथा उनके अधिकार निश्चित रूप से स्पष्ट किये जाते हैं।

(३) ऐसे संविधान में कार्यपालिका के अधिकार सीमित रहते हैं और साधारणतया नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रकाश डाला जाता है। इस कारण शासक-वर्ग द्वारा प्रजा के अधिकारों के अपहरण का कोई भय नहीं रहता है।

(४) ऐसे संविधान सार्वजनिक भावावेश के कारण परिवर्तन के शिकार नहीं होते हैं।

(५) कहीं-कहीं अनमनीय संविधानों में अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा भी होती है।

दोषः—(१) ऐसे संविधानों में क्रान्ति का भय होता है क्योंकि विधान इतना अपरिवर्तनशील एवं पुरागामी होता है कि जनता के बदलते हुये विचारों तथा मनोवृत्तियों का इनमें समावेश नहीं हो सकता है।

(१) इसकी अपरिवर्तनशीलता इसका नीरस और बेकार बना देती है। इससे जनता में असन्तोष की भावना की वृद्धि होती है।

(३) उत्तम से उत्तम संविधान सब काल, सब समय और सब परिस्थितियों के लिये पूर्णतया उचित नहीं हो सकता है, इसलिये संविधान में परिवर्तन होना आवश्यक है। परन्तु अपरिवर्तनशील संविधान देश और

समाज के विकास तथा उन्नति के साथ-साथ नहीं बदलता है। इससे देश, समाज तथा प्रजा की सर्वतोन्मुखी उन्नति में अपरिवर्तनशील संविधान पूर्ण-रूपेण बाधक है।

(४) यह संविधान कानून की अनेकों बारीकियां से भरा रहता है। इस कारण साधारण जनता इसे समझ नहीं सकती है।

(५) लिखित संविधान शाब्दिक जाल में फँस कर विधान के सत्य स्वरूप को भूल जाता है।

(६) कभी-कभी लिखित संविधान का निर्माण ऐतिहासिक परम्परा को ध्यान में रक्खे बिना किया जाता है। इस अवस्था में ऐसे संविधानों में अस्थायीपन आ जाता है।

(७) लोकतन्त्रात्मक संविधान के निर्माण से ही प्रजा में लोकतन्त्रात्मक भावना की जागृति नहीं होती है। लोकतन्त्रात्मक भावना का निर्माण क्रमशः प्रचार द्वारा, शिक्षा द्वारा, उदाहरण द्वारा ही किया जा सकता है। लोकतन्त्रात्मक परम्परा के निर्माण के बिना लोकतन्त्र शासन की सफलता निर्मूल आशा है। योरोप के अधिकांश नवनिर्मित विधान इसी कारण असफल हुए हैं। भारत में भी पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक संविधान बनाया गया है। आज हमारे देश में प्रजातन्त्र शासन की परम्परा नहीं है। प्रजा को ऐसे शासन द्वारा शासित होने का अभ्यास नहीं है। भारतीय प्रजा को प्रजा-तन्त्रात्मक शासकों को निर्वाचित करने का अभ्यास नहीं है। ३५ करोड़ भारतीय जनसमूह को वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया है। इसकी सफलता अथवा असफलता भविष्य के गर्भ में है। परन्तु क्या अशिक्षित निर्धन जनता अपने अधिकारों की तथा अपने स्वाधीनता की रक्षा कर सकेगी ?

आधुनिक काल में अधिकांश शासन विधान लिखित ही है। साधा-रणतया उनमें तीन अंग आवश्यक माने जाते हैं। (१) नागरिकों के

मौलिक अधिकारों का वर्णन। (२) सरकार का संगठन तथा विविध अंगों के अधिकार, उनकी सीमा इत्यादि का वर्णन। (३) संशोधन अथवा परिवर्तन करने की व्यवस्था।

एकात्मक तथा संघात्मक शासन विधानः—इन विधानों की चर्चा ग्यारहवें अध्याय में की गई है। पाठक गण ग्यारहवें अध्याय का अध्ययन इस विषय के लिये करें।

अध्याय १४

स्थानीय स्वशासन

आधुनिक राज्य विशाल होते हैं। इस कारण राज्य का शासन उचित रीति से नहीं हो सकता है। शासन की सुविधा तथा शासन कुशलता को ध्यान में रखते हुये समस्त राज्य को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटा जाता है। जिससे की प्रत्येक विभाग स्थानीय कार्यकर्ताओं द्वारा शासित हो। इन विभागों को स्थानीय सरकार कहते हैं। प्रत्येक राज्य में दो प्रकार की सरकारें होती हैं। (१) केन्द्रीय (२) स्थानीय। केन्द्रीय सरकार उन कार्यों को करती हैं जो सम्पूर्ण राष्ट्र से सम्बन्धित है, जिनमें एक नीति का होना आवश्यक है। जिनके अधिकार और जिनका शासन एक स्थान पर एकत्रित रहना आवश्यक हैं। केन्द्रीय सरकार ऐसे कार्य करती है जो राष्ट्र के सम्पूर्ण जनता के हित के लिये आवश्यक हैं। जैसे रक्षा, वाणिज्य, टकसाल, यातायात के साधन, सेना, परराष्ट्र नीति इत्यादि। स्थानीय सरकार उन कार्यों को करती है जिसमें स्थानीय विभिन्नता के कारण एक नीति नहीं रक्खी जा सकती है। अर्थात् स्थानीय सरकारें ऐसे कार्य करती हैं जो केवल स्थानीय महत्व रखते हैं। ऐसी संस्थाओं को भारत में म्युनिसिपॉलिटी, ग्रामपंचायत, लोकल बोर्ड इत्यादि कहते हैं। इंग्लैंड में ये काउण्टी और बरो तथा अमेरिका में टाउनशिप कहलाते हैं। स्थानीय सरकारें शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य का प्रबंध, रोशनी, पानी इत्यादि का प्रबन्ध करती हैं। स्थानीय सरकारें अपनी-विशिष्ट परिस्थितियों को सम्मुख रखकर कार्य करती हैं। ऐसा करने से काम अच्छा होता है और जनता भी खुश रहती है। केन्द्रीय सरकार इच्छा होने पर भी समयाभाव तथा दूरी के कारण इन्हें कर भी नहीं सकती है, क्योंकि केन्द्रीय सरकार

स्थानीय समस्याओं की आवश्यकताओं को भली प्रकार कर भी नहीं सकती हैं और उनसे उचित रीति से परिचित भी नहीं हो सकती हैं। केन्द्रीय सरकार को उन कार्यों में दिलचस्पी भी नहीं होती है। एकात्मक सरकारों में ये स्थानीय सरकारें कहलाती हैं, और संघात्मक सरकारों में ये राज्य कहलाते हैं। जैसे ग्यारहवें अध्याय में कहा जा चुका है, एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों की पहिचान केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों के सम्बन्ध द्वारा ही की जाती है।

मोटेतौर से इतना कहना उचित ही है कि न अत्यधिक केन्द्रीयकरण और न अत्याधिक विकेन्द्रीयकरण ही श्रेयस्कर है। अत्यधिक केन्द्रीयकरण से स्थानीय स्वराज्य का जोश ठंढा हो जाता है, और अत्यधिक विकेन्द्रीयकरण से स्थानीय सरकार स्वतन्त्र तथा बलवती होकर राज्य की एकता को मिटा सकती है।

स्थानीय सरकार का महत्वः—(१) स्थानीय शासन, स्थानीय कार्यकर्ताओं द्वारा ही किया जावे क्योंकि स्थानीय सरकार ही स्वतंत्रता की भावना को प्रोत्साहित कर सकती है। स्थानीय नागरिक स्वतंत्रता का उपभोग स्थानीय शासन द्वारा ही कर सकते हैं।

(२) यह आशा रखना की केन्द्रीय सरकार समस्त देश का शासन ठीक प्रकार कर सकेगी व्यर्थ है। क्योंकि सरकार के राष्ट्रीय महत्व के कार्य इतने जटिल तथा इतने अगणित हो गये हैं कि उसको छोटी-छोटी संस्थाओं की देखभाल करना, उनके आवश्यकताओं को समझना और उनकी पूर्ति करना असम्भव हो गया है। स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के कार्यभार को हलका करती है और उसके दायित्व को बाँट लेती है।

(३) केन्द्रीय शासक राष्ट्रीय मामलों में फँसे रहते हैं। वे अपने आप को केन्द्रीय शासक समझने लगते हैं। इस कारण उन्हें स्थानीय मामलों को करने की इच्छा ही नहीं रहती है, और न वे उसको करने के लिये अपने आप को उत्तरदायी समझते हैं।

(४) स्थानीय आवश्यकतायें उस स्थान के निवासी ही समझ सकते हैं, और वे वहाँ की समस्याओं को हल भी कर सकते हैं। स्थानीय कार्यकर्ता ही वहाँ का कार्य योग्यता एवं सुगमता से कर सकते हैं। बाहरी आदमी इन कार्यों को योग्य रीति से नहीं कर सकता है।

(५) स्वतः तथा प्रत्यक्ष रूप से शासन करने से ही प्रजातन्त्रात्मक भावना का उदय सम्भव है।

(६) यदि सब कार्य केन्द्र करेगा तो उसे स्थानीय शासन चलाने के लिए लाखों की तादाद में अफसर नियुक्त करने पड़ेंगे। इन अफसरों को प्रतिदिन केन्द्र से शासन के लिए आदेश भेजने पड़ेंगे। जिससे कार्य में विलम्ब होगा असुविधा होगी और धन का अपव्यय होगा। यदि केन्द्र का इन अफसरों पर उचित दबाव नहीं रह सकेगा तो ये मनमाना करने लगेंगे अथवा शासन अयोग्य रीति से होने लगेगा। सरकारी अफसर अधिकतर कायदे के कोड़े होते हैं। इस कारण भी कार्य में विलम्ब होगा। सरकारी अफसरों में जनता के प्रति सहानुभूति अथवा दायित्व की भावना की कमी होती है। उनका काम नीरस यंत्र के समान चलता है।

(७) जब स्थानीय कार्यों के लिए स्थानीय शासकों का दायित्व रहेगा तो वे धन का अपव्यय रोकेंगे धन का विचार पूर्वक व्यय करेंगे। क्योंकि प्रत्येक कार्य के लिए उनका अपना उत्तरदायित्व हो जाता है, तथा वे अनुचित कार्य अथवा अयोग्यता का दोषारोपण करके दायित्व के भार से पृथक नहीं हो सकते है। शहर तथा ग्राम इतनी छोटी जगह होती हैं कि वे अपनी जबावदारी को टाल ही सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के लिए वे प्रत्यक्ष रूप से शहर तथा ग्राम निवासियों के प्रति जबावदेह होते हैं, और इनसे प्रत्येक शासक का निकटवर्ती सम्बंध होता है। इसलिये उन्हें प्रत्येक कार्य अच्छी तरह सोच समझ कर करना पड़ता है।

(८) स्थानीय स्वराज्य की संस्थायें राजनीतिक तथा सार्वजनिक शिक्षा की प्रथम पाठशाला है। यह कथन सत्य है। स्थानीय संस्थाओं में काम

करने के बाद तथा वहाँ पर अनुभव प्राप्त करने के बाद ये अनुभवी व्यक्ति समस्त राष्ट्र का शासन भार वहन करने को लिए सुयोग्य हो जाते हैं। छोटे क्षेत्र में अपनी योग्यता अजमाने के बाद ही बड़े क्षेत्र की जिम्मेदारी वहन करने योग्य वे हो जाते हैं।

(९) इसी क्षेत्र में निर्वाचन के गुण और दोष जनता के सम्मुख आ जाते हैं। इस व्यवहारिक ज्ञान को प्राप्त करके जनता राष्ट्रीय निर्वाचन विवेक से करने लगेगी। इस प्रकार स्थानीय संस्थायें प्रजातन्त्र की प्रथम इकाई है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय संस्थाओं की अत्यधिक आवश्यकता है।

(१०) स्थानीय स्वराज्य नागरिकों में सार्वजनिक कार्य में दिलचस्पी लाता है। उनका आलस्य मिटाता है। उनकी स्वार्थ प्रकृति लापरवाही की भावना तथा उनको अधिकार तथा कर्तव्यों का ज्ञान कराती है। स्थानीय निवासियों को स्थानीय सरकार के लिये अपनत्व की भावना होती है। क्योंकि स्थानीय सरकार के प्रत्येक कार्य का नगर निवासियों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। यह भावना राष्ट्रीय सरकार के लिए नहीं आ सकती है। उसके लिए नागरिक में दूरत्व की भावना होती है। संकट काल के समय ही जनसाधारण को राष्ट्रीय सरकार का बोध होता है।

(११) नागरिक स्थानीय स्वराज्य द्वारा दूसरों के विचारों को समझना, सहयोग, विवेक, विचारशीलता, सामूहिक रीति से काम करना, दायित्व की भावना, इत्यादि गुण जिन्हें समाजिकता का प्रथम पाठ ही कहना ठीक है, सीखता है।

(१२) केन्द्रीय सरकार का दृष्टिकोण सर्वदेशीय होता है तथा स्थानीय संस्थाओं का दृष्टिकोण सार्वजनिक हित होता है। स्थानीय सरकारें ये कार्य जैसे मोटर, ट्राम दुग्धालय, बाजार इत्यादि की व्यवस्था जनता की सुविधाओं के लिए करती हैं। ये कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं किये जा सकते हैं।

स्थानीय संगठनः—स्थानीय संस्थाओं का संगठन इस प्रकार होता है। जनता के वोटों द्वारा चुनी हुई एक सभा होती है जिसे स्थानीय कमेटी, काउन्सिल अथवा बोर्ड कहते हैं। इस कमेटी का काम, उपनियम बनाना, आय-व्यय का व्यौरा तैयार करना तथा शासन सम्बन्धी नीति निर्धारित करना है।

कभी कभी कमेटी ऊँचे कर्मचारियों को भी नियुक्त करती है और उन पर नियंत्रण रखती है और बड़े-बड़े ठेके भी देती है।

शासन सम्बन्धी अन्य काम शासनाधिकारी तथा कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। काउन्सिल, मेयर अथवा चेयरमैन को नियुक्त करती है। तथा प्रत्येक विभाग की देखभाल करने के लिये भिन्न भिन्न कमेटियाँ नियुक्त करती है। ये कमेटियाँ स्थायी कर्मचारियों द्वारा काम चलाती हैं।

स्थानीय संस्थाओं के मुख्य कार्य :—(१) सार्वजनिक सुरक्षा—पाश्चात्य देशों में स्थानीय संस्थायें अपनी पुलिस रखती हैं। हिन्दुस्तान में यह प्रथा नहीं है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक सुरक्षा के ये कार्य हैं। सार्वजनिक स्थानों पर रोशनी का प्रबंध, आग लगने से बचाव और उसके लग जाने से बुझाने का प्रबंध इत्यादि।

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य—गन्दगी को दूर करना, स्वच्छ जल का प्रबंध करना, सड़ी गली वस्तुओं पर नियंत्रण रखना, मकानों को स्वास्थ्य के नियमों के अनुसार बनाना, रोगियों के चिकित्सा का प्रबंध करना, प्रसूत माताओं और शिशुओं के स्वास्थ्य रक्षा के लिये प्रसूतालय तथा शिशुगृह बनवाना, मेलों में सफाई और स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा जनता को चेचक, प्लेग, हैजे से बचाना।

(३) सार्वजनिक शिक्षा—पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय कला-भवन इत्यादि का निर्माण करना तथा प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबंध करना।

पाश्चात्य देशों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क होती है। कभी-कभी स्थानीय संस्थायें औद्योगिक शिक्षा का भी प्रबंध करती हैं।

(४) सार्वजनिक सुविधा :—यातायात के साधन जैसे—सड़क, पुल, रेलवे, ट्राम इत्यादि का प्रबंध करना। थियेटर, सिनेमा, सरकस, संगीतालय, पार्क इत्यादि की स्थापना करना। शौचालय, स्नानगृह, घाट, उद्यान इत्यादि का निर्माण करना।

(५) **सार्वजनिक सुधार व लाभ** :—सार्वजनिक सुविधा के लिए स्थानीय संस्थायें व्यापार का कार्य भी करती हैं। यह दुग्धालय, तरकारी मण्डी, मोटर ट्राम इत्यादि का निर्माण व्यापार की दृष्टि से करती है। स्थानीय संस्थाएँ नगर को सुन्दर और स्वच्छ बनाने के लिए नगर निर्माण योजनायें बनाती हैं और कार्यान्वित करती हैं। स्थानीय संस्थायें कृषिसुधार, उद्योग कलाकौशल, पशुओं की नस्ल सुधार योजनाओं को भी प्रोत्साहित करती हैं। स्थानीय संस्थायें मेलों और प्रदर्शनियों द्वारा कृषि, उद्योग, स्वास्थ्य इत्यादि विषयों पर जनता को शिक्षित करती हैं।

स्थानीय संस्थाओं को सफल बनाने के उपाय :—प्रत्येक देश का भविष्य स्थानीय सरकार पर ही निर्भर है। प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय सरकारों की सफलता स्थानीय स्वराज्य पर ही निर्भर है। स्थानीय संस्थाओं की नींव पर ही राष्ट्रीयता की नींव सुदृढ़ हो सकती है तथा इसी के आधार पर राष्ट्रीयता का सुन्दर विशाल आयोजन सम्भव है। नागरिकता की सच्ची शिक्षा यहीं प्राप्त होती है। यह काय जनमत को शिक्षित करके तथा विद्यालयों में इसका प्रचार करके ही हो सकता है। स्थानीय स्वराज्य का अपने निवासियों के प्रति इतना निकटवर्ती सम्बन्ध होता है कि वे ही राष्ट्र का नैतिक स्तर ऊँचा कर सकते हैं।

निम्नलिखित जैसे स्वार्थ त्याग, सच्चाई, पवित्र आचरण, व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सार्वजनिक हित की प्रेरणा इत्यादि गुणों को नागरिकों में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। यह कार्य प्रचार द्वारा, शिक्षा द्वारा

तथा उदाहरण द्वारा किया जाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का पड़ोसियों के प्रति, समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति सेवा भाव जागृत करना चाहिये। बच्चों को बालपन से ही स्वार्थ हित तथा वर्ग हित को भूलकर सार्वजनिक हित की ओर प्रेरणा करानी चाहिये। ये सब चरित्र निर्माण के कार्य हैं। कुटुम्ब तथा विद्यालयों का इस कार्य में पूर्ण दायित्व होना चाहिये। जिससे कि यह भावनाएँ समाज का अंग बन जाँय। यह भावनाएँ मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाँवे।

स्थानीय संस्थाओं की सफलता के लिये सचेत, चौकस, सजग जनमत का निर्माण होना आवश्यक है। यह जनमत स्थानीय अफसरों के कार्यों पर नजर रखता हुआ उनकी समालोचना करने की क्षमता रक्खे परन्तु आलोचना सुधार के उद्देश्य से ही होनी चाहिये अर्थात् आलोचना रचनात्मक होनी चाहिये केवल विनाशात्मक नहीं। जिससे कि निर्वाचित सदस्य मनमाना न करें परन्तु सदैव जन कल्याण के लिये तत्पर रहें। नागरिकों को भी विवेक से वोट देने की शिक्षा देनी चाहिये। जिससे कि वे वोट वर्ग अथवा साम्प्रदायिकता के बल पर न देकर सदस्यों के गुण तथा कार्य को देखकर, समझ कर ही दें। अन्त में इतना ही कहना काफी है कि केन्द्रीय सरकार को स्थानीय सरकार के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। परन्तु स्थानीय संस्थाओं को काफी स्वतन्त्रता देनी चाहिये। स्थानीय सरकारों में अधिक गड़बड़ी होने पर ही केन्द्रीय सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिये। ऐसा करने से स्थानीय सरकारों में दायित्व की भावना प्रचुर मात्रा में रहेगी। उपरोक्त गुणों की प्राप्ति के लिये सर्व प्रथम है शिक्षा का प्रचार। जनता यदि शिक्षित होगी तो बहकावे में नहीं आवेगी क्योंकि शिक्षा के द्वारा उनमें निर्णयात्मक बुद्धि का विकास होगा और उत्तरदायित्व की भावना की वृद्धि होगी। शिक्षित व्यक्ति सहयोग की उपयोगिता को भलीभाँति समझ सकता है। तथा शिक्षित व्यक्ति सार्वजनिक कार्य से उदासीन नहीं रह सकता है।

इसके साथ-साथ ही स्थानीय संस्थाओं के उम्मेदवार सच्चरित्र तथा नीतिवान व्यक्ति ही होने चाहिये। इसका ध्यान निर्वाचन के समय रखना चाहिये। क्योंकि सच्चरित्र व्यक्ति ही समाज सेवा कर सकता है। नीतिवान व्यक्ति ही में त्याग की भावना आ सकती है। प्रत्येक राज्य की अन्तिम आवश्यकता है जागरुक जनमत का निर्माण। प्रजातन्त्र सरकार की सफलता इसी के द्वारा सम्भव है।

अध्याय १५

मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणाली

आधुनिक युग में सभी उन्नत और सभ्य राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक पद्धति प्रचलित है। आधुनिक काल में प्रजातंत्र शासन पद्धति का आधार प्रति-निधि-निर्वाचन पद्धति है। विधान सभा के संगठन, कानून निर्माण, शासकों का निर्वाचन तथा नियुक्ति इसी पद्धति से होती है। जैसे पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक राज्यों का इतना विस्तार हो गया है कि जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन प्रबन्ध में भाग लेने में असमर्थ है। इसलिये जनता के प्रतिनिधि जनता के नाम से शासन कार्य करते हैं। राज्य का प्रत्येक भाग गाँव शहर इत्यादि के नागरिक स्वयं कानून बनाने के बजाय अपना अधिकार कुछ चुने हुये व्यक्तियों को दे देते हैं, जिनमें नागरिकों को विश्वास होता है, नागरिक जिसे समझते हैं कि राज्य शासन तथा कानून निर्माण योग्य रीति से कर सकते हैं। ऐसे चुने हुये व्यक्ति प्रतिनिधि कहलाते हैं। इस प्रकार यदि राज्य की आबादी लाखों अथवा करोड़ों की हो तभी जनता अपने में से ३०० या ४०० व्यक्तियों को प्रतिनिधि चुन लेती हैं और इन व्यक्तियों के ऊपर शासन भार देती है। ये प्रतिनिधि निर्धारित अवधि के लिये चुने जाते हैं। इस अवधि के समाप्त होने के पश्चात् निर्वाचन द्वारा अन्य प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

निर्वाचन प्रणाली द्वारा लोकतंत्रात्मक भावना की रक्षा करना सुविधा-जनक होता है। शान्ति पूर्वक प्रतिनिधि कानून बनाने का कार्य करते हैं। जनता को यह संतोष रहता है कि कानून बनाने वाले व्यक्ति हमारे चुने हुये प्रतिनिधि है, और हमारी लाभ-हानि ध्यान में रखते हुये ही वे लोग

कानून बनायेंगे। प्रतिनिधि-प्रणाली द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने बनाये हुये कानून से शासित होता है, और वास्तविक स्वराज्य का उपयोग करता है।

नागरिकों का वोट का अधिकार अथवा निर्वाचन का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार है। प्रजातंत्र राज्य की सृष्टि इसी अधिकार पर निर्भर है। नागरिक अपना मत देकर अथवा अपने मतानुसार व्यक्ति को चुन कर राज्य कार्यों पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। अपरोक्ष प्रजातन्त्र में राजकर्मचारियों को तथा व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को चुनकर अपने मत जनता को प्रकट करती है। इसी को मताधिकार कहते हैं।

चुनावः—जब समस्त जनता व्यवस्थापिका सभा को चुनने का आयोजन करती है तो उसे चुनाव अथवा निर्वाचन कहते हैं। जनता के सम्मति प्रदर्शन के कार्य को चुनाव कहते हैं।

वोटरः—जो नागरिक चुनाव में सम्मति देने का अधिकारी है वह वोटर कहलाता है।

उपचुनावः—जब व्यवस्थापिका सभा का कोई स्थान इस्तीफा देकर अथवा मृत्यु के कारण रिक्त हो जाता है और जब केवल उस रिक्त स्थान के लिए चुनाव होता है तो उसे उपचुनाव कहते हैं।

निर्वाचन क्षेत्रः—समस्त देश चुनाव के लिए छोटे छोटे राजनीतिक क्षेत्रों में बाँटा जाता है। राजनीतिक दल के अनुसार उम्मेदवार इन क्षेत्रों से खड़े होते हैं। जहाँ से उम्मेदवार चुनाव लड़ने के लिए खड़े होते हैं उस राजनीतिक विभाग को निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं।

चुनाव के दो मुख्य ध्येय होते हैं (१) उन व्यक्तियों का निर्वाचन करना जो राज्य कर्मचारी बन कर राज्य का कार्य भार वहन करने के योग्य हों। (२) सार्वजनिक नियम, कानून, राज्यकार्य इत्यादि की समालोचना करते हुये जनमत को संगठित करना तथा जनमत को दिशा दिखाना।

मताधिकार की शर्तें:—मताधिकार किसको दिया जाय यह एक महत्वपूर्ण तथा संकटमय प्रश्न हैं। मताधिकार प्राप्त करना तो आसान है परन्तु उसे योग्य रीति से निभाना उतना आसान नहीं है। राज्य के अन्दर जितने भी व्यक्ति हैं स्त्री, पुरुष, बालक, दरिद्र, अशिक्षित, पागल क्या सबों को यह अधिकार प्रदान करना चाहिये ?

यह अधिकार सबको दे देने से उन अधिकारों का दुरुपयोग ही होगा है, सदुपयोग नहीं। यह अधिकार केवल देश के नागरिकों को ही प्रदान किया गया है। समस्त प्रजा को नहीं।

मोटी तौर से कुछ शर्तें रक्खी गई हैं जिनको पूरा करने से ही मताधिकार प्राप्त हो सकता है। न्युनाधिक रित्या यह शर्तें प्रत्येक राज्य ने स्वीकार की हैं। (१) विदेशी को मताधिकार प्राप्त नहीं होता है। (२) भीखमंगों, पागलों और दिवालियों को मताधिकार प्राप्त नहीं होता है। (३) नाबालिग को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है। प्रत्येक राज्य ने मताधिकार प्राप्ति की निश्चित आयु रखी है। (४) कभी-कभी मताधिकार प्राप्ति के लिये कम से कम आमदनी की शर्त होती है। (५) कभी कभी मताधिकार के लिये प्रारम्भिक शिक्षण की प्राप्ति की शर्त भी होती है। (६) कहीं कहीं स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है। (७) देश द्रोही, खूनी इत्यादि को मताधिकार प्राप्त नहीं होता है ये व्यक्ति कर्तव्य विहीन समझे जाते हैं। तथा ये व्यक्ति समाज के शत्रु हैं, इसलिये इनको मताधिकार-से वंचित किया जाता है। अच्छे तथा योग्य व्यक्ति के निर्वाचन पर ही शासन की योग्यता तथा क्षमता निर्भर है, इसलिये यथा-सम्भव मताधिकार की ऐसी शर्तें रक्खी जाती हैं जिससे कि योग्य व्यक्तियों को ही चुनाव का अधिकार प्राप्त हो। अतः उपरोक्त मताधिकार के लिये अयोग्य समझे जाते हैं।

अधिकांश विद्वान निम्नलिखित गुणों से सुशोभित व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने के पक्ष में हैं—

(१) सब वयस्कों को अधिकार होना चाहिये ।—

(२) केवल उन्हीं को अधिकार दिया जाय जिनके पास कुछ सम्पत्ति हो ।

(३) केवल उन्हीं को अधिकार दिया जाय जो विशिष्ठ मात्रा तक शिक्षित हों ।

(४) केवल वयस्क पुरुषों को ही अधिकार देना चाहिये ।

अब इन सब का सविस्तार अध्ययन किया जायेगा ।

वयस्कमताधिकार :—कुछ विद्वानों का कथन है कि बिना किसी प्रकार के भेदभाव के जैसे धन, शिक्षा अथवा लिंग के, यह अधिकार सभी को प्राप्त होना चाहिये । उनका कहना है कि मताधिकार प्राप्त करना तो नागरिकता का प्रथम चिन्ह है । उसके बिना नागरिकता में कोई सार नहीं हैं । इन विद्वानों के अनुसार मताधिकार एक जन्म सिद्ध हक हैं—एक स्वाभाविक अधिकार है । रूसो का कथन है कि मताधिकार नैसर्गिक अधिकार है । यह तर्क इस धारणा पर आधारित है कि राज्य की सर्वभौम शक्ति जनता में ही निहित हैं । फलस्वरूप मताधिकार द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति को व्यवहार में ला सकता है । सपूर्ण जनता को यह अधिकार नहीं देने का अर्थ यही है कि जनता अपने स्वाभाविक अधिकारों से अन्यायपूर्वक वंचित की जाती है । वयस्क मताधिकार की पुष्टि करने वालों का कहना है कि जाति-पाँति, रंग-रूप, लिंग अथवा वर्ग के भेदभाव के बिना प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को यह अधिकार राज्य की ओर से निर्विवाद प्राप्त होना चाहिये । वयस्क अधिकार का अर्थ हैं स्त्री तथा पुरुषों को समान रूप से यह अधिकार प्रदान । कभी-कभी केवल वयस्क पुरुषों को यह अधिकार दिया जाता है, और स्त्रियों को इससे वंचित किया जाता है । ऐसा करना दोषपूर्ण है । शनैः शनैः स्त्रियाँ समाज के सब अंगों में बराबरी से भाग ले रही हैं । तब उन्हें राजनीतिक अधिकारों से वंचित करना

अन्यायपूर्ण हैं। क्योंकि राजनीतिक जीवन का असर समाज के प्रत्येक अंग पर पड़ता है।

वयस्कों से तात्पर्य उन सब व्यक्तियों को छोड़ कर है जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। साधारणतया वयस्क की आयु कहीं १८ वर्ष और कहीं २१ वर्ष की मानी गई है। आजकल ब्रिटेन, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्वीटजरलैंड, ब्रिटिश उपनिवेश तथा भारत में वयस्क मताधिकार स्वीकार किया गया है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में ये तर्क है :—(१) समान अधिकार तथा समान व्यवहार मनुष्य का सर्वोत्तम भूषण है। प्रजातन्त्रवाद को सफल बनाने के लिए प्रत्येक नागरिक को कम से कम राजनीतिक अधिकार, समान रूप से देने चाहिये।

(२) वयस्क मताधिकार द्वारा उच्चतम व्यक्ति चुने जायेंगे तथा प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति निर्वाचित होकर राज्यकार्य में भाग ले सकेंगे।

(३) इस प्रथा के अनुसार राष्ट्र में निष्पक्ष तथा न्याय युक्त रीति से प्रतिनिधियों का चुनाव हो सकेगा, क्योंकि यह प्रथा विशिष्ट सदस्यता के विरुद्ध है।

(४) वयस्क मताधिकार दृढ़ तथा स्वस्थ राजनीतिक जीवन की नींव डालता है। क्योंकि इसके द्वारा राजनीतिक दलों का निर्माण राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं से प्रभावित होकर होगा, वर्ग, धर्म अथवा साम्प्रदाय के हितों के रक्षण के लिए नहीं।

(५) वयस्क मताधिकार स्वतंत्रता तथा समानता पर निर्धारित है। इसके बिना प्रजातन्त्र असम्भव है।

(६) सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीतिक अधिकार आवश्यक है। सामाजिक अधिकारों का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति करता है। फिर उसे राजनीतिक अधिकारों से क्यों वंचित किया जावे ? मनुष्य जीवन

वयस्क मताधिकारी भी मतदान में कुछ सीमा तक योग्य और अयोग्य का भेद करते हैं क्योंकि वे भी नाबालिग, दिवालिया, पागल, इत्यादि को मताधिकार से वञ्चित करते हैं, अर्थात् वे भी सबको इस अधिकार के योग्य नहीं मानते हैं। वयस्क मताधिकार के विपक्षी इसका क्षेत्र थोड़ा और विस्तृत करते हैं। इसलिये सीमित मताधिकार के पक्षपाती उन्हीं व्यक्तियों को मतदान प्रदान करने के पक्ष में है जो निश्चित शिक्षा, निश्चित सम्पत्ति तथा निश्चित आयु की शर्तों को पूरा करते हों। मतदान की योग्यता अथवा अयोग्यता इन्हीं आधारों पर राज्य द्वारा निर्धारित की जाती है। शिक्षित, बालिग तथा धनवान व्यक्ति में विवेक, विचार और भावना का समतुलन तथा राष्ट्र और समाज का हित जानने और समझने की बुद्धि होने की सम्भावना अधिक है, और मतदान एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है। इस कारण सामुहिक हित की दृष्टि से इस महत्वपूर्ण कर्तव्य को योग्य व्यक्तियों के हाथ में ही सौंपना चाहिये। यह कहना केवल मूर्खता है कि प्रत्येक व्यक्ति सभी कार्यों के लिये योग्य हैं।

(२) जन साधारण को मतदान देने का अर्थ यही है कि राज्य की बागडोर निर्धन तथा अशिक्षितों के हाथ में आ जाय। क्योंकि सभी राज्यों में इनकी संख्या अधिक होती है। तात्पर्य यह है कि अनुभवी तथा विद्वानों को राज्य शासन में कोई स्थान नहीं मिल सकता है क्योंकि प्रत्येक राज्य में ऐसे व्यक्ति अल्प संख्यक होते हैं। निर्धन तथा अशिक्षित व्यक्ति बिना विचारे राज्य में अनुचित परिवर्तन करने के लिये भी तैयार हो जाते हैं। क्योंकि उनका तो कोई नुकासन ही नहीं हो सकता। अर्थात् वयस्क मताधिकार से धनवान, विद्वान, सुसंस्कृत व्यक्तियों का नुकसान होगा।

(३) वयस्कमताधिकार से योग्य व्यक्ति नहीं चुने जायेंगे इससे राज्य व्यवस्था बिगड़ जायेगी। जन सधारण में तो सोचने समझने की शक्ति नहीं होती है। वे आवेश में आकर, खुशामद में आकर झूठी आशा तथा झूठी लालच में फँसकर अयोग्य व्यक्तियों को राजा शासन के लिए

चुन लेंगे। अर्थात् अज्ञान व्यक्तियों को अच्छे भाषण द्वारा फुसलाकर अथवा झूठी-प्रतिज्ञाओं से आशा दिलाकर वोट हासिल किया जा सकता है।

(४) साधारण अशिक्षित व्यक्तियों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं होता है। जात-पाँत, धर्म, कौटुम्बिक संबंध इत्यादि विचारों से प्रभावित होकर मतदान करते हैं।

(५) पूँजीपति राज्यों में अधिकांश जनता गरीब होती हैं। पूँजीपति रुपयों की लालच दिखाकर गरीबों के मतों को खरीद लेते हैं।

(६) साधारण व्यक्ति के सम्मुख जीवन निर्वाह की समस्या उपस्थित रहती है। उसे राज्यकार्य के लिये समय नहीं रहता है। इसके अलावा आधुनिक राज्यों की समस्यायें इतनी जटिल होती हैं कि साधारण व्यक्ति उसे समझ नहीं सकता है। सरकार की आर्थिक तथा राजनीतिक समस्यायें तो बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं सुलझा पा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में साधारण व्यक्ति का मत विचारयुक्त कदापि नहीं हो सकता है।

(७) अन्त में निर्वाचन एक पवित्र कर्तव्य है। इसे विचार पूर्वक करना चाहिये। इसलिये निर्वाचन का अधिकार योग्य व्यक्तियों को ही प्रदान करना चाहिये। परन्तु अधिकांश राज्यों में वयस्क मताधिकार ही प्रचलित है।

सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार :—जिन विद्वानों ने संपत्ति की योग्यता को आवश्यक बतलाया है उनके तर्क यह हैं (१) धनवान व्यक्ति ही कायदे कानून की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि अशान्ति विप्लव इत्यादि से इनके सम्पत्ति को खतरा होता है। धनहीन व्यक्ति का तो समाज में कोई रक्षणीय हित है ही नहीं इसलिए सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में उनका कोई हित साधन नहीं होता है। धनहीन व्यक्ति सरकार को कोई कर नहीं देता है। इन सब कारणों से धनहीन व्यक्ति का मत प्रदान अविचार पूर्ण तथा दायित्व रहित हो सकता है। इस कारण

राजनीतिक जीवन को व्यवस्थित तथा शान्तिमय रखने के लिए धनवान व्यक्तियों को ही मत प्रदान करना चाहिये। (२) जो व्यक्ति कर नहीं देते हैं, उन्हें व्यवस्थापिका सभा में जाकर दूसरों पर कर लगाने का अधिकार नहीं होना चाहिये। धनहीन व्यक्ति धन का मूल्य ही क्या जाने?

विपक्षियों के तर्क :—(१) धन ही बुद्धि की कसौटी नहीं है। धनवान व्यक्ति बुद्धिमान भी हो यह आवश्यक नहीं है। यह तो प्रचलित कहावत है कि लक्ष्मी व सरस्वती एक साथ नहीं पायी जाती हैं। यह कुछ सीमा तक सत्य है। (२) अधिकतर धन पैतृक धन होता है। अधिक धन छल, बेइमानी तथा जालसाजी से ही पैदा किया जाता है। बेइमानों को मताधिकार देकर सच्चे व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित करना अन्याय है। (३) व्यवस्थापिका सभा में केवल धनियों का प्रतिनिधित्व होने से वे केवल धनवान व्यक्तियों के हित साधन का प्रयत्न करेंगे। इससे राष्ट्र में असंतोष तथा अन्त में क्रान्ति फैलने का डर होगा।

(४) निर्धन अपनी गलती के कारण निर्धन नहीं होता है। उसकी दरिद्रता का कारण उसके मां-बाप तथा समाज ही है फिर इसके लिए व्यक्ति को दण्ड देना उचित नहीं है।

(५) केवल धनवानों को मताधिकार देने से वे ऐसी ही स्थिति चिरकाल तक बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे। जिसमें उनके हितों की वृद्धि हो। अर्थात् निर्धन सदैव निर्धन ही बने रहें।

सारांश यही है कि धन को मताधिकार की कसौटी बनाना सर्वथा हानिकारक है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे अमीर हो और चाहे गरीब शान्ति सुरक्षा तथा सुयोग्य शासन चाहते हैं। इसलिये बिना भेद के सबको समान रूप से मताधिकार प्राप्त होना चाहिये।

शिक्षा के आधार पर मताधिकार

पक्ष में तर्क:—बहुत लोगों का कथन है कि केवल शिक्षित व्यक्तियों को ही मताधिकार देना चाहिये।

(१) केवल शिक्षितों को ही मताधिकार देना चाहिये अशिक्षितों को मताधिकार देने सेराज्य मूर्खों के साथ की कठपुतली बन जायेगा, और मूर्ख व्यक्ति राज्य कर्मचारियों का ठीक चुनाव नहीं कर सकेंगे।

(२) अशिक्षित मूढ व्यक्ति भावावेश से काम करते हैं। विचार और विवेक से नहीं। शिक्षितों में विवेक होता है।

(३) आधुनिक राज्यों की समस्या जटिल होती है अशिक्षित व्यक्ति उन्हें समझ नहीं सकता है। इसी कारण मिल ने कहा था कि वयस्क मताधिकार प्राप्त करने से पहले राज्य के हर बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग्य प्राप्त होना चाहिये।

(४) अशिक्षित व्यक्ति स्वार्थी व्यक्तियों की मीठी-मीठी बातों में फँसकर मत दे देंगे। इसी से देश और समाज की हानि होगी।

विपक्ष में तर्क:—(१) शिक्षा मनुष्य में विवेक लाती है। यह सत्य नहीं है। दूसरा प्रश्न है शिक्षा की सीमा क्या है? कितनी योग्यता के बाद अथवा कितनी पदवियों के बाद व्यक्ति वास्तविक अर्थ में शिक्षित कहलायेगा, और उसमें विवेक का आविर्भाव कब होगा? राज्यकार्य की समस्यायें जटिल हो गई हैं। यह सत्य है। राज्यकार्य की समस्याओं को समझने के लिये सामान्यज्ञान की आवश्यकता है। पढ़ने लिखने ही से सामान्य ज्ञान नहीं आता है इस कारण साधारण मतदाताओं को उच्च शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो राज्यकार्य समझने वाले तो बहुत ही कम होते हैं।

(२) उच्च शिक्षा बुद्धि और योग्यता की कसौटी कदापि नहीं है। कभी-कभी अशिक्षितों में व्यवाहरिक ज्ञान बहुत अधिक मात्रा में पाया

जाता है। जो शिक्षितों में भी नहीं पाया जाता है, और शिक्षित भी अयोग्य व्यक्तियों का निर्वाचन करते हुये पाये गये हैं।

(३) सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिये तथा पूर्ण विकास के लिये राजनीतिक अधिकार आवश्यक है। यदि अशिक्षित व्यक्तियों को इन अधिकारों से वंचित किया जायेगा तो उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पायेगा।

(४) मतदान राजनीतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण आधार है। मत-दान द्वारा ही नागरिक की राजनीतिक समस्याओं में अभिरुचि उत्पन्न होती हैं। मतदान मिलने से मतदाता शिक्षित होने का प्रयत्न करेगें और अपनी सन्तान को भी पढ़ायेगें। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से राज्य का लाभ होगा।

इन विचारों की समीक्षा करने से मालूम होता है कि अधिकांश राज्यों का वयस्क मताधिकार की ओर झुकाव है। और अधिकांश लोगों का विश्वास हैं कि वयस्क मताधिकार से ही देश का कल्याण है।

स्त्रियाँ और मताधिकार :—स्त्रियों को मताधिकार देनेके विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। इग्लैण्ड तथा संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में बहुत आंदो-लन के बाद स्त्रियों को १९१८ में मताधिकार प्राप्त हुआ है। आज भी हॉलैण्ड, फ्रांस, इटली इत्यादि पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त नहीं है और इन देशों में इसका पूर्णतया विरोध है।

स्त्री मताधिकार के पक्ष में दलीलें :—(१) पुरातन काल में नागरिकता शारीरिक बल से अर्थात् राज्य की रक्षा करने की क्षमता के अनुसार प्रदान की जाती थी। स्त्रियों के निर्बल होने के कारण उन्हें इस अधिकार से वंचित किया गया था। मतदान की क्षमता शारीरिक बल पर अवलंबित नहीं है। परन्तु मतदान के लिये आत्मीय तथा बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता है। यह शक्ति स्त्रियों में भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

आधुनिक रशिया तथा अन्य देशों में स्त्रियाँ हवाई जहाज चलाती हैं, खानों और फैक्टरियों में काम करती हैं तथा ट्रैक्टर भी चलाती हैं अर्थात् शारीरिक बल में भी वे पुरुषों से कम नहीं है।

(२) राज्य कार्य का प्रभाव स्त्रियों तथा पुरुषों पर समान रूप से पड़ता है। इसलिये दोनों को ही समान रूप से मत प्रदान करने का अधिककार होना चाहिये। मिल का कथन है कि राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिये मताधिकार आवश्यक है। इसलिये स्त्रियों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिये यह अधिकार देना न्यायपूर्ण तथा लाभदायक है।

(३) स्त्रियों के व्यक्तित्व के विकास के लिये उन्हें मताधिकार देना आवश्यक है। स्त्रियों को मताधिकार से वंचित करने से उनके व्यक्तित्व का ह्रास होगा, उनका व्यक्तित्व कुण्ठित होगा। इससे स्त्रियों पर अन्याय तो होगा ही और राज्य के एक बड़े तबके के व्यक्तित्व के कुण्ठित होने से देश का अकल्याण होगा। इसका असर देश के भविष्य के नागरिकों पर पड़ेगा। क्योंकि सन्तान का माता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

(४) स्त्रियां, पुरुषों के समान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम कर रही हैं। और वे काफी सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। स्त्रियाँ सरकार को कर देती हैं और पुरुषों की तरह सम्पत्ति की उत्तराधिकारी भी होती हैं। फिर उन्हें केवल एक क्षेत्र से अर्थात् राजनीतिक क्षेत्र से क्यों वंचित किया जाता है? उस क्षेत्र में असफलता की आशंका क्यों? चाँद बीबी, रानी लक्ष्मी बाई, रानी ऐलिजाबेथ आदि महिलाओं ने देश का शासन योग्यता पूर्वक किया है। फिर यह समझना सर्वथा अनुचित है कि स्त्रियाँ राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग योग्य रीति से नहीं कर सकेंगी।

(५) बहुत सी समस्याएँ ऐसी हैं जिनको स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझ सकती हैं। स्त्रियों की समस्याओं पर तो स्त्रियाँ ही भली प्रकार से रोशनी डाल सकती हैं। इसलिये स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त

होना चाहिये। यदि सरकार जनता की प्रतिनिधि है तो स्त्री और पुरुषों दोनों ही को मताधिकार प्राप्त होने चाहिये। यदि स्त्री को इस अधिकार से वंचित किया जायेगा तो सरकार केवल पुरुषों का ही प्रतिनिधित्व करेगी। इससे स्त्रियों के समस्याओं का हल भली प्रकार से नहीं हो सकेगा।

(६) जब अशिक्षित पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है तो सुशिक्षित स्त्रियों को इससे वंचित करना मूर्खता ही नहीं वरन् अन्याय पूर्ण है। क्या सुशिक्षित स्त्रियों को अशिक्षित मजदूरों से भी गौण समझना श्रेयस्कर है ?

(७) स्त्रियों को राजनीतिक तथा सार्वजनिक कार्यों में अभिरुचि नहीं होती है। यह कथन सत्य नहीं हैं। स्त्रियों को अवसर दिये बिना इसका निश्चय नहीं किया जा सकता है। पुरुषों में भी सब मतदाता राजनीतिक तथा सार्वजनिक कार्य में दिलचस्पी नहीं लेते हैं। उसी प्रकार स्त्रियों में भी होगा। इसलिए स्त्री होने के नाते, जिन स्त्रियों को समाज सेवा की ओर अभिरुचि है उन्हें भी इससे रोकना अन्याय है।

(८) अन्त में स्त्रियां अपने स्वाभाविक प्रेमभाव सहनशीलता सहानुभूति तथा दयालुभाव के कारण राजनीतिक जीवन को परिमार्जित कर सकती हैं। साधारणतया स्त्रियां शान्त जीवन को ही पसंद करती हैं। मताधिकार प्राप्त करने पर स्त्रियां विश्व में शान्ति लाने का प्रयत्न करेंगी। युद्ध और संत्रप से पीड़ित संसार के लिए स्त्रियां ही आशा की किरण हैं। यह केवल सुखमय स्वप्न नहीं है। इसका प्रयोग व्यवहारिक रूप में इंगलैंड में हो चुका है जिस समय स्त्रियों को मताधिकार दिया गया था उस समय स्त्रियों के कारण इंगलैंड का राजनीतिक वातावरण शान्त और पवित्र हो गया था।

मूलतः मातृत्व की भावना ही स्त्रियों को कुटुम्ब के सांगोपान में उद्यत करती है। वही भावना स्त्रियों को राष्ट्र तथा विश्व के संगोपान की ओर प्रवृत्त करेगी। स्त्रियां ही अपने स्वाभाविक प्रेम, सहानुभूति, सहनशीलता

तथा दयालुता द्वारा संघर्षमय राजनीति को शान्त और संघर्ष विहीन राज-नीति में परिणित कर सकेंगी।

विपक्ष में दलीलें :— (१) शारीरिक निर्बलता के कारण स्त्रियों को मताधिकार नहीं देना चाहिये, क्योंकि युद्ध के समय स्त्रियां समान रूप से राष्ट्र की सेवा नहीं कर सकती हैं। नागरिकता की सच्ची कसौटी युद्ध करने की शक्ति तथा राष्ट्र की रक्षा ही है यही नागरिक का परम कर्तव्य है।

(२) यदि कुटुम्ब पति पत्नी और सन्तान भिन्न-भिन्न दल के सदस्य होंगे तो घर की शान्ति भंग हो जायेगी। ऐसी अवस्था में घर के अन्दर तर्क वितर्क अनबन तथा झगड़ा होगा। इस दलबन्द के कारण गार्हस्थ्य सुख का अन्त होगा। स्त्रियाँ गार्हस्थ्य जीवन से उदासीन हो जायँगी और पुरुषों की वृत्ति का अनुकरण करने लगेंगी।

(३) स्त्री का कार्य क्षेत्र घर तथा बच्चों का लालन-पालन ही है। यदि स्त्रियाँ राजनीति में कूद पड़ेंगी तो गृहस्थी की देख भाल योग्यता से करने में असमर्थ होगीं। यदि सन्तान का लालन-पालन योग्य रीति से नहीं करेंगी तो राष्ट्र का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा। अच्छी नागरिकता पर ही राष्ट्र का भविष्य निर्भर है। स्त्रियों के राजनीति में भाग लेने से कुटुम्ब पद्धति का अंत होगा। इससे मानव समाज को हानि पहुंचेगी क्योंकि राष्ट्र के अभ्युदय के लिये अच्छे कुटुम्ब का महत्वपूर्ण स्थान है।

(४) राजनीतिक वातावरण स्त्रियों के सुलभ गुणों का नाश करेगा। राजनीतिक संघर्ष उनके सहानुभूति, प्रेमभाव तथा दयाभाव का नाश करेगा। अतः राजनीति के चक्कर में पड़कर उनके स्वाभाविक कोमलता का नाश होगा।

(५) स्त्रियाँ प्रकृति से भावुक होती हैं। भावावेश में आकर स्त्रियाँ अपने मताधिकार का प्रयोग विवेक से नहीं करेंगी। राज्यकार्य में विचार

और विवेक की आवश्यकता है भावना की नहीं। अधिकतर स्त्रियाँ धार्मिक सनातनी, दकियानूसी तथा प्रगति से अभिमुख रहतीं हैं। अतः स्त्रियों को मताधिकार प्रदान करने से राष्ट्र की प्रगति कुंठित हो जायेगी।

(६) स्वभावतः स्त्रियों की अभिरुचि संकुचित और सीमित होती है। उन्हें घर गृहस्थी के बाहर क्वचित ही अभिरुचि होती है स्त्रियों को मताधिकार देना व्यर्थ का दम्भ है। आधुनिकता का आडम्बर मात्र है। क्वचित् स्त्री स्वाधीन विचार वाली होती है। अधिकांश स्त्रियां पति के परामर्श से ही मतदान देंगी अर्थात् व्यवहारिक रूप से स्त्रियों के मताधिकार का अर्थ है पुरुषों के मत की पुनरावृत्ति। दूसरी ओर यदि विपरीत मतदान करती हैं तो गृहकलह में फँसकर घर के शान्त वातावरण का अंत कर देंगी।

(७) पुरुषों और स्त्रीयों के स्वार्थ में कोई अंतर नहीं होता है। इसलिये स्त्रियों को अलग मताधिकार देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रथम महायुद्ध के बाद स्त्रियों के प्रति विचारों में जमीन आस्मान का परिवर्तन हुआ है। प्रथम महायुद्ध में स्त्रियों ने अपनी योग्यता युद्ध के तथा देश के सभी क्षेत्रों में दिखा दी है। इस प्रकार अपने राष्ट्र की रक्षा में स्त्रियों ने योग्यता में पुरुषों का हाथ बँटाया है। १६१८ के बाद अधिकांश देशों में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताकिधार प्राप्त हैं। १९१६ के बाद भारत में भी स्त्रियों को सीमित मताधिकार प्रदान किया गया था। स्वाधीन भारत ने वयस्क मताधिकार देकर स्त्री और पुरुष को समान अधिकार प्रदान किया है। हमारे देश की स्त्रियों ने मन्त्रीपद, राजदूत, तथा गवर्नर इत्यादि का पद सुशोभित कर अपनी योग्यता को चरितार्थ किया है।

मत देने की विधि

गुप्तमतः—अधिकांश देशों में गुप्तमत की प्रथा चल चुकी है। निर्वाचन की तिथि समय और स्थान सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है।

प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में मतदाताओं के नाम की सूची रहती है। जब मतदाता मतदान के लिये आते हैं, तब निर्वाचन अफसर देख लेता है कि मतदाता का नाम सूची में है या नहीं। इसकी आवश्यकता इसलिये है कि कोई अनागरिक मत प्रदान न करे। एक कागज पर उम्मेदवारों के नाम लिखे रहते हैं। इस कागज को निर्वाचन पत्र अथवा Ballot paper कहते हैं। मतदाता जिस उम्मेदवार को मत प्रदान करना चाहता है उसके आगे कागज पर (×) इस प्रकार का चिन्ह लगाकर अपना मत प्रदान करता है। मतदाता निर्वाचन पत्र पर किसी जगह भी अपने नाम का उल्लेख नहीं करता है। प्रत्येक मतदाता का मत इस प्रकार गुप्त रहता है। फिर मतदाता निर्वाचन पत्र को अभीष्ट सन्दूक में डाल देता है। कहीं-कहां अलग-अलग उम्मेदवारों के लिये अलग-अलग रंग के सन्दूक होते हैं। जिससे अशिक्षित मतदाताओं को मतदान में सुविधा हो। ये सन्दूक बहुत मजबूती से बन्द किये जाते हैं। जिससे की निर्वाचन अफसर के अतिरिक्त उसे कोई खोल न सके। निर्वाचन समाप्त हो जाने पर ये मत गिन लिये जाते हैं। जिस उम्मेदवार को सबसे अधिक मत मिल जाते हैं। उसके निर्वाचित होने की विज्ञप्ति की जाती है।

गुप्तमत द्वारा मतदाता दूसरों के दबाव अथवा प्रभाव के कष्ट से बच जाता है। पहले ऐसी प्रथा नहीं थी। पहले हाथ उठाकर लोग अपना मत प्रदर्शित करते थे। इससे लोगों को मालूम पड़ता था कि किसने किसको मतप्रदान किया। इस प्रथा के अनुसार किसान जमींदार के विरुद्ध मतप्रदान करने में डरता था और अन्य व्यक्ति अपने अफसरों अथवा मालिकों के विरुद्ध मत प्रदान करने में डरते थे।

निर्वाचन क्षेत्रः—सरकार निर्वाचन की सुविधा के लिये समस्त देश को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँट देती है। जैसे शहर निर्वाचन सुविधा के लिये वार्डों में बाँटा जाता है और पाठशालाओं के निर्वाचन क्षेत्र कक्षाएँ होती हैं। निर्वाचन क्षेत्रों का विभाजन दो विधियों से होता है।

(१) देश की समस्त जनसंख्या बराबर हिस्सों में बाँटी जाती है। हर स्थान से बराबर संख्या में प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इस प्रणाली के अनुसार सरकार को सदैव जनगणना करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जनसंख्या घटती बढ़ती रहती है। (२) दूसरी प्रणाली के अनुसार देश की प्रकृतिक सीमा के अनुसार राजनीतिक विभाजन किया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक विभाजन से आबादी के अनुसार उम्मेदवार निर्वाचन के लिये खड़े होते हैं।

भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्र के अतिरिक्त अभौगोलिक निर्वाचन क्षेत्र भी होते हैं। राज्य के अन्तर्गत ऐसे विशिष्ट वर्ग, समुदाय अथवा समूह होते हैं। जिनको प्रतिनिधित्व मिलना आवश्यक है। परन्तु लघु-मत के कारण उन्हें अच्छी संख्या में प्रतिनिधित्व मिलना सम्भव नहीं होता है। ऐसे समूह, सम्प्रदाय अथवा वर्ग किसी एक स्थान में सीमित नहीं रहते हैं। समान व्यवसाय अथवा कार्य के आधार पर उन्हें एक समूह मान लिया जाता है। समस्त देश अथवा प्रान्त से उनके अलग प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं। उदाहरणार्थ भारत में विश्वविद्यालयों, श्रमजीवियों, व्यापारियों तथा जमीन्दारों को उनके कार्य के आधार पर अलग प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

एक तथा अनेक सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र :—जनसंख्या के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि व्यवस्थापिका सभा के लिये कितने प्रतिनिधि चुने जायँगे। सम्पूर्ण देश को उतने बराबर टुकड़ों में बाँट दिया जाता है। इन टुकड़ों को निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। निर्वाचन क्षेत्र अथवा निर्वाचन मण्डल दो प्रकार के होते हैं। एक सदस्यीय तथा बहुस्यीय।

(१) **एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र** :—एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र का अर्थ यह है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से व्यवस्थापिका सभा के लिये एक ही प्रतिनिधि चुना जावे। अर्थात् प्रत्येक मतदाता को एक मत देने

का अधिकार होता है और प्रत्येक मतदाता उस उम्मेदवार को मत-प्रदान करता है जिसके द्वारा उसके हितों का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व हो सकेगा।

एक सदस्यीय निर्वाचन-मण्डल के गुण :—(१) प्रत्येक निर्वाचित सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र के लिये पूर्णरूपेण उत्तरदायी होता है क्योंकि उसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं होता है। प्रत्येक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र के भवभूदी के लिये प्रयत्नशील होता है।

(२) यह प्रणाली सरल है। विशेष निर्वाचन क्षेत्र बनाकर अल्प-संख्यकों को इस प्रणाली के अनुसार सदस्यता प्राप्त करने का मौका मिलता है।

(३) यह निर्वाचन प्रणाली सुगम होती है क्योंकि मतदाताओं को सुयोग्य व्यक्ति को चुनने में कठिनाई नहीं होती है। अपढ़ व्यक्तियों को कई उम्मीदवारों को चुनना सुगम नहीं होता है। अशिक्षित मतदाता कई उम्मीदवारों को चुनने में घबड़ा उठते हैं।

(४) निर्वाचन क्षेत्र छोटे होने के कारण मतदाताओं का तथा सदस्यों का घनिष्ट सम्बन्ध व परिचय हो जाता है। इस कारण सदस्य को अपने दायित्व का बोध होता है।

(५) निर्वाचन क्षेत्र छोटा होने से निर्वाचन के समय धन कम खर्च होता है क्योंकि उम्मेदवारों को मत माँगने तथा मतदाताओं को लाने ले जाने का खर्च कम हो जाता है।

(६) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में गुटबंदी नहीं हो पाती है। क्योंकि एक ही व्यक्ति को मतदान कराना होता है।

दोष :—(१) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से सदस्यों की मनोवृत्ति संकुचित हो जाती है। सदस्य राष्ट्रीय हित को भूल कर अपने आपको निर्वाचन क्षेत्र का ही विशेष प्रतिनिधि समझने लगता है। बहुतसदस्यीय

निर्वाचन क्षेत्र में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि कोई भी सदस्य किसी क्षेत्र का अकेले प्रतिनिधित्व नहीं करता हैं।

(२) एक सदस्यीय निर्वाचन प्रणाली में जनगणना बारम्बार करनी पड़ती है। इससे राज्य को काफी धन व्यय करना पड़ता है। जनगणना करने के लिये काफी आयोजन करना पड़ता है तथा राज्य का काम बढ़ता है।

(३) इस प्रणाली में काफी मत बेकार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि एक निर्वाचन क्षेत्र में 'क' को १२० मत मिले 'ख' को ११५ तथा 'ग' को ११४ तो इस पद्धति के अनुसार 'क' निर्वाचित हो जाता है। अर्थात् इस निर्वाचन क्षेत्र में २२९ मत बेकार हो जाते हैं।

(४) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में छोटे-छोटे दल के व्यक्तियों को सदस्यता प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता है। वे सदस्यता से वंचित हो जाते हैं।

(५) राज्य कर्मचारी निर्वाचन क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार से करते हैं कि एक विशिष्ट दल ही सदैव निर्वाचन में विजयी हो सके और एक विशेपदल को ही लाभ हो, इसे Garry mandering कहते हैं।

(६) एक सदस्यीय निर्वाचन पद्धति, अनुपातिक निर्वाचन पद्धति, नियंत्रित मतप्रदान पद्धति तथा एकत्रित मतप्रदान पद्धति के लिये सर्वथा अयोग्य है।

२—बहुसदस्यीय निर्वाचन :—प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इससे देश को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित न करके बड़े-बड़े टुकड़ों में विभाजित किया जाता हैं। एक क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य भेजने की प्रणाली को बहुसदस्यीय निर्वाचन कहते है।

बहुसदस्यीय निर्वाचन के गुण :—(१) इस प्रथा ने गॅरी म्याएडरिंग [Garry mandering] का भय नहीं होता है। और प्रत्येक क्षेत्र से एक से अधिक योग्य व्यक्तियों को सदस्यता प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

(२) प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण विशाल होता है। एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के समान संकुचित नहीं होता है।

(३) जिन स्थानों में दो से अधिक राजनीतिक दल विद्यमान होते हैं, उन देशों के लिये बहुसदस्यीय-निर्वाचन पद्धति लाभप्रद है। क्योंकि इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक दल को अनुपात के अनुसार व्यवस्थापिका सभा में सदस्य भेजने का मौका मिलता है।

(४) इस प्रथा के अनुसार बारम्बार जनगणना करने के कष्ट से राज्य को छुटकारा मिलता है। राज्य के धन तथा कर्मचारियों के शक्ति का अपव्यय नहीं होता है।

(५) प्रत्येक निर्वाचक को उतने की मतदान करने का अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि उस क्षेत्र से चुने जाते हैं। किसी स्थान से आबादी के अनुपात के अनुसार यदि तीन प्रतिनिधियों का निर्वाचन होना है तो प्रत्येक निर्वाचक को तीन मतप्रदान करने का अधिकार प्राप्त होता है।

(६) निर्वाचन क्षेत्र विशाल होने के कारण प्रत्येक राजनीतिक दल को योग्य उम्मीदवारों को ढूँढ निकालने में कठिनाई नहीं होती है।

(७) इस प्रणाली में मतदाताओं के मत बेकार नहीं जाते हैं।

दोष :—(१) निर्वाचन क्षेत्र के लिये प्रतिनिधि को अपनत्व की भावना नहीं होती है।

(२) इस प्रणाली से दलबन्दी को प्रोत्साहन मिलता है। मजबूत दलबन्दी अपने प्रतिनिधियों को चुन लेती है। और बड़े से बड़े अल्पसंख्यक दल को व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता प्राप्त नहीं होती है।

परोक्ष तथा अपरोक्ष निर्वाचनः—परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में मताधिकारी व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता के लिये प्रत्यक्ष रूप से सदस्य को निर्वाचित करते हैं। अर्थात् चुनाव के अवसर पर निर्वाचक जिस उम्मेदवार को अपना प्रतिनिधि बनाना चाहते हैं उसके लिये मत प्रदान करते हैं। ये सब मत चुनाव के पश्चात् गिने जाते हैं। जिस उम्मेदवार को सबसे अधिक मत मिलते हैं उसे सदस्यता प्राप्त होती है। निर्वाचन मण्डल इसकी घोषणा करता है।

अपरोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में निर्वाचक प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुनते हैं। इस पद्धति में निर्वाचन दो बार होता है। पहली बार मताधिकारी निर्वाचक क्षेत्र से कुछ खास व्यक्तियों को चुनते हैं। इस चुनाव में जो व्यक्ति सफल होते हैं उसे मतदाता (Electors) कहा जाता है। चुनाव की इस संस्था को निर्वाचकगण (Electoral Collage) कहते हैं। निर्वाचकगण (Electoral College) के मतदाता (electors) व्यवस्थापिका सभा के प्रतिनिधियों को चुनते हैं। भारत का राष्ट्रपति एवं संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का अध्यक्ष अप्रत्यश निर्वाचन पद्धति से ही चुना जाता है। परन्तु साधारणतया व्यवस्थापिका सभा के छोटे भवन के निर्वाचन के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जाता है।

परोक्ष निर्वाचन प्रणाली के गुण व दोष

गुणः—(१) यह प्रणाली सरल सुगम तथा कमखर्चीली है **(२)** जनता चुनाव में दिलचस्पी लेती है क्योंकि धारा सभा के सदस्यों को जनता स्वयं निर्वाचित करती है। (३) धारा सभा के सदस्य मतदाताओं के प्रति प्रत्यक्ष रूप से तथा पूर्ण रूपेण उत्तरदायी होते हैं। (४) मतदाताओं क प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। मतदाताओं को सदस्यों को जानने का तथा उनके पास पहुँचने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है।

दोषः—(१) साधारण जनता अशिक्षित होने के कारण भावावेश में फँसकर अयोग्य व्यक्तियों को भी चुन लेती है। साधारण जनता में विचार तथा विवेक की मात्रा कम होती है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण एवं दोषः—

गुणः—(१) जहाँ निर्वाचन क्षेत्र विस्तृत होते हैं और जहाँ निर्वाचन क्षेत्र ठीक-ठीक संगठित नहीं होते हैं वहाँ पर यह प्रणाली अच्छी है (२) प्रतिनिधियों का चुनाव योग्य तथा शिक्षित व्यक्तियों द्वारा होता है वे बहकावे में नहीं आते हैं। परन्तु सदस्यों को सोच विचार कर चुनते हैं, अर्थात् सदस्यों का निर्वाचन मूर्खों के हाथों में नहीं रहता है। (३) यह प्रणाली आम चुनाव के अशांत वातावरण एवं राजनीतिक दलों की तनातनी से मुक्त है।

दोषः—(१) जनता तथा प्रतिनिधियों में सीधा सम्पर्क नहीं रहता है। इस कारण जनता को प्रतिनिधियों में पूरा पूरा विश्वास नहीं रहता है। (२) जनता राजनीतिक कार्यों के प्रति उदासीन हो जाती है क्योंकि धारासभा के सदस्यों के निर्वाचन में जनता का सक्रिय भाग नहीं रहता है। (३) इस प्रणाली से निर्वाचकों की संख्या कम होने के कारण घूसखोरी इत्यादि अवाञ्छनीय उपायों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने का भय होता है, क्योंकि थोड़े लोगों को धन की लालच दिखाकर अपनी ओर कर लेना आसान है। (४) यह प्रजातन्त्र भावना के विपरीत है, क्योंकि धारासभा के सदस्य जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होते हैं। (५) दो बार चुनाव करने से धन का व्यर्थ अपव्यय होता है। (६) यदि एक व्यक्ति मतदाताओं को चुनने की योग्यता रखता है तो वह प्रतिनिजियों को भी चुनने की योग्यता रख सकता है। (७) जिन स्थानों में दलबन्दी मजबूत होती है वहाँ पर राजनीतिक दल पहले ही

से प्रतिनिधियों की सूची बना लेते हैं। निर्वाचक गण (Electoral College) केवल राजनीतिक दलों की सूची की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि दूसरा चुनाव केवल एक रस्म अथवा आडम्बर मात्र होता है। निर्वाचन का वास्तविक कार्य राजनीतिक दल पहले ही से कर लेता है। (८) मताधिकारियों एवं प्रतिनिधियों के दृष्टिकोण में अन्तर होने का सदैव भय होता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि मताधिकारी किसी व्यक्ति को सदस्य बनाना चाहते हैं, किन्तु निर्वाचक गण (Electoral Collage) द्वारा कोई अन्य व्यक्ति सदस्य चुन लिया जाता है। (९) केवल स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव से मतदाताओं का दृष्टिकोण संकुचित होता है। उन्हें केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों के बारे में विचार करने तथा व्यापक राजनीतिक शिक्षा पाने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है।

राजनीतिकशास्त्र के अधिकांश विद्वान प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को अप्रत्यक्ष प्रणाली से अच्छा समझते हैं। अधिकांश राज्यों में प्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रयोग हो रहा है।

एक मत प्रणाली:—प्रत्येक देश में अल्पसंख्यकों का निर्वाचन तथा विशिष्ट दलों का निर्वाचन बड़ी भारी समस्या है। मिल का कथन है कि बहुमत द्वारा की गई सरकार की रचना अन्यायपूर्ण तथा प्रजातंत्रात्मक भावना के विपरीत है। इस प्रणाली में जिस व्यक्ति को सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं वह व्यक्ति प्रतिनिधि घोषित किया जाता है और शेष उम्मेदवार असफल या पराजित माने जाते हैं। एकमत प्रणाली के अनुसार प्रत्येक मतदाता को एक मत प्रदान करने का अधिकार होता है। अब बहुमत का अर्थ देखा जाय। एक निर्वाचन क्षेत्र से 'क' को मान लीजिये ६०५ मत मिले तथा 'ख' को ६०० मत मिले। इस प्रणाली के अनुसार 'क' प्रतिनिधि घोषित किया जायेगा। जब कि विजयी उम्मेदवार केवल नाम

मात्र के बहुमत से जीता है। फलस्वरूप ६०० मतदाताओं को अपने क्षेत्र से प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता है, और ६०० मत व्यर्थ हो जाते हैं। साथ ही साथ 'क' को बहुजन समाज का प्रतिनिधित्व करने का दावा करना निरर्थक है। दूसरा उदाहरण लीजिये। जब एक क्षेत्र से अधिक उम्मेदवार खड़े होते हैं तो इस प्रणाली के दोष स्पष्ट हो जाते हैं। मान लीजिये उम्मेदवारों को इस प्रकार मतों की प्राप्ति हुई :—

क	६००	
ख	४००	१२०६
ग	५०१	
घ	३०५	

'क' को बहुत मत प्राप्त हुआ इसलिये वह निर्वाचित घोषित किया जायेगा। परन्तु वस्तुस्थिति क्या है? इस प्रणाली के अनुसार १२०६ मत व्यर्थ गये और १२०६ जनसंख्या को धारा सभा में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ।

तीसरा उदाहरण लीजिये—कभी कभी अल्पसंख्यकों का अल्प मत होने पर भी व्यवस्थापिका सभा में बहुमत प्राप्त होता है और निर्वाचन में बहु-संख्यक दल का पराजय होता है। यह उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिये प्रान्त में ३० निर्वाचन क्षेत्र हैं और प्रत्येक क्षेत्र से एक एक प्रतिनिधि निर्वाचित होगा अर्थात् ३० प्रतिनिधि निर्वाचित होंगे। कुल मत-दाता ३५००० हैं जिसमें कांग्रेस के २०,००० मतदाता हैं और प्रजापार्टी के १५,००० हैं। परन्तु ये इस प्रकार विभाजित हैं कि प्रजापार्टी को २० क्षेत्रों में बहुमत है और प्रत्येक उम्मेदवार को ५०० मत प्राप्त होते हैं और १० क्षेत्रों में उन्हें अल्पमत प्राप्त है और प्रत्येक उम्मेदवार को ५० मत प्राप्त हैं।

प्रजापार्टी :—

२० क्षेत्रों में २०×५००=१०,०००
१० क्षेत्रों में १०×५०=५,०००

प्रजापार्टी के कुल मत = १५,०००

कांग्रेस :—

२० क्षेत्रों में २०×४५०=९,०००
१० क्षेत्रों में १०×११,००=११,०००

कांग्रेस पार्टी के कुल मत=२०,०००

उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि प्रजापार्टी के कुल मत कम होने पर भी वह २० निर्वाचन क्षेत्रों में विजय प्राप्त करती है और कांग्रेस के कुल मत बहुसंख्या में होने पर भी उसे केवल १० क्षेत्रों में सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार एकमत प्रणाली दोषपूर्ण है तथा इस प्रणाली में धारा सभा देश का वास्तविक बहुमत ही प्रतिबिम्बित करती हैं यह संशयात्मक है। इसके अलावा प्रत्येक राष्ट्र में निश्चित व्यक्तियों के समूह होते हैं जिनमें एकता की भावना कूट-कूट कर भरी होती है। जिनमें विशिष्ट गुण होता है तथा जिनका विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि ये अल्पसंख्यक कभी भी बहुसंख्यक नहीं हो पाते हैं। अथवा कुछ अल्पसंख्यकों को कदाचित बहुत वर्षों के बाद बहुसंख्यक होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय। लघुसंख्यकों के संगठन के दो मुख्य प्रकार हैं—(१) राष्ट्रीय अथवा आर्थिक सिद्धान्तों पर स्थित लघुसंख्यक (२) संस्कृति, धर्म, अथवा किसी विशिष्ट गुणों के कारण संगठित अल्पसंख्यक। उदाहरणार्थ व्यापारिक वर्ग, जमींदार, पारसी, क्रिस्तान, मुसलमान, श्रमिक वर्ग इत्यादि अल्पसंख्यक दलों के उदाहरण हैं। उपरोक्त व्यवस्था के अनुसार इन लघुसंख्यक दलों को धारा सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का कभी भी सुअवसर नहीं मिल

सकेगा क्योंकि इनका मत लघुसंख्या में है। अर्थात् इनके हितों की रक्षा नहीं हो सकेगी। नागरिक के नाते इनकी रक्षा होना आवश्यक है। प्रजातंत्र के सिद्धान्तों को देखते हुये इनको भी प्रतिनि त्व प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिये।

एकमत प्रणाली के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क

पक्ष में :—व्यवस्थापिका सभा में जनता के सब मतों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व होना चाहिये, क्योंकि इसी से जनता के हितों की रक्षा सम्भवनीय है। (२) धारा सभा में प्रत्येक दल तथा वर्ग को सदस्यता प्राप्त होनी चाहिये जिससे वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें तथा अपने विचार स्पष्टता से प्रकट कर सकें (३) प्रत्येक दल को अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये न किसी दल को अधिक और न किसी दल को कम।

विपक्ष में:—(१) व्यवस्थापिका सभा की योग्यता में कमी आ जाती है क्योंकि व्यवस्थापिका सभा में विभिन्न दल के सदस्य आ जाने से धारा सभा में तर्क वितर्क वाद-विवाद तथा संघर्ष की मात्रा बढ़ जाती है। यह वस्तु स्थिति राज्यकार्य के लिए हानिकारक है। राज्य का शान्त वातावरण नष्ट कर देती है। (२) अल्पसंख्यकों के संगठन को प्रोत्साहित करने से सरकार के कार्यों में रोड़े उपस्थित होते हैं, तथा बहुसंख्यक अपनी दलबन्दी मजबूत करने का प्रयत्न करते रहेंगे। (३) सम्मिलत दलों की सरकार में दृढ़ता नहीं होती है। वह जल्दी-जल्दी बदलती है तथा उसके नीति में अनिश्चिता होती है। इससे राष्ट्र का अहित होता है। तथा प्रजा सांशक हो जाती है। उदाहरणार्थ फ्रांस की सरकार। प्रतिनिधि सिद्धान्त का यह अर्थ ही है कि अल्प संख्यक अपने विचारों का प्रचार करके अपने सिद्धान्तों के प्रति अधिक से अधिक नागरिकों को आकर्पित करने का प्रयत्न करे। शनैः शनैः अल्प संख्यक बहुसंख्यक बन जाँय। (४) अल्पसंख्यकों के मत प्रदर्शन के जितने

साधन प्रस्तुत हैं वे सब जटिल हैं और उनमें धन का व्यय अधिक होता है। तथा इन विधियों में मत प्रदर्शन के लिए आसाधारण बुद्धि तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है जो साधारण मताधिकारी में पायी नहीं जाती है।

बहुसदस्यीय अथवा एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में एकमत प्रणाली के अनुसार बहुमत पाने वाले उम्मेदवार को धारा सभा की सदस्यता प्राप्त होती है। अर्थात् ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों को धारा सभा में उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सकता है। अल्पसंख्यक धारा सभा की सदस्यता से वंचित होने से उनके हितों की रक्षा योग्य रूप से नहीं हो सकती है। व्यवस्थापिका सभा को पूर्ण रूपेण प्रतिनिधि सभा बनाने के लिए आधुनिक काल में कई विधियों का प्रयोग किया गया है। उनका उल्लेख अब किया जायेगा। (१) कार्यात्मक प्रतिनिधित्व (२) सीमित मताधिकार (३) एकत्र-मताधिकार (४) बहुमताधिकार (५) लिस्ट प्रणाली (६) साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली (७) सुरक्षित स्थानों सहित संयुक्त निर्वाचन प्रणाली।

(१) कार्यात्मक प्रतिनिधित्वः—अधिकांश देशों में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त है। अर्थात् प्रत्येक सदस्य किसी न किसी प्रदेश का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु ये व्यक्ति किसी व्यापार, पेशा, अथवा उद्योग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनको इन विषयों का विशेष ज्ञान नहीं होता है। अर्थ तथा आर्थिक परिस्थिति महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि आर्थिक स्थिति का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। आधुनिक युग की बदलती हुई आर्थिक समस्याओं में सदैव सुधार की आवश्यकता होती है। इस विचार धारा के अनुसार कुछ विद्वान विभिन्न आर्थिक समुदायों के प्रतिनिधित्व पर जोर दे रहे हैं। प्रत्येक देशों में आर्थिक कौंसिलों के संगठन के लिए माँग पेश कर रहे हैं। इन कौंसिलों का संगठन इस प्रकार किया जावे। अलग-अलग पेशे, व्यापार तथा उद्योग अपने प्रतिनिधि कौंसिलों की सदस्यता के लिए निर्वाचन करें जिससे कि ये प्रतिनिधि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व न करें परन्तु अपने पेशे, व्यापार तथा उद्योग

में सुधार का मार्ग दिखावें। जब विभिन्न पेशे, व्यापार तथा उद्योग में काम करने वाले व्यक्ति प्रतिनिधि बन कर आयेंगे, तो उन्हें उस व्यापार, पेशे तथा उद्योग का विशेष रूप से ज्ञान होगा। ऐसे अनुभूति सम्पन्न व्यक्ति द्वारा किये गये आर्थिक सुधार, आर्थिक सुझाव और ऐसे व्यक्तियों द्वारा पास किये गये आर्थिक प्रस्ताव लाभप्रद होंगे। ऐसे अनुभूति सम्पन्न व्यक्ति द्वारा ही आधुनिक जीवन की जटिल आर्थिक समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। विद्वानों का कथन है कि आर्थिक कौंसिल ही आर्थिक मामलों में सरकार को परामर्श दे, और सरकार इस विषय में उसकी योग्यता समझते हुये उसके परामर्श को स्वीकार करे। जैसा ऊपर कहा जा चुका है। एक सदस्यीय अथवा बहुसदस्ययीय निर्वाचन प्रणाली में जहाँ एकमत प्रणाली के अनुसार प्रतिनिधित्व होता है वहाँ केवल बहुसंख्यकों को ही धारा सभा की सदस्यता का अवसर प्राप्त होता है। और लघुसंख्यक इससे वंचित होते हैं। तात्पर्य यह है कि सरकार का ऐसा संगठन असंतोषजनक प्रतीत होता है। इस प्रणाली से अल्पसंख्यकों के हितों को कुचलने का भी भय होता है। इस प्रणाली से आर्थिक अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई है।

(२) **सीमित मताधिकार** (Limited Voting):—अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देना ही इस विधि का मुख्य उद्देश्य है। इस विधि के अनुसार देश बड़े बड़े बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में बाँटा जाता है। क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार होता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कम से कम तीन सदस्य भेजे जावें। प्रत्येक मतदाता को सीमित मत देने का अधिकार है। यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से तीन प्रतिनिधि चुनने हैं तो मतदाता को केवल दो मत प्रदान करने का अधिकार होगा, यदि ५ प्रतिनिधि हैं तो मतदाता को ३ मत का अधिकार होगा और यदि ६ हैं तो मतदाता को ४ मत का अधिकार होगा। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति कितने मत प्रदान करे इसका निश्चय सरकार ही करती है। प्रत्येक मतदाता एक

उम्मेदवार को एक ही मत प्रदान कर सकता है। फलस्वरूप बहुसंख्यक दल अपने सब मतों का प्रयोग नहीं कर सकता है। बहुसंख्यक दल कुछ सीमित स्थान ही अपने दल के लिये जीत सकता है। बाकी स्थान अल्पसंख्यकों को इसलिये मिल जाते हैं क्योंकि अल्पसंख्यक अपने सब मत अपने उम्मेदवारों को ही दे देते हैं। इस प्रणाली के अनुसार अल्पसंख्यकों को कुछ स्थान प्राप्त करने की सम्भावना होती है। परन्तु अल्पसंख्यक अवश्य जीतेंगे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। इसका परिणाम इस प्रकार होता है।

तीन प्रतिनिधि निर्वाचक क्षेत्र (Three Member Constituency) में बहुसंख्यक दल दो सदस्य भेज पायेगा और अल्पसंख्यक दल एक और पाँच प्रतिनिधि-निर्वाचन क्षेत्र में बहुसंख्यक दल तीन प्रतिनिधि भेज पायेगा, और अल्पसंख्यक दल दो इत्यादि। इस प्रकार इस प्रणाली में अल्पसंख्यकों के मत सर्वथा व्यर्थ नहीं हो जाते हैं।

इस प्रणाली के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि इस प्रणाली में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिये कुछ गुंजाइश है।

विपक्ष में:—(१) इस प्रणाली में बहुसंख्यकों को उनके अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त होता है और इससे भी काफी मत खराब होते हैं। राष्ट्र के छोटे छोटे दलों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। यह विधि तभी सफल हो सकती है जब राजनीतिक दलों की संख्या कम हो।

(२) बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यकों को सक्रिय रूप से पृथक करना राष्ट्रीय एकता के लिये बाधक है। दोनों विरोधात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहना देना उनको स्थायी रूप देना राष्ट्र के लिये हानिकारक है।

(३) एकत्र मताधिकार (Cumulative Voting):—इस प्रणाली के अनुसार भी अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की व्यवस्था की गई है। इसमें भी निर्वाचन क्षेत्र बहुसदस्यीय होना आवश्यक

है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि भेजे जाने चाहिये। इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत प्रदान करनेका अधिकार है। जितने प्रतिनिधि उस क्षेत्र से भेजे जायेंगे। यदि किसी क्षेत्र से चार प्रतिनिधि भेजे जायेंगे तो प्रत्येक मतदाता चार मत प्रदान करने का अधिकारी होगा। इसमें प्रत्येक मताधिकारी को अधिकार है कि वह अपने चारों मत एक भी उम्मेदवार को देकर अपने सब मत एक ही पर केन्द्रित करें। अथवा अपना एक मत अलग-अलग उम्मेदवार को दे या अपनी इच्छानुसार किसी उम्मेदवार पर दो या तीन या चार मत केन्द्रित करे इस कारण इसे एकत्रित मतविधि कहा जाता है।

मत प्रदान इतने प्रकार से किया जा सकता है।

उम्मेदवार	मत प्रदान पहला प्रकार	मत प्रदान दूसरा प्रकार	मत प्रदान तीसरा प्रकार	मत प्रदान चौथा प्रकार
अ	१	२	३	
ब	१			४
स	१		१	
द	१	२		
	४	४	४	४

प्रत्येक मतदाता को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि प्रत्येक राजनीतिक क्षेत्र में जितने मत सरकार द्वारा प्रदान करना निश्चित किया गया है उससे अधिक मत प्रदान वह न करे। इस प्रणाली में लाभ यही है कि छोटे से छोटा अल्पसंख्यक दल कम से कम अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है, क्योंकि उस दल के समर्थक अपने सब मत एक ही उम्मेदवार को दे सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि बहुसंख्यक दलके २०९ समर्थक हैं और अल्पसंख्यक के ७५ समर्थक हैं। तथा इस निर्वाचन क्षेत्र से तीन व्यक्तियों का निर्वाचन होना है, तो प्रत्येक मतदाता

को तीन मत प्रदान करने का अधिकार प्राप्त होता है। बहुसंख्यक दल के मतदाता अपने मत जितने उम्मेदवार खड़े होंगे उनमें बाँटेंगे अर्थात् २०० वोट तीन अथवा चार उम्मेदवारों में बँट जायेंगे। परन्तु अल्पसंख्यक अपने वोट एक ही व्यक्ति पर केन्द्रित करेंगे। जिससे उनका कम से कम एक उम्मेदवार सदस्य चुना जावे। अर्थात् अल्पसंख्यकों के उम्मेदवार को इस प्रकार मत मिलेगा ७५ × ३ = २२५। इस विधि के अनुसार अल्पसंख्यकों का कमसे कम एक व्यक्ति सदस्यता प्राप्त कर सकेगा।

इस विधि का सर्वोत्तम गुण यह है कि अल्पसंख्यक दल कमसे कम अपना एक प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा में भेजने में सफल हो सकता है। इस प्रकार अल्पसंख्यकों के मत बर्बाद होने से बचते हैं।

दोष—(१) अल्पसंख्यकों के उम्मेदवार को आवश्यकता से अधिक मत प्राप्त होते हैं क्योंकि अल्पसंख्यकों के समर्थक अपने सब मत एक ही उम्मेदवार पर केन्द्रित करते हैं। इससे अल्पसंख्यक के काफी मत व्यर्थ हो जाते हैं। (२) इस विधिसे दलबन्दी को प्रोत्साहन मिलता है, तथा जनता में बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक की भावना जागृत होती है जो देश के लिये हानिकारक है। (३) बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यकों को अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता है।

(४) **बहुमताधिकार प्रणाली:**—इस विधि के अनुसार धन तथा बुद्धि को विशेष स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। प्रजातंत्र राज्य में प्रत्येक नागरिक को एक मत प्रदान करने का अधिकार होता है। नागरिक चाहे बुद्धिमान हो, मूर्ख हो, सुसंस्कृत हो चाहे अत्यधिक समाज सेवा करने वाला हो प्रत्येक को समान मताधिकार प्राप्त होता है। इसका अर्थ यही है कि प्रजातंत्र राज्य में विशेष गुण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, तथा गुणियों को राज्यशासन में अधिक स्थान देकर उनके विशेष गुणों का उपयोग नहीं किया जाता है इसको ध्यान में रखते हुये बहुमताधिकार पद्धति में धनी, बुद्धिमान आदि विशिष्ट प्रतिभा के नागरिकों को एकसे

अधिक मत प्रदान का अधिकार दिया जाता है। विशिष्ट गुण तथा प्रतिभा वाले नागरिक को अधिक से अधिक तीन मत दिये जाते हैं तथा साधारण नागरिक को एक मत प्रदान करने का अधिकार दिया जाता है। परन्तु इस प्रणाली को प्रजातन्त्र के लिये अनुपयुक्त मानकर इसका परित्याग किया गया है।

(५) एक परिवर्तनीय मत विधि (Single Transferable Vote)—ऊपर वर्णित दो विधियाँ सीमित मताधिकार तथा एकत्र मताधिकार से अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व तो मिलता परन्तु प्रत्येक दल अपने अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं करता है। इस कारण ये दोनों विधियाँ दोषपूर्ण हैं तथा पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं है। व्यवस्थापिका सभा में पूर्ण रूपसे राज्य के विभिन्न मतों को प्रतिबिम्बित करने के लिये अनुपातीय प्रतिनिधित्व प्रथा का आविष्कार किया गया है। इसके दो मुख्य रूप हैं तथा इसके मुख्य सिद्धान्त यह हैं—(१) निर्वाचन क्षेत्र बहुसदस्यीय होना चाहिये (२) कुछ गणना के बाद तय किया जाता है कि प्रत्येक उम्मेदवार को सफल होने के लिये कम से कम मत मिलने चाहिये। गणना द्वारा इसकी संख्या निश्चित की जाती है इसे 'कोटा' कहते हैं। (३) प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार होता है। परन्तु मतपत्र पर वह अपना प्रथम मत उस उम्मेदवार को देता है जिसे वह चाहता है कि निर्वाचन में सफल हो जाय। उसके नाम के आगे वह १ लिखकर प्रथम पसंद प्रदर्शित करता है। यदि किसी स्थान से चार उम्मेदवार हों तो प्रत्येक नागरिक क्रमानुसार अपनी पहली, दूसरी, तीसरी तथा चौथी पसंद मतपत्र पर प्रदर्शित करता है। (४) इस विधि के अनुसार मतों को बर्बाद होने से रोका जा सकता है। निर्वाचन लब्धि अथवा उम्मेदवार को सफल होने के लिये निश्चित संख्या अथवा कोटा के गणना की विधि:—

निर्वाचन क्षेत्र से जितने सदस्य चुने जाने चाहिये उससे, और जितने मत डाले गये हैं उसको भाग दिया जाता है। मान लीजिये किसी क्षेत्र

में ५०० मत डाले गये हैं और ५ सदस्य इस क्षेत्र से निर्वाचित होने हैं अर्थात् (डाले गये मत ५०० ÷ चुने जाने वाले सदस्य ५=१००) अर्थात् भाज्यफल १०० है। १०० को निर्वाचन लब्धि अथवा Electorl quota कहते हैं। अर्थात् प्रत्येक उम्मेदवार को सदस्यता प्राप्त करने के लिये कम से कम १०० मत प्राप्त होने चाहिये।

मान लीजिये किसी निर्वाचन क्षेत्र से तीन व्यक्ति चुने जाने चाहिये और उस क्षेत्र में उम्मेदवारों को इस प्रकार मत प्राप्त हैं। क ख ग घ ङ प्रथम गणना में निम्नलिखित मत प्राप्त हुये।

	क	ख	ग	घ	ङ
मत	१५०	९०	८०	४०	२०
लब्धि से अधिक मत प्राप्त और उनका विभाजन	५०	१०	२०	२०	
				२०	
		१००	१००	८०	

प्रथम उम्मेदवार 'क' विजयी घोषित कर दिया जाता है और उसके ५० (लब्धि से अधिक) मत इस प्रकार से ख, ग और घ के प्रथम गणना में जोड़े हैं ख को १० मत, ग को २० मत तथा घ को २० मत। इस क्रमानुसार ख तथा घ की निर्वाचन लब्धि अर्थात् १०० मत पूरे हो जाते हैं और वे भी निर्वाचित घोषित किये जाते हैं। जिन उम्मीदवारों को प्रथम गणना में कम मत प्राप्त हैं उनके मत औरों में जोड़ कर लब्धि को पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे ङ के २० मत भी जोड़ कर घ की लब्धि पूरी करने का प्रयास किया जाता है। परन्तु घ की लब्धि पूरी नहीं हो पाती है। यह क्रम तब तक चलता है जब तक सब प्रतिनिधि चुन नहीं लिये जाते हैं जितने किसी क्षेत्र से सरकार द्वारा निर्धारित किये गये हों।

इस प्रणाली को हेअर (Hare) प्रणाली भी कहते हैं क्योंकि इसका आविष्कार एक अंग्रेज जिसका नाम हेअर था उसने किया था। इसे

परिवर्तनीय (Transferable) इसलिये कहा जाता है कि इस प्रणाली में एक से अधिक मत दूसरे को परिवर्तित कर दिये जाते हैं।

एक परिवर्तनीय मत प्रणाली के गुणः—(१) इस प्रणाली में सर्वप्रम लाभ यही है कि इसमें कोई मत व्यर्थ नहीं जाते और प्रत्येक दल को राष्ट्र में अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। (२) इस प्रणाली से अल्पसंख्यकों को भी व्यवस्थापिका सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। (३) यह पद्धति न्यायोचित तथा अधिक उपयोगी है (४) कुछ विद्वानों का कथन है कि यह पद्धति पूर्ण रूपसे प्रजातंत्रात्मक है। इस प्रणाली में राजनीतिक दलों की दलबंदी बहुत घट जाती है और मत दाताओं को स्वतंत्रतापूर्क मत प्रदान करने की शक्ति बढ़ जाती है।

दोषः—(१) यह पद्धति बहुत ही जटिल है। साधारण अशिक्षित मतदाता के लिये इसका प्रयोग करना कठिन है। साधारण मतदाता के लिये पहली पसंद, दूसरी पसंद, तीसरी पसंद इत्यादि गम्भीरतापूर्वक तथा विचारपूर्वक चुनना सर्वथा असम्भव है। साधारण अशिक्षित व्यक्तियों को दस-पन्द्रह व्यक्तियों में से इस प्रकार चुनना सुगम नहीं है। परिणाम यही होगा कि अधिकांश मतदाता प्रथम पसंद तो ठीक-ठीक लगा लेंगे परन्तु अन्य पसंद में या तो निशान लगावेंगे ही नहीं और यदि लगावें भी तो समझ-बूझकर नहीं। तात्पर्य यही कि ऐसा होने से इसकी विशेषता नष्ट हो जायेगी और इसका मुख्य उद्देश्य असफल हो जायेगा। (२) यह प्रणाली अल्पसंख्यकों के संगठन को प्रोत्साहित करती हैं। यदि धारा सभा में अनेक अल्पसंख्यक दल के प्रतिनिधि आ जाँय तो स्थायी सरकारें बनना कठिन हो जाय। (३) यह प्रणाली बड़े विशाल तथा प्रत्यक्ष निर्वाचन क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नहीं है।

(६) **सूची विधि अथवा लिस्ट प्रणाली** :—इस प्रणाली में देश बड़े बड़े निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। कभी-कभी पूरा

देश ही निर्वाचन क्षेत्र मान लिया जाता है। इस प्रथा में निर्वाचन अलग-अलग उम्मेदवारों का नहीं होता है। परन्तु प्रत्येक राजनीतिक दल अपने उम्मेदवारों की सूची तैय्यार करते हैं। सूची में उतने ही उम्मेदवारों की संख्या होती है जितने प्रतिनिधि-व्यवस्थापिका सभा के लिए आवश्यक हैं। सूची में उम्मेदवारों की संख्या न अधिक होनी चाहिये और न कम। मतदाता सूचियों के लिए मत प्रदान करने के व्यक्तियों के लिए नहीं। अर्थात् व्यवस्थापिका सभा के लिए उम्मेदवार दलबन्दी के अनुसार खड़े होते हैं व्यक्तिगत विशेषता के अनुसार नहीं। सूची बनाने का भी एक विशेष क्रम होता है। सूची में सबसे उत्तम तथा श्रेष्ठ उम्मेदवार का नाम पहले फिर दुय्यम उम्मेदवार का इत्यादि। अर्थात् सूची में श्रेष्ठता तथा उत्तमता के क्रमानुसार उम्मेदवारों के नाम छापे जाते हैं। चुनाव के अंत में सब मत गिन लिए जाते हैं। मान लीजिये किसी देश के सब राजनीतिक दलों की सम्मिलित मत गणना ५००० है। मान लीजिये किसी देश में तीन राजनीतिक दल हैं, अ, ब, स और उनको इस प्रकार से मत प्राप्त हुए हैं 'अ' को २५००, 'ब' को २००० तथा 'स' को ५००। सरकार द्वारा एक ऐसी संख्या निश्चित की जाती है जिसको पाने से एक सदस्य भेजा जा सकता है। इस संख्या से विभिन्न दलों द्वारा प्राप्त मतों को विभाजित कर लिया जाता है। जो भाज्यफल निकलता है उतना ही प्रत्येक दल का प्रतिनिधित्व होता है। मान लीजिये निश्चित संख्या जिसपर एक प्रतिनिधि भेजा जा सकता है, ५० है। अर्थात् अ दल के (२५०० ÷ ५०)=५० प्रतिनिधि 'ब' दल के (२००० ÷ ५०)=४० प्रतिनिधि तथा 'स' दल के (५०० ÷ ५०)=१० प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा में भेजे जाँयेगें। प्रत्येक दल की सूची में से क्रमानुसार उतने ही प्रतिनिधि छांट लिये जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक दल के अनुमान के अनुसार प्रतिनिधि निर्वाचित होकर धारासभा में पहुँच जाते हैं।

लिस्ट प्रणाली अथवा सूची विधि के गुणः—यह प्रथा बहुत

ही सरल है । राजनीतिक दलों को अनुपात के अनुसार व्यवस्थापिका सभा में स्थान मिलता है । यह प्रथा राजनीतिक दलों को देती है ।

दोष:— प्रतिनिधि निर्वाचन क्षेत्र के प्रति अथवा देश के प्रति अपने आपको उत्तरदायी नहीं समझते हैं वे पूर्ण रीति से राजनीतिक दल के प्रति उत्तरदायी होते हैं । सुसंगठित, बलवान राजनीतिक दल सब स्थानों को देखने में सफल हो जाता है । प्रतिनिधि तथा मतदाताओं में कोई प्रत्यक्ष अथवा परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है ।

(७) **साम्प्रदायिक निर्वाचनः**—यह प्रणाली केवल हिन्दुस्तान में प्रचलित थी । १९४७ से पहले निर्वाचन साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक आधार पर था । इस प्रणाली के अनुसार प्रत्येक धर्मावलम्बी के स्थान निर्धारित किये जाते थे । मतप्रदान के अवसर पर मतदाता अपने धर्म के उम्मेदवार को ही मत प्रदान कर सकता था । उदाहरणार्थ हिन्दू मतदाता हिन्दू उम्मेदवारों को ही मतप्रदान कर सकता था, तथा मुसलमान मत-दाता मुसलमान उम्मेदवार को ही । इस प्रणाली का मुख्य सिद्धान्त था 'भेद और शासन' । इस प्रणाली के कारण हिन्दू तथा मुसलमानों में भेद-भाव की भावना की उत्पत्ति हुई । यह प्रणाली राष्ट्रीय एकता के लिये बाधक हुई अर्थात् पाकिस्तान के बीजारोपण का मूल कारण यही प्रणाली थी ।

साम्प्रदायिक निर्वाचन अथवा पृथक निर्वाचन के गुण :— इस प्रणाली का गुण यही है कि अल्पसंख्यकों को धारा सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का पूरा अवसर मिलता है । इस कारण वे निश्चिन्त तथा निःशंक हो जाते हैं ।

दोष :—(१) इसका प्रथम दोष यही है कि यह प्रणाली देश को साम्प्रदायिक निर्वाचन विभागों में बाँटती है । इससे राजनीतिक दल राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर संगठित होने के बजाय साम्प्रदायिक सिद्धान्तों पर बनने लगते

हैं । क्रमशः जनता के मनोवृत्तियों का भी झुकाव उसी ओर होने लगता है । देश के छोटे-छोटे दल तथा सम्प्रदाय भी पृथक निर्वाचन की माँग पेश करने लगते हैं । (२) यह प्रणाली विभिन्न साम्प्रदायों के बीच का सहयोग, प्रेम तथा सहानुभूति की भावना को मिटाती है । (३) जनता के उदार हृदय तथा विशाल दृष्टिकोण रखने वाले नेताओं को भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सोचना पड़ता है । जनता में धार्मिक असहिष्णुता तथा धार्मिक कट्टरता की भावना का उदय होता है । निर्वाचन के समय साम्प्रदायिक नेता झूठी अफवाहें उड़ा कर साम्प्रदायिक भावना को प्रज्वलित करते हैं । यही साम्प्रदायिक झगड़े का मूल है । इस प्रकार पृथक निर्वाचन से राष्ट्रीय दृष्टिकोण का लोप होता जाता है तथा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की वृद्धि होती जाती है । इस प्रकार संपूर्ण देश में साम्प्रदायिकता का विष फैलता है । (४) यह प्रथा राष्ट्रीयता तथा प्रजातंत्र भावना की विरोधी है । (५) यह प्रथा राष्ट्र को पृथक वर्गों में विभाजित करती है तथा सच्ची नागरिकता का अवरोध करती है । क्योंकि राजनीतिक सिद्धातों के आधार पर राजनीतिक दलों का संगठन इस प्रथा में असम्भव हो जाता है ।

पृथक निर्वाचन प्रणाली इसी विश्वास पर प्रारंभ की जाती है कि इससे अल्पसंख्यक दलों की रक्षा हो । वास्तव में अल्पसंख्यकों की रक्षा दूसरे सम्प्रदाय की सद्भावना, विश्वास, प्रेम तथा सहयोग पर ही निर्भर है ।

(८) **सुरक्षित स्थानों सहित संयुक्त निर्वाचन प्रणाली:—** हिन्दुस्तान की सर्वप्रथम समस्या थी साम्प्रदायिकता । इसी साम्प्रदायिक विष के कारण हिन्दुस्तान एक राष्ट्र बनने में असफल रहा । धारा सभा में विभिन्न साम्प्रदायों के स्थान सुरक्षित रखते हुये राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करना यही इस प्रणाली का मूल सिद्धान्त है । पृथक निर्वाचन के विनाशकारी प्रभाव को मूलतः नष्ट करने के लिये इस प्रणाली का आविष्कार हुआ । यह इस प्रकार से कार्यान्वित की जाती है—धारा सभा में प्रत्येक अल्पसंख्यक के उनके अनुपात के अनुसार स्थान सुरक्षित रक्खे जाते हैं ।

यदि हिन्दुस्तान में मुसलमानों की संख्या ३०% है तो धारा सभा में उनके ३०% स्थान सुरक्षित रक्खे जाते हैं। परन्तु प्रत्येक दल हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख इत्यादि संयुक्त निर्वाचन द्वारा ही धारा सभा की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक उम्मेदवार को (चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो) निर्वाचित होने के लिये सभी सम्प्रदायों के मतों की आवश्यकता होती है। उसके बिना वह निर्वाचित हो ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ एक मुसलमान उम्मेदवार को निर्वाचित होने के लिये हिन्दू, सिख, मुसलमान इत्यादि निर्वाचन क्षेत्र के सभी मतदाताओं के मतों की आवश्यकता होती है। चुनाव के अन्त में अनुपात के अनुसार प्रत्येक अल्पसंख्यक दल के अधिक मतप्राप्त व्यक्तियों को क्रमानुसार निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि मुसलमानों के ४० स्थान हैं तो क्रमानुसार पहले ४० मुसलमान जिन्हें अधिक मत प्राप्त हैं निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं।

सुरक्षित स्थानों सहित संयुक्त निर्वाचन से लाभः—इस प्रणाली से लाभ यही है कि लघुसंख्यकों को बहुसंख्यकों के द्वारा पराजित होने का भय नहीं रहता है। तथा अल्पसंख्यकों को सदस्यता से वंचित होने का भय भी नहीं रहता है। साथ ही साथ अल्पसंख्यकों को उनके अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इससे अल्पसंख्यक निःशंक हो जाते हैं। लघुसंख्यक तथा बहुसंख्यक दोनों ही दलों को निर्वाचित होने के लिये एक दूसरे के द्वार पर मत प्राप्त करने के लिये जाना पड़ता है। इससे विभिन्न दल तथा विभिन्न सम्प्रदाय के व्यक्तियों को एक दूसरे के प्रति सद्भावना तथा सहयोग की भावना का उदय होता है। यही भावना राष्ट्रीय एकता का बीजारोपण करती है। राष्ट्रीय एकता अथवा सुस्वस्थ राष्ट्रीय संगठन का गुरुमन्त्र पृथकता नहीं परन्तु एकता ही है। यह प्रथा देश के साम्प्रदायिक झगड़ों का अन्त करती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति निर्वाचित होने के लिये एक दूसरे पर अवलम्बित होता है। लघुसंख्यकों को पर्याप्त अथवा अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व

प्राप्त होने के कारण लघुसंख्यकों को उनकी भाषा, संस्कृति, धर्म अथवा उनके विशेष गुणों को बहुसंख्यकों द्वारा कुचलने अथवा नष्ट-भ्रष्ट होने का डर नहीं रहता है। यह प्रथा सरल है तथा अल्पसंख्यक के प्रतिनिधित्व के लिये अच्छी प्रथा है। इस निर्वाचन प्रणाली द्वारा राष्ट्र सुसंगठित तथा मजबूत हो सकता है, क्योंकि इस प्रणाली की बुनियाद परस्पर प्रेम, सहयोग तथा सहानुभूति है। यह भावना नागरिक को सच्चा नागरिक बनने में तथा राष्ट्र की एकता तथा संगठन को मजबूत बनाने में सहायक है।

अच्छे निर्वाचन विधि के गुण :—(१) मतदाता का मत गुप्त रीति से दिया जावे जिससे किसी को न मालूम हो कि मतदाता ने किसको मत प्रदान किया। इससे मतदाता अपना मत स्वतंत्र रूप से दे सकेगा तथा कोई अन्य व्यक्ति उस पर दबाव नहीं डाल सकेगा।

(२) अल्पसंख्यकों को अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये, जिससे केवल बहुसंख्यक दल अपनी संख्या के कारण चुनाव में पूर्ण विजयी होकर अल्पसंख्यकों को हानि न पहुँचा सके।

(३) निर्वाचकों तथा प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिये। जिससे प्रतिनिधि मतदाताओं के विचारों को समझ करके अपने क्षेत्र का यथार्थ प्रतिनिधित्व कर सके। इस कारण अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि हानिकारक है।

(४) किसी वर्ग विशेष को सरकार के कार्य में प्राबल्य प्राप्त नहीं होना चाहिये। इसलिए बहुमत प्रणाली का प्रयोग नहीं होना चाहिये।

(५) मतदाताओं में सरकार के प्रति अपनत्व तथा दायित्व की भावना रहनी चाहिये। मतदाताओं को यह विश्वास होना चाहिये कि यदि व्यवस्थापिका सभा उनके इच्छाओं का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व नहीं करती है तो उसे बदल सकते हैं तथा उस पर प्रभाव डाल सकते हैं।

(६) दो चुनावों के बीच सरकार को मतदाताओं के विचारों का पता लगाते रहना चाहिये। इंगलैंड तथा अमेरिका में इसका साधन उप-चुनाव है।

(७) देश के निर्वाचन में धर्म तथा साम्प्रदायिकता का आधार नहीं होना चाहिये। यह देश में विद्वेष तथा झगड़े फैला देता है।

(८) पागल, अपराधियों इत्यादि को छोड़कर वयस्कमताधिकार की प्रथा होनी चाहिये। ऐसी सरकार ही जनता का प्रतिनिधित्व कर सकेगी। यही प्रथा सच्ची प्रजातन्त्र राज्य की नींव डाल सकेगी। प्रत्येक राष्ट्र का ध्येय वस्यक मताधिकार होना चाहिये। देश की परिस्थिति के अनुसार इसे धीरे-धीरे प्रचलित करना चाहिये।

अध्याय १६

राजनैतिक दल

राजनीतिक जीवन में राजनैतिक दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। राजनैतिक दलों के अध्ययन के बिना प्रजातन्त्र राज्य के संगठन को समझना ही कठिन है। प्रत्येक देश में राजनैतिक दल पाये जाते हैं। साधारणतया देशों में दो या तीन राजनैतिक दल पाये जाते हैं। परन्तु कुछ देशों में जैसे फ्रांस में इनकी संख्या बहुत अधिक है। साधारण बोल चाल की भाषा में व्यक्तियों के किसी समूह को जो समान उद्देश्य के प्राप्ति के लिये काम करता हो उसे दल कहते हैं। इस प्रकार से प्रत्येक समाज में कई प्रकार के दल होते हैं जो भिन्न-भिन्न उद्देश्य की पूर्ति के लिये संगठित किये जाते हैं। जैसे धार्मिक उन्नति के लिये, कला साहित्य की उन्नति के लिये, बहु विवाह रोकने के लिये, अस्पृश्यता दूर करने के लिये इत्यादि अनेक प्रकार के दल बनाये जाते हैं। उसी प्रकार राजनैतिक दल उस समूह को कहते हैं जिनका समान राजनैतिक उद्देश्य हो। उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये ये देश में अपने विचारों का प्रचार करते हैं। तथा देश की सरकार को अपने विचारों के अनुसार चलाना चाहते हैं। राजनैतिक दलों का उद्देश्य राष्ट्रहित होता है स्वार्थ साधन नहीं।

राजनैतिक दलों की परिभाषाः—(१) व्यक्तियों का वह सुसंगठित समूह जो कुछ विशिष्ठ राजनैतिक व आर्थिक सिद्धान्तों पर विश्वास करता है और निर्वाचन में बहुसंख्या में सफल होकर सरकार का निर्माण करता है। और अपने सिद्धान्तों को तथा नीति को राज्यशासन में प्रयोग करने का प्रयत्न करता है।

(२) बार्क राजनैतिक दलों की परिभाषा करते हुये लिखते हैं "मनुष्यों का एक समूह जो किसी विशेष सिद्धान्तों के अनुसार अपने संयुक्त-श्रम से राष्ट्रीय हितों की उन्नति करना चाहता है।"

(३) मिनरो लिखते हैं "मनुष्यों का वह विशिष्ट समूह जो सार्वजनिक समस्याओं पर एक मत हो।" इन सब परिभाषाओं से निष्कर्ष यह निकलता है कि राजनैतिक दल (१) जनता का सुसंगठित तथा अनुशासनपूर्ण संगठन है। (२) किसी एक राजनैतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्त पर विश्वास करता है। तथा राजनैतिक इकाई की तरह काम करता है। (३) वैध तथा शान्तिपूर्ण उपायों से जनता का बहुमत अपने पक्ष में करके देश की सरकार पर अपना अधिकार करने की इच्छा रखता है तथा उसके लिये प्रयत्नशील होता है।

व्यवहारिक रूप से प्रत्येक राजनैतिक दल अपने कार्यक्रम तथा नीति और सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में पूर्णतया सफल नहीं होता है। परन्तु प्रत्येक राजनैतिक दल अपना लक्ष्य निर्धारित करता है। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि कभी-कभी परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक दलों को अपने कार्यक्रम में परिवर्तन भी करना पड़ता है। उदाहरणार्थ राज्य पर यदि एकाएक आर्थिक संकट आ जाता है तो बहुमत प्राप्त राजनैतिक दल को अपना कार्यक्रम इस नई परीस्थिति के अनुकूल बदलना पड़ता है। ऐसा करने से ही सरकार जनता की सेवा ठीक प्रकार से कर सकती है। इसके अलावा राजनैतिक समस्यायें इतनी जटिल होती जा रही हैं कि राजनैतिक दलों का अनुशासन बहुत कठोर तथा सुसंगठित होता जा रहा है। इसके बिना कार्य साधन असंभव सा प्रतीत होता है। राजनैतिक दलों का कार्य निर्वाचन के समय अत्यधिक हो जाता है। परन्तु वह उसी समय के लिये सीमित नहीं होता है। राजनैतिक दल वर्ष भर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करके जनता को उनसे परिचित कराता रहता है।

इसलिये प्रत्येक राजनैतिक दलों की शाखायें जिला, शहर, प्रान्त और राष्ट्र में फैली हुई होती हैं, और प्रत्येक स्थान में प्रत्येक दल विजय प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है। निर्वाचन के बाद बहुमत प्राप्त दल अपनी सरकार की स्थापना करता है और मतदाताओं से की हुई प्रतिज्ञाओं को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करता है। निर्वाचन पद्धति के प्रस्थापना के बाद तथा धारा सभाओं के जल्द निर्वाचन के कारण राजनैतिक दलों की आवश्यकता तथा शक्ति में बहुत वृद्धि हुई है। साथ ही राजनैतिकदल जनमत जानने का बहुत ही सुलभ साधन है। इस प्रकार राजनैतिक दलों का प्रभाव प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से जाँचा जा सकता है। साधारणतया राजनैतिक दल के नेतागण अपने दलों की नीति तथा कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। ये प्रभावशाली व्यक्ति निर्वाचन में सफल होकर सरकार के सदस्य बन जाते हैं। सभात्मक सरकार की रूढ़ि यही है कि राजनैतिक दल का नेता ही राष्ट्र का नेता अथवा प्रधान मंत्री बनता है। इससे राजनैतिकदल एवं सरकार की नीति में भेद नहीं होता है और राज्यकार्य भी सुगमता से चलता है। राजनैतिक दलों की रचना स्थायी ढंग पर की जाती है। अधिकांश राजनैतिक दलों के पास स्वतः का स्थायी कोष भी मौजूद रहता है। साथ ही साथ निर्वाचन लड़ने के तथा प्रचार करने के अनेकों साधन भी इनके पास मौजूद रहते हैं। कुछ देशों में राजनैतिक दलों का विधान पत्र भी होता है। जैसे इंग्लैंड की लेबर पार्टी।

अन्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि आजकल राजनैतिक दल केवल राजनैतिक समस्याओं के आधार पर भी संगठित नहीं होता है परन्तु इस युग में वे आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का भी प्रतिपादन करते हैं। आधुनिक युग में यह स्पष्ट है कि जीवन सामाजिक, आर्थिक तथा राज-नैतिक विभागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू की क्रिया एवं प्रतिक्रिया आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर प्रभाव डालती हैं। उसी प्रकार आर्थिक जीवन का प्रभाव सामाजिक तथा

राजनैतिक जीवन पर होता है। तात्पर्य यह है कि जीवन एक इकाई है और ये विभिन्न विभाग उसके अंग है। इस कारण आधुनिक राजनैतिक दलों के सिद्धान्त, कार्यक्रम तथा नीति, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थिति को मध्यान्तर रखते हुए बनती हैं।

इसके अलावा आधुनिक युग में राजनैतिक दल ही चुनाव लड़ते हैं योग्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं, मन्त्रिमण्डल बनाते हैं अथवा विरोधी दल का संगठन करते हैं। अर्थात् निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करने पर राजनैतिक दल सरकार बनाता है और धारा सभा में लघुमत प्राप्त दल विरोधी दल का निर्माण करके सरकार के कार्यों की आलोचना करके सरकार की स्वेच्छाचारिता में रोक टोक लगता है। आधुनिक राजनैतिक दलों के पास प्रचार की प्रचुर सामग्री मौजूद है प्रचार के समस्त साधनों को अपनाकर अर्थात् पत्रों व्याख्यानों, सभाओं तथा प्रदर्शनों द्वारा अपने उम्मेदवारों को निर्वाचन में सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। कभी २ मतदाताओं को निर्वाचन स्थल तक ले जाना तथा उम्मेदवारों के लिए मत संग्रह करने का काम भी राजनैतिक दल करते हैं।

राजनैतिक गुटः—ये राजनैसिक दलों से पृथक होते हैं। राजनैतिक दल देश प्रेम की भावना से प्रज्वलित होता है। राष्ट्र के सम्पूर्ण हित को ध्यान में रखते हुए इनके सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं। राजनैतिक गुट स्वार्थ हित अथवा निज की शक्ति अथवा हुकूमत में वृद्धि करने की गरज से बनते हैं। अर्थात् राजनैतिक दल के समान इसके सुरम्य सार्वजनिक नीति अथवा राष्ट्रीय हित का लेश मात्र भी नहीं होता है। राजनीतिक गुट का संगटन ढीला होता है। अर्थात् राजनैतिक दल व राजनैतिक गुट एक दूसरे से बिलकुल पृथक हैं। राजनीतिक गुट अपने उद्देश्यों की पूर्ति बल प्रयोग अथवा लड़ाई दंगे द्वारा करते हैं। तथा राजनैतिक दल शान्तिमय अथवा वैध उपायों द्वारा सरकार में

परिवर्तन करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति भी इन्हीं उपायों द्वारा करता है।

सम्मिलित राजनैतिक सरकार :—जब धारा सभा में कोई एक दल को पूर्ण बहुमत प्रदान नहीं होता है तब दो दल समझौता करके धारा सभा में बहुमत प्राप्त करके सरकार की स्थापना करते हैं ऐसी सरकार को सम्मिलित सरकार कहते हैं।

राजनैतिक दलों के निर्माण के आधार :—प्रत्येक राज्य में समय और परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याएँ सदैव विद्यमान रहती हैं। प्रत्येक विषय पर कतिपय दृष्टिकोण होते हैं, तथा भिन्न-भिन्न वर्ग इन समस्याओं को सुलझाने का विभिन्न उपाय सोचता है। इन विभिन्न दृष्टिकोण के समर्थक कुछ प्रभावशाली एवं विद्वान व्यक्ति होते हैं। ये व्यक्ति अपने-अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। उन विचारों वे प्रभावित होकर कुछ व्यक्ति कुछ उन विचारों को ग्रहण करते हैं। क्रमशः अपने विचारों का प्रचार करने के लिए वे संगठन बनाते हैं। राजनैतिक दल का संगठन करके ही एक सी राय रखने वाले व्यक्ति क्रियाशील हो सकते हैं। राजनैतिक दल के प्रवर्तक तथा सबल समर्थक उस दल के नेता बन जाते हैं। धीरे-धीरे अधिकाधिक व्यक्ति उस विचार धारा से सहमत होकर दल को मजबूत बनाते हैं। प्रचार द्वारा तथा आकर्षक राजनैतिक कार्यक्रम द्वारा राजनैतिक दल अपमे मतदाताओं की संख्या बढ़ाता है। संगठन ही से राजनीति दलों की शक्ति बढ़ती है, तथा नेताओं के त्याग व्यक्तित्व तथा राजनैतिक कार्य कुशलता के अनुसार ही दलों का प्रभाव बढ़ता अथवा घटता है। राजनीतिक दलों के उद्देश्य तथा समर्थक समयानुसार बदलते भी हैं। कभी-कभी कुछ व्यक्ति दल का अनुशासन न मानने के लिए दल से निकाले भी जाते हैं। राजनैतिक दल सरकार के अन्तर्गत एक बहुत ही प्रभावशाली संस्था है।

राजनैतिक दल निम्नलिखित आधार पर अथवा सिद्धान्त पर संगठित किये जाते हैं।

(१) स्वभाव की भिन्नता अथवा मनोवैज्ञानिक आधार:— शिक्षा-दीक्षा, वंशपरम्परा तथा कुटुम्ब का वातावरण सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति ही मनुष्यों के विचारों को ढालने के प्रमुख कारण हैं। इस पृष्ठभूमि के कारण ही मनुष्यों में स्वभाव की विभिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। इन्हीं मनोवैज्ञानिक आधारों को लेकर मनुष्यों को चार प्रमुख विभागों में बाँटा जा सकता है। इंगलैंड में मनोवैज्ञानिक आधार पर बने हुये दल पाये जाते हैं। सर्व प्रथम तो प्रतिक्रियावादी होते हैं। जो पुरातन सनातनी अथवा प्राचीन व्यवस्था के पक्षपाती होते हैं और उसी व्यवस्था को आदर्श मान कर उसको पुनः प्रस्थापित करने ही में देश का कल्याण समझते हैं। दूसरे वर्ग के व्यक्ति अनुदारवादी कहलाते हैं। इस विचार धारा के व्यक्ति समाज की रचना में कोई रद्दोबदल नहीं चाहते हैं। इन मनोवृत्ति का मुख्य कारण यही है कि इस श्रेणी के व्यक्तियों के पास वर्तमान व्यवस्था में सुख के सभी साधन मौजूद हैं। वे संतुष्ट और सम्पन्न हैं। इस कारण इस श्रेणी के व्यक्तियों के लिए समाज रचना में परिवर्तन वाञ्छनीय नहीं है। साधारणतया धनिक तथा सम्पन्न व्यक्तियों में ऐसी मनोवृत्ति पायी जाती है। तीसरे वर्ग के व्यक्ति उदारवादी कहलाते हैं। इस श्रेणी के व्यक्ति समान रचना में शनैः शनैः परिवर्तन लाना चाहते हैं, जिससे देश में विप्लव अथवा अव्यवस्था न हो। इस वर्ग के व्यक्ति वर्तमान समाज के दुर्गुणों को तथा कमियों को समझते हैं। और उनमें सुधार और परिवर्तन चाहते हैं। साधारणतया इस श्रेणी में मध्य वर्ग के लोग होते हैं जिनकी वर्तमान स्थिति अच्छी होती है। प्रत्येक देश में इस वर्ग की संख्या बहुत अधिक होती है। और यही वर्ग देश की संस्कृति व सभ्यता की रक्षा करता है। और उसकी परम्परा को चालू रखता है। साधारणतया यह वर्ग शिक्षित एवं विचारशील होता है। क्षणिक उत्तेजना

से भाववश अथवा उतावला नहीं होता है। चौथे वर्ग के वे व्यक्ति हैं जो वर्तमान समाज को नष्ट-भ्रष्ट करके नूतन समाज रचना के पक्षपाती हैं। इस वर्ग के व्यक्तियों को क्रान्तिकारी, उग्रवादी अथवा रेडिकल कहते हैं। ऐसे व्यक्ति वर्तमान व्यवस्था से पूर्णतया असंतुष्ट होते हैं। समाज रचना में शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज रचना में परिवर्तन करने के लिए विप्लव अथवा क्रान्ति के पक्षपाती होते हैं। अंग्रेजी में प्रतिक्रियावादी एवं अनुदारवादियों को दक्षिण पक्ष, उदारवादियों को मध्यमपक्ष, तथा उग्र अथवा क्रान्तिवादियों को वाम पक्ष के नाम से संबोधित किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी कुछ दलों की निश्चित नीति नहीं होती है अर्थात् वे कुछ विषयों में उदार और कुछ विषयों में अनुदार होते हैं।

(२) राजनैतिक आधार:—कुछ दल आन्तरिक एवं वाह्य नीति अथवा वैदेशिक नीति को अपने कार्यक्रम में प्रमुख स्थान देते हैं। उपरोक्त विषयों पर भी विभिन्न मत होते हैं। पृथक पृथक राजनैतिक दलों का इन विषयों पर अलग-अलग विचार होता है। अर्थात् कुछ दलों का संगठन राजनैतिक आधार पर ही किया जाता है। उदाहरणार्थ देश में कुछ लोग प्रजातंत्र राज्य चाहते हैं, कुछ गणतंत्र, कुछ तानाशाही अथवा कुछ राजतंत्र। इसके अतिरिक्त कुछ दल वैदेशिक क्षेत्र में युद्ध नीति पसंद करते हैं और कुछ दल अन्य देशों के साथ शान्ति का संबंध चाहते हैं और कुछ दल मैत्री का सम्बन्ध चाहते हैं। उसी प्रकार नागरिक के अधिकार एवं कर्तव्यों पर भी अलग-अलग दलों के अलग-अलग विचार होते हैं। तात्पर्य यह है कि कुछ दल राजनैतिक आधार पर ही संगठित किये जाते हैं। उसी प्रकार परतंत्र देशों में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये भी राजनैतिक दलों का संगठन किया जाता है। जैसे भारत में अखिल भारतीय कांग्रेस।

(३) आर्थिक सिद्धान्त:—आधुनिक युग में मनुष्य जीवन में आर्थिक समस्याओं का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि दिन पर दिन आर्थिक समस्यायें जटिल होती जाती हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिये

अनेकों युक्तियां प्रतिपादित की गई हैं। उदाहरणार्थ कुछ व्यक्ति चाहते हैं कि व्यक्तिगत आर्थिक प्रयत्नों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये। इसी में देश और व्यक्ति का कल्याण है। कुछ विद्वान चाहते हैं कि देश के मुख्य मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जिससे क्रमशः देश में आर्थिक समानता लायी जा सके। इन्हीं अर्थिक आधारों पर समाजवादी दल, मजदूर-दल, जमींदार दल, इत्यादि का संगठन किया गया है। समाजवादी दल का तो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है।

कुछ देशों में जाति, धर्म, भाषा इत्यादि प्रश्नों के आधार पर भी राजनैतिक दलों का संगठन होता है। परन्तु ऐसे दल देश के लिये कल्याणकारी सिद्ध नहीं हुये हैं। इनका दृष्टिकोण संकुचित तथा असहिष्णुतापूर्ण होता है। भारत में हिन्दूमहासभा एवं पाकिस्तान में मुस्लिम लीग ऐसे संगठनों के उदाहरण हैं। हिन्दुस्तान में अछूतोद्धार के सिद्धान्त को लेकर भी राजनैतिक दल बनते हैं। उसी प्रकार आर्य जाति विशेष के तत्वों के आधार पर जर्मनी के नाजी दल का संगठन हुआ था।

परन्तु इस प्रकार की दलबन्दी प्रायः लोप होती जा रही है और नागरिकों का दृष्टिकोण विशाल होता जा रहा है। धर्म, जाति, भाषा इत्यादि विषय व्यक्तिगत विषय माने जाने लगे हैं। परन्तु जिन देशों में ये समस्यायें दिन प्रतिदिन के कार्यों में अभी भी महत्व रखती हैं तथा जिन देशों में नागरिकों के सम्बन्ध इन विचारों से प्रभावित होते हैं। उन देशों में इस प्रकार की दलबन्दी अभी तक मौजूद है। अंत में इतना कहना पर्याप्त है कि आखिरकार दलबन्दी जनता के विचारों तथा समस्याओं का प्रतिबिम्ब है। अर्थात् राष्ट्र की दलबन्दी देश की समस्याओं का प्रतिबिम्ब मात्र है।

द्वितीय तथा अनेक दल प्रणालीः—संसार में दो प्रकार के राजनैतिक दल पाये जाते हैं। एक तो द्विदल प्रणाली तथा दूसरी अनेक दल प्रणाली।

द्विदल प्रणाली:—जब राष्ट्र में केवल दो या तीन राजनैतिक दल मौजूद हों तो उसे द्विदल प्रणाली कहते हैं। जैसे इग्लैंड में अनुदार दल, उदार दल तथा मज़दूर दल हैं। अमेरिका में डेमोक्राटिक एवं रिपब्लिक दल हैं। इस प्रणाली में धारा सभा में जो दल बहुमत प्राप्त करता है वह सरकार की स्थापना करता है। तथा लघुमत प्राप्त दल धारा सभा में विरोधी दल बन जाता है। विरोधी दल सरकार की आलोचना करके सरकार को निरंकुशता से रोकता है तथा सरकार को सदैव अपने कर्तव्य का बोध कराता है।

द्विदल से लाभ:—(१) राष्ट्र के समक्ष दो ही कार्यक्रम रक्खे जाते हैं, जिससे साधारण जनता को मतप्रदर्शन में सुगमता होती है। जब साधारण जनता के सम्मुख कई प्रकार के कार्यक्रम रक्खे जायेंगे तो उनको सबसे हितकर कार्यक्रम क्या है इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। (२) द्विदल राष्ट्र में सरकार दृढ़ तथा स्थिर होती है। क्योंकि बहुमत दल के पास धारा सभा में अच्छा खासा बहुमत होता है। द्विदल सरकार निर्भय होकर अपना कार्यक्रम बड़ी ही सुगमता से कार्यान्वित कर सकती है। (३) शासन उत्तरदायित्व पूर्ण एवं सुचारु रूप से चलता है क्योंकि सरकार को आये दिन अपना पद खोने का भय नहीं होता है।

द्विदल से हानि:—(१) किसी प्रश्न पर दो से अधिक मत हो सकते हैं परन्तु द्विदल प्रणाली में जनता को दो मत में से एक ही चुनना पड़ता है। (२) द्विदल पद्धति में सरकार निरंकुश हो सकती है। पूर्ण बहुमत प्राप्त करके सरकार मदान्ध हो सकती है। (३) द्विदल पद्धति में सरकार जनता के सब मतों का भलीभाँति प्रतिनिधित्व नहीं करती है। (४) द्विदल पद्धति में सरकार की नीति में सहसा बहुत अधिक परिवर्तन होता है। जो राष्ट्र के लिये कल्याणकारी नहीं होता है। उदाहरणार्थ इग्लैण्ड में मजदूर दल ने कुछ समाजवादी परिवर्तन देश में किये। परन्तु

पाँच वर्ष शासन करने के बाद अनुदार दल बहुमत पाकर सरकार की स्थापना करता है। अब अनुदार दल समाजवादी सिद्धान्त को नहीं मानता है अतः वह देश में समाजवादी सिद्धान्तों से विपरीत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके देश का शासन करता है। अतः जनता को अपनी मनोवृत्ति तथा रहन-सहन सहसा बदलने पड़ते हैं।

अनेकदलीय पद्धतिः—अनेकदलीय पद्धति की सरकार कई दलों के समझौतेसे बनती है। क्योंकि धारा सभा में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता है। अतः ५ या ६ दल आपस में समझौता करके बहुमत प्राप्त करके सरकार की स्थापना करते हैं।

अनेक दलीय पद्धति के गुणः—(१) धारा सभा में प्रत्येक दृष्टिकोण प्रतिनिधित्व पाता है। इससे बहुत लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व होने के कारण उन सबसे हितों का ध्यान रक्खा जा सकता है। कोई एक दल निरंकुश नहीं हो सकता है क्योंकि किसी एक दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता है। (३) सरकार के कार्यक्रम में बहुत गंभीर परिवर्तन का भय नहीं होता है। सरकार को प्रत्येक दल के हित का ध्यान रखना पड़ता है। अतः सरकार मध्यम मार्ग स्वीकार करती है। (४) निर्वाचक अपना मत सदैव प्रकट कर सकते हैं क्योंकि निर्वाचक अपना मत उसी दल को देगा जो उसके मतों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करेगा।

दोषः—(१) ऐसी सरकार निर्बल एवं अस्थिर होती है। समझौते से बनी सरकार बहुत जल्दी-जल्दी बहुमत खो देती है। व्यवहार में ऐसे समझौते बहुत काल तक टिक नहीं पाते हैं। चापलूसी तथा घूस खोरी से ही सरकार की स्थिरता कायम रह सकती है। हर समय सरकार बनाने के लिये तथा बनाये रखने के लिये चालाकी तथा चालबाजी का प्रयोग करना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये विभिन्न दलों के नेताओं

को एकत्रित करना पड़ता है। प्रत्येक दल को मन्त्रिमण्डल में कुछ न कुछ स्थान अथवा पद देकर ही धारा सभा में मन्त्रिमण्डल बहुमत प्राप्त कर सकता है। यह लेने देने का व्यवहार चालबाजी तथा धूर्तता से ही सफल हो सकता है। प्रत्येक मन्त्रिमण्डल अल्पसंख्यक दल को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है। क्योंकि मन्त्रिमण्डल का धारा सभा में बहुमत अथवा संतुलन अल्पसंख्यक दल उलट-पुलट सकता है। अर्थात् मन्त्रिमण्डल का भविष्य अल्पसंख्यक दलों पर ही निर्भर रहता है। इस प्रकार समझौते द्वारा बनी हुई सम्मिलितदलीय सरकार में नीति की एकता नहीं रह पाती है। कोई भी दल पूर्णरूप से उत्तरदायी नहीं होता है। कभी-कभी दलों को मन्त्रिमण्डल में आने के लिये अपने कार्यक्रम में संशोधन भी करना पड़ता है। ऐसी सरकार द्वारा लोकमत की अवहेलना का भय होता है।

एकदलीय प्रणाली :—प्रथम महायुद्ध के बाद एकदलीय राज्यों का उदय योरोप में हुआ था। उनमें विशेष उल्लेखनीय नाजी जर्मनी, फासिस्ट इटली एवं सोवियट रूस की क्रमासुसार, नाज़ी पार्टी, फासिस्ट पार्टी एवं कम्यूनिस्ट पार्टी है। राज्य में केवल एक ही दल होता है। यही एक दल राज्य का सर्वेसर्वा होता है। ये एक दल जैसे जर्मनी की नाजी पार्टी, इटली की फासिस्ट पार्टी तथा सोवियट रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी किसी भी विरोधी दल का निर्माण होने ही नहीं देती है। ऐसे राज्यों में एक दल निरंकुश हो जाता है। एकदलीय प्रणाली की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार का प्रधान और राजनैतिक दल का नेता एक ही व्यक्ति होता है। राजनीतिक दल के नेता ही राजनीति के प्रत्येक पहलू का निर्णय करते हैं। वे ही राज्य के मुख्य पदों पर आसीन होकर राज्य के प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करते हैं। राज्य की नीति एवं राजनैतिक दल की नीति में कोई अन्तर नहीं होता है। ऐसी सरकार में विरोधी दल का अभाव होता है। ऐसी सरकार में सुस्वस्थ आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता है, अथवा सरकार एवं राजनैतिक दल किसी प्रकार की समालोचना सहन नहीं

करता है। क्रमशः एकदलीय सरकार इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वह मदान्ध होकर स्वाधीन विचार एवं समाचार पत्रों की स्वाधीनता को हरण कर लेती है। ऐसी सरकारें इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि इनको बदलने के लिये क्रान्ति के अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं रह जाता है।

एकदलीय सरकार के गुण :—(१) ऐसी सरकारें दृढ़ होती हैं। इस कारण अन्तराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय मामलों में दृढ़ता एवं तत्परता से कार्य कर सकती हैं। निर्धारित नीति पर बिना बाधा अथवा रुकावट के कार्य कर सकती हैं। खास करके युद्ध के समय ऐसी सरकारें बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होती हैं। व्यर्थ के वादविवाद में अधिक समय खर्च नहीं करती हैं। इसका कार्य बहुत ही सरलता और सुगमता से होता है।

दोष :—इस सरकार की दारोमदार बलिष्ट नेता पर होती है। अक्सर देखा गया है कि राजनैतिक दल का नेता राज्य में सर्वेसर्वा बन जाता है और उसी के विचारों से राज्य-कार्य चलता है। नागरिक की वफादारी राष्ट्र की ओर न होकर राष्ट्र के विशिष्ट नेता की ओर होती है। यह विशिष्ट नेता राज्य का रक्षक माना जाता है तथा उसका आदेश सवमान्य होता है। नेता के आदेशों के विपरीत कोई सोच नहीं सकता, कोई बोल नहीं सकता है। ऐसी सरकार का बल सैनिक बल होता है लोकमत नहीं। एकदलीय सरकार शनैः शनैः लोकमत प्रचार के समस्त साधनों को अपने वश में करके जनता में एकपक्षीय मत का प्रचार करता है। जनता भय के कारण व दूसरे पत्र के विचारों से अनभिज्ञ होने के कारण नेता का अनुसरण करती है। शान्तिकाल के लिये यह सरकार सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसी सरकारें युद्ध में विश्वास करती हैं। ऐसी सरकार नाश करने का अथवा अन्त करने का केवल दो ही उपाय है क्रान्ति अथवा युद्ध।

एक व्यक्ति के हाथ में शक्ति का केन्द्रीयकरण बहुत ही विघ्नकारी तथा अनिष्टकारी है। अत्यधिक शक्ति अच्छे तथा सज्जन व्यक्ति को भी

मदान्ध बना देती है। यही मदान्धता मनुष्य के पतन का कारण है। ऐसे व्यक्ति जहाँ भी हों, जिस विभाग में भी काम करते हों, जिस समाज में रहते हों, उनका व्यवहार अहमत्व की भावना से भरा रहता है। अन्य व्यक्ति उनके अहंकार को चुपचाप सहन करते हैं, और मौका मिलने पर बदला लेते हैं। यही क्रान्ति अशान्ति और उथल-पुथल का मूल है। अतः समाज में संस्था में, कुटुम्ब में, राष्ट्र में अथवा किसी विभाग में एक ही व्यक्ति के हाथ में अत्याधिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हानिकारक एवं विघ्नसूचक है।

राजनैतिक दलों के गुण:—(१) प्रजातन्त्र के लिए दलबन्दी अनिवार्य है। सभात्मक सरकार में सरकार अथवा विरोधी दल सुसंठित दलबन्दी के बिना बन ही नहीं सकता है।

(२) सरकार का परिवर्तन शान्ति पू र्क हो सकता है तथा सरकार की हार होने पर अराजकता फैलने का भय नहीं होता है। एक दल की सरकार के पतन के बाद दूसरा दल अपनी सरकार बना लेता है। अध्यक्षात्मक सरकार में राजनैतिक दल धारा सभा तथा कार्यकारिणी के बीच का मतभेद दबाव द्वारा मिटाने का प्रयत्न करता है। धारा सभा तथा कार्यकारिणी के बीच संघर्ष उत्पन्न नहीं होने देता है। उन दोनों का संतुलन बनाये रखता है।

(३) जनता में दल द्वारा ही राजनैतिक शिक्षा का प्रचार होता है। राजनैतिक दल प्रचार द्वारा, आलोचना द्वारा जनता के सम्मुख राजनैतिक प्रश्नों तथा समस्याओं को रखता है। इससे जनता में राजनैतिक समस्याओं को समझने तथा उनपर विचार करने की शक्ति बढ़ती है। इसी विधि से लोकमत सुसंगठित होता है। राजनैतिक दल के बिना सुसंगठित बहुमत होना सम्भव नहीं। बहुमत के बिना प्रजातन्त्र सरकार बनाई नहीं जा सकती।

(४) साधारण जनता दिन प्रतिदिन की समस्याओं में व्यस्त होने के कारण राजनीतिक विषयों के प्रति उदासीन रहती है। राजनैतिक दल जनता में राजनैतिक विषयों में दिलचस्पी पैदा करता है क्योंकि निर्वाचन के समय राजनैतिक दल अपने अपने कार्यक्रम जनता के समक्ष रखते हैं। जनता उसी दल को बहुमत देती है जो उसके अनुसार अधिक से अधिक सार्वजनिक हित की पूर्ति करे।

(५) एक से अधिक राजनैतिक दल सरकार को निरंकुशता से रोकता है। विरोधी दल की आलोचना सरकार को सतर्क तथा सावधान बनाती है। विरोधी दल सार्वजनिक प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। जिससे जनता सब दृष्टिकोण से परिचित हो जाती है। विरोधी दलों की आलोचना ही सरकार को अपनी भूलें ठीक करने में सहायक होती है।

(६) सुसंगठित राजनैतिक दल के सहयोग ही से सरकार दृढ़ तथा मजबूत बन सकती है। धारा सभा में राजनैतिक दल का बहुमत ही सरकार की मजबूती का कारण है। इस बहुमत के कारण सरकार निशंक होकर शासन कर सकती है।

(७) राजनैतिक दल अपने सदस्यों के गौणमत भेदों को दबाकर महत्व-पूर्ण सिद्धान्तों पर सहयोग करना सिखाता है।

(८) बड़े राजनैतिक दल सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करके राष्ट्र के उत्थान का प्रयत्न करता है। जैसे भारत में कांग्रेस ने हरिजन उद्धार, स्त्री शिक्षा इत्यादि पर जोर दिया। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दल देश की आर्थिक, वैज्ञानिक उन्नति के लिए प्रयोगशालायें स्थापित करता है। ये समस्याओं के वास्तविक कारण, तथा देश की उन्नति के विषय में विचार करते हैं।

(९) राजनैतिक दल जनता की सेवार्थ अथवा किसी विशेष समस्या का निवारण करने के लिए स्वयंसेवक अथवा रक्षक दलों का भी संगठन

करते हैं। राजनैतिक दल अपने सदस्यों में अनुशासन संयम इत्यादि गुणों का भी विकास करने का प्रयत्न करते हैं।

(१०) राजनैतिक दल जनता के संकुचित दृष्टिकोण को हटाकर उन्हें विशाल दृष्टिकोण से सोचने की प्रेरणा देते हैं।

राजनैतिक दलों के दोषः—(१) दलबन्दी मनुष्य के दृष्टिकोण को संकुचित कर देती हैं। कभी-कभी सदस्य राष्ट्रहित को भूल कर राजनैतिक दल के हित को उच्च स्थान देते हैं। दलबन्दी प्रथा से मनुष्य निष्पक्ष भाव से विचार नहीं करता है। निर्वाचन में येनकेन प्रकारेण बहुमत पाने के लिए सदस्य उच्च ध्येय तथा विज्ञान सिद्धान्तों को भूल जाते हैं।

(२) दलबन्दी व्यक्तित्व का ह्रास करती है। (अ) नागरिक अधिकाधिक दल पर निर्भर होकर स्वतः विचार करने की शक्ति खो देता है प्रत्येक प्रश्न के दोष और गुण को स्वतन्त्र रूप से न देख कर दल के मत से सहमत होने की प्रवृत्ति सदस्यों में आने लगती है। (ब) दल का साधारण सदस्य दल के मतों की पुष्टि करने का एक निर्जीव यन्त्र बन जाता है। दलों के अनुशासन के अनुसार कोई सदस्य दल के मतों के विपरीत मत धारण नहीं कर सकता है। (स) व्यवहार में ऐसा भी देखा गया है जैसे संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में है कि दल के प्रमुख नेता गुट बनाकर दल को अपने स्वार्थ हित पूर्ति का स्रोत बना लेते हैं। इससे सार्वजनिक हित की हानि होती है। दलबन्दी की प्रथा प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

(३) कभी-कभी दलों में अयोग्य अविचारी तथा चालबाज व्यक्तियों की प्रभुता हो जाती है। विचारवान, तेजवान तथा बुद्धिमान व्यक्ति इस गुटबन्दी की दासता स्वीकार नहीं कर सकते हैं। परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्तियों को राजनीति में भाग लेना असम्भव हो जाता है। राज्य के प्रमुख स्थान दल के पिट्ठुओं को उनकी निष्ठा तथा भक्ति के लिए पारितोषिक स्वरूप दिये जाते हैं। ऐसे वातावरण में विचारवान तथा स्वतन्त्र विचार

वाले व्यक्ति ठहर नहीं सकते हैं। इससे उन्हें राजनैतिक दल की सदस्यता त्यागनी पड़ती है। इससे देश और राष्ट्र का अहित होता है।

(४) कभी-कभी दल बहुमत प्राप्ति की लालसा से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्त बनाता है। लोकहित का उसे सर्वथा विस्मरण हो जाता है। राजनैतिक दल के नेता बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञायें करते हैं जो अव्यववारिक होती है। कभी-कभी इन प्रतिज्ञाओं को सकार रूप देने की उनकी सच्ची कामना भी नहीं होती है। बहुमत प्राप्त करने के लिए चालबाजी मात्र है। राजनैतिक दलों के पक्षपात पूर्ण प्रचार से जनता को किसी विषय का सत्य और वास्तविक स्वरूप का पता ही नहीं चलता है। (५) प्रत्येक दल के सदस्य एक दूसरे की ओर सांशक दृष्टि से देखते हैं। प्रत्येक विषय को न्याय पूर्ण दृष्टि से न देख कर राजनैतिक दल के दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। इस प्रकार जनता का दृष्टिकोण विकृत और एकांगी हो जाता है। विचार सन्तुलन जाता रहता है। दलबन्दी का विष स्थानीय संस्थाओं (म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) में भी फैल जाता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आधार पर संगठित राजनैतिक दल स्थानीय संस्थाओं की ठीक-ठीक सेवा नहीं कर सकता है। स्थानीय संस्थाओं में ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिनको स्थानीय विषयों में दिलचस्पी हो तथा स्थानीय कार्यों के लिए आत्मीयता की भावना हो।

(६) धारा सभा युद्ध भूमि का रूप धारण करती है। राजनैतिक दलों के कारण जनता विभिन्न दलों में विभक्त हो जाती है। दल का स्वरूप उग्र होने लगता है। सदस्य राष्ट्रीय कर्तव्य को भूल कर दलबन्दी तथा दल के प्रति भक्ति में फँसकर देश का अनिष्ट करते हैं। इस प्रकार दलबन्दी के कारण पक्षपात, रिश्वतखोरी, बेईमानी आदि भी फैलती हैं। दलबन्दी को चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। कभी-कभी दल के नेता अनुचित मार्ग से भी धन का संचय

करते हैं। राजनीतिक दलों में मतभेद, व्यर्थ का वाद-विवाद इत्यादि भी चलता है जिससे समय, धन तथा शक्ति का व्यर्थ व्यय होता है। (७) (अ) दलबन्दी के कारण अयोग्य व्यक्ति भी शासक बन बैठते हैं (ब) यदि राजनैतिक दल की संख्या अधिक होती है तो सुदृढ़ सरकार नहीं बन पाती है। क्योंकि विधानमण्डल में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता है। फ्रांस के अधःपतन का एक प्रमुख कारण बहुदलीय सरकार ही है। (स) दलबन्दी से प्रेरित होकर सरकार में बहुमत दल के नेताओं को ही सम्मिलित किया जाता है। विरोधी दल के योग्य व्यक्तियों को राष्ट्र की सेवा करने से वंचित किया जाता है। अर्थात् दलबन्दी में फंसकर सरकार योग्य व्यक्तियों के सहयोग से लाभ नहीं उठाती है।

अन्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि दलबन्दी मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करती है। दलबन्दी के कारण बहुधा प्रेम, सहयोग, मेलजोल, ईमानदारी, इत्यादि भावनायें जाग्रत न होकर द्वेष, ईर्षा, संघर्ष इत्यादि असामाजिक प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहित होती हैं। राष्ट्र दो या अधिक शत्रु दल में विभाजित हो जाता है। प्रत्येक दल दूसरे दल को नीचा दिखाने, उनपर आरोप लगाने तथा उनपर अयोग्यता, बेईमानी, स्वार्थपरता का टीका लगाने के कार्य में व्यस्त रहता है। अर्थात् दलबन्दी व्यक्ति को दूसरे दल के व्यक्ति की अच्छाइयों की ओर से आँख बन्द करना सिखलाती है। अर्थात् दूसरे दल के व्यक्तियों के छिद्र देखना ही सदस्यों का मुख्य कर्तव्य सा हो जाता है। बहुत सीमित अंश में इसका नमूना प्रत्येक संस्था, प्रत्येक समुदाय में विद्यमान है क्योंकि मनुष्य के स्वार्थ, इच्छा एवं अभिलाषा की पूर्ति की कोई निर्धारित सीमा नहीं है। प्रत्येक संस्था समुदाय व राजनैतिक दल में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके स्वार्थ की पूर्ण रूप से पूर्ति नहीं हो पाई है अथवा प्रत्येक मनुष्यकृत संस्था में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें अहमत्व की मात्रा अत्यधिक होती है और जो समझते हैं कि उनकी योग्यता एवं 'त्याग' का उन्हें पूरा पूरा पुरस्कार नहीं मिला

है। व्यवहारतः सुयोग्य, उदार एवं सज्जन व्यक्ति भी सबको पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकता है। उपवर्णित स्वार्थी व्यक्ति येन केन प्रकोरण अपना विष फैलाकर संस्था अथवा समुदाय का वातावरण दूषित करते हैं। यह संघर्षात्मक कुप्रवृत्ति ही संस्था, समुदाय एवं राजनैतिक दल के विनाश का कारण बन जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा अपने दल के दोषों को छिपा कर अपनी धूर्त बुद्धि द्वारा उसपर सफेदी पोतने का प्रयत्न करता है। इसी कारण राष्ट्रों का नैतिक व चारित्रिक अधःपतन सत्वरता से हो रहा है।

उपरोक्त बुराइयों के मुख्य कारण ये मालूम देते हैं आर्थिक कष्ट, ध्येय रहित, जीवन, स्वाधीनता शब्द का गलत प्रयोग, असीमित अभिलाषा, प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक कार्य के लिये अपने आपको योग्य समझना, समानता शब्द का दुरुपयोग, स्वार्थपरता, सामाजिक हित को भूलकर स्वार्थ हित को उच्च स्थान देने की प्रवृत्ति तथा अनादर भावना का अत्यधिक प्रचार।

दलबन्दी में दोष तो हैं ही इसलिये कुछ व्यक्ति दलबन्दी की प्रथा को मिटाने का सुझाव रखते हैं क्या यह सम्भव है? विनाशकारी सुझाव रखना तो आसान है और बनी बनाई चीज को नष्ट करना भी कठिन नहीं। सदा ही रचनात्मक कार्य कठिन होता है। आलोचना करना आसान है किन्तु रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करना जो योग्य व्यवहारिक एवं न्याय संगत है बहुत ही कठिन है। दलबन्दी को हटाकर प्रजातंत्र राज्य किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय इसका रचनात्मक सुझाव अभी तक किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है। आशय यही है कि इस प्रथा के दोषों को कम करने का प्रयत्न करना चाहिये और दलबन्दी को परिमार्जित करना चाहिये।

(१) सर्वप्रथम राष्ट्र में धार्मिक, जातीय, अथवा सांस्कृतिक सिद्धान्तों के आधार पर दलबन्दी की रचना नहीं होनी चाहिये। परन्तु दलबन्दी की रचना आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों पर ही होनी चाहिये।

(२) देश के स्थायी कर्मचारी योग्यतानुसार योग्य पदों पर नियुक्त किये जाने चाहिये। उनकी नियुक्ति में पार्टीबन्दी का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। जिससे प्रतिदिन के राज्यकार्य में दलबन्दी का प्रभाव न रहे।

(३) जब तक सुस्वस्थ जनमत जाग्रत और शिक्षित नहीं होता तब तक प्रजातंत्र राज्य की सफलता असम्भव है। राजनैतिक शिक्षा का अच्छा प्रबंध होना चाहिये। जैसे राजनैतिक (Camp) कैम्प करना, वाचन कक्षायें खोलना इत्यादि जिससे साधारण नागरिक राजनैतिक मामलों में दिलचस्पी ले, और दल में अपना मत निर्जीव यन्त्र की तरह प्रदान न करें।

(४) राजनैतिक दलों का संगठन सैनिक आधार पर नहीं होना चाहिये। राजनैतिक दलों का विधान भी प्रजातंत्रात्मक रूप से होना चाहिये। (५) क्रमशः कुटुम्ब और शिक्षा संस्थाओं का संगठन भी प्रजातन्त्रात्मक रूप से होनां चाहिये। और कुटुम्ब और शिक्षा संस्थाओं में सहिष्णुता, कर्तव्यपरायणता, स्वार्थ सेवा के बदले राष्ट्र सेवा स्वाधीन तथा न्याययुक्त विचार करने का अभ्यास, समालोचना करने का अभ्यास इत्यादि गुणों की नींव सक्रिय रूप से पड़नी चाहिये।

(६) राजनैतिक दलों की संख्या सम्भवतः कम होनी चाहिये। जिससे किसी एक दल को बहुमत प्राप्ति में कष्ट न हो।

(७) प्रत्येक व्यक्ति का यह दायित्व है कि वह राष्ट्र का एवं समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करे। आखिरकार दलबन्दी तो राष्ट्र के नैतिक व मानसिक स्तर का प्रतिबिम्ब मात्र है। यदि राष्ट्र अधोगति की ओर अग्रसर है तो राजनैतिक दलबन्दी कैसे पवित्र तथा उच्च आदर्श पर स्थित रह सकती है। केवल भौतिक शिक्षा की वृद्धि एवं सक्रिय रूप से उसको प्रोत्साहित करके तथा नैतिक शिक्षा की अवहेलना करने के कारण ही सरकार में सर्वतोमुखी अधःपतन दृष्टिगोचर हो रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा के साथ ही साथ नैतिक शिक्षा व पवित्र आचरण को महत्वपूर्ण

स्थान देना ही होगा । आज की शिक्षा एकांगी है । नयी पीढ़ी के सम्मुख कोई ध्येय ही नहीं रक्खे गये हैं । इस कारण असंयमित एवं असीमित व्यवहार व आचरण सब तरफ दृष्टिगोचर हो रहे हैं ।

आज के समाज के विस्खलित होने का सबसे मुख्य कारण है आर्थिक विषमता । यही असामाजिक प्रवृत्तियों के वृद्धि का मूल कारण है । पूंजी-पति राजनैतिक दलों को निज के स्वार्थ साधन के लिये उपयोग में लाते हैं तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण अन्य वर्ग के व्यक्ति कुमार्ग का अवलम्बन करते हैं । देश का वातावरण शुद्ध तथा पवित्र बनाने का सर्वोच्च उपाय है, समाज की रचना आर्थिक समानता की बुनियाद पर करना । आधुनिक जीवन की बहुत सी समस्यायें इस उपाय से सुलझ जायेंगी । इसके अतिरिक्त राजनैतिक दलों का नेतृत्व निस्पृह तथा योग्य व्यक्तियों के हाथ में होने ही से राजनैतिक दलों का वातावरण विशुद्ध हो जायेगा ।

अध्याय १७

लोकमत तथा जनमत

लोकमत अथवा जनमत की परिभाषा बहुत सुलभ नहीं है। साधारण बोलचाल की भाषा में जनमत का अर्थ है बहुमत। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सार्वजनिक प्रश्नों पर अधिकांश जनता की राय न्याय संगत अथवा सार्वजनिक हित साधक हो। व्यवहारतः आधे से अधिक व्यक्तियों के मत को ही बहुमत मान कर सरकार अपनी नीति निर्धारित करती है तो क्या सर्वमत या बहुमत लोकमत है? नहीं। बहुमत तो केवल प्रचार द्वारा ही प्राप्त कर लिया जा सकता है। कभी कभी कुछ स्वार्थी पदलोलुप व्यक्ति झूठे सिद्धान्तों का प्रचार करके अथवा अशिक्षित जनता की भावना उभाड़ करके बहुमत प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ युद्ध के समय जनता को भड़काकर, डराकर युद्ध के लिये प्रवृत्त किया जाता है। साधारण नागरिक युद्ध नहीं करना चाहता है—वह शान्ति से जीवन यापन करना चाहता है। वास्तव में वह लोकमत नहीं केवल बहुमत है। बहुमत गलत भी हो सकता है। इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जब बहुसंख्यक दल अल्पसंख्यों के हित को भुला कर, उनके साधारण तथा उचित अधिकारों को छीन कर, अथवा भावावेश, धर्मान्धता में फँस कर अल्पसंख्यकों को दबाना अथवा नष्ट करना चाहता है। क्या इस अन्याय पूर्ण बहुमत को जनमत कहना यथार्थ होगा? क्या ऐसे बहुमत के आधार पर सरकार का संगठन हो सकता है? उसी प्रकार वर्ग हित, जाति हित, धर्म हित, समुदाय हित इत्यादि के स्वार्थ हित की रक्षा के लिए भी जनता को भुला कर, फुसला कर निश्चित, सुस्पष्ट बहुमत तैयार किया जाता है। यह लोकमत नहीं केवल समाज के किसी

विशिष्ट अंग की भलाई के निमित्त तैयार किया हुआ बहुमत मात्र है। इसी प्रकार यह भी सदैव सत्य नहीं कि निर्वाचन में बहुमत प्राप्त व्यक्ति को लोकमत प्राप्त हो। क्योंकि निर्वाचन की सफलता के कारण अनैतिकता, लालच अथवा प्रचार भी हो सकता है।

जनमत का वास्तविक अर्थः—उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि बहुमत तथा लोकमत, ये दो शब्द तद्रूप नहीं हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि किसी विशिष्ट समय प्रकाशित बहुमत लोक मत ही हो। साधारणतया लोकमत से तात्पर्य उस मत से है जो विवेकपूर्ण, न्याययुक्त एवं तर्कयुक्त हो। जिस मत के अन्तर्गत समस्त समाज के कल्याण की भावना निहित हो। अर्थात् विवेक, तर्क तथा विचार पर निर्धारित मत को लोक मत कह सकते हैं। साथ ही साथ लोकमत में समस्त समाज के कल्याण की भावना भी होनी चाहिये। जब निश्चित मत अधिकाधिक व्यक्ति धारण करने लगते हैं तब बहुमत लोक मत हो जाता है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जनमत का सम्बन्ध सार्वजनिक हित से है (१) जनमत उस मत को कहते हैं जो विवेक और स्वार्थरहित बुद्धि के आधार अवलम्बित हो और जिसका ध्येय किसी जाति वर्ग या धर्म विशेष का हित नहीं वरन् समस्त समाज का हित साधन हो। अतः जनमत का प्रमुख ध्येय सार्वजनिक हित साधन ही है (२) जनमत उस मत को कहते हैं जिसे सर्व साधारण जनता मानती हो, तथा जिसमें सर्व साधारण जनता का हित एवं कल्याण निहित हो जिस मत का मौलिक आधार न्याय विवेक एवं नैतिकता हो। (३) जब एक बहुत बड़ा व्यक्ति-समूह राजनैतिक समाजिक अर्थात् लोक हित सम्बन्धी विषयों पर स्पष्ट रूप से तथा सामूहिक रूप से एकमत होकर विचार प्रकट करे तो उस मत अथवा विचार को लोकमत कह सकते हैं।

(४) वह मत जनमत कहलता है जब राज्य का बहुत बड़ा व्यक्ति समूह लोक कल्याण की भावना से प्रवृत्त होकर राज्य के महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं सामाजिक विषयों पर समान मत रखता हो।

यह ध्यान में रखने योग्य है कि बहुमत एवं लोकमत पर्यायवाची शब्द नहीं है। लोकमत के साथ बहुमत होना हितकर है। तथा आवश्यक भी। कभी-कभी स्वार्थहित अथवा पद प्राप्ति से प्रवृत्त होकर लालच, भय एवं प्रचार द्वारा बहुमत प्राप्त किया जा सकता है। जो मत अल्पसंख्यकों के हित अथवा कल्याण की भावना को ठुकराकर बना हो वह बहुमत प्राप्त करने पर भी लोकमत अथवा जनमत नहीं हो सकता है। वह केवल बहुमत ही है।

जनमत की उत्पत्ति एवं स्रोतः—समाजहित और सार्वजनिक हित के सम्बन्ध में मनुष्यों के विचार देश, और काल के अनुसार विभिन्न होते हैं। साथ ही साथ जनमत समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन शील है। यह निर्विरोध सत्य है कि प्रजातन्त्र राज्य की नींव केवल सच्चे लोकमत पर ही सुदृढ़ हो सकती है। जनमत की उत्पत्ति एवं वृद्धि की अवस्थायें ये हैं। प्रारम्भ में कुछ असाधारण व्यक्ति जिन्हें राजनैतिक विषयों का ज्ञान होता है, वे सार्वजनिक विषयों पर तथा समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करते हैं। (१) प्रारम्भ में ये विचार अस्पष्ट तथा असंगठित होते हैं। ये व्यक्ति अपने विचार समाचार पत्रों, रेडियो तथा व्याख्यानों द्वारा जनता के सम्मुख रखते हैं। कोई भी नई योजना अथवा विचार कुछ ही लोगों को आकृष्ट करती है। फिर उन विचारों पर वाद-विवाद, विचार विनिमय, समालोचना इत्यादि होने लगते हैं। इसके बाद इन अस्फुट विचारों में से स्पष्ट निश्चित एवं नियोजित विचार धारा उत्पन्न होती है। साथ ही साथ सिद्धान्तों का वर्गीकरण होता है। (२) विचारों का प्रचार संचालकों के व्यक्तित्व दृढ़ निश्चय, सच्चाई तथा निष्कपटता पर अवलम्बित है। साथ ही साथ यदि विचार परिस्थिति तथा समय के अनुकूल होते हुए व्यवहारिक हो

तो क्रमशः जनता का सुशिक्षित भाग उन प्रश्नों पर विचार विनिमय कर किसी एक पक्ष को ग्रहण करके उन विचारों के प्रचार में मदद करता है। (३) जनता का बहुसंख्यक दल दृढ़ निश्चयी होकर किसी न किसी पक्ष को अपनाता है। इस प्रकार जन समूह का अनुमोदन प्राप्त करके जनमत अथवा लोकमत कहलाने लगता है। इस प्रकार प्रत्येक नवीन मत उचित और सुलभ माध्यम द्वारा जनसमूह में अपना मत प्रचार करता है तथा अपना प्रभाव डालने लगता है। उदाहरणार्थ १९३९ तक भारतवासी भारत विभाजन की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। साधारण हिन्दू तथा मुसलमान इस कल्पना को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु मुस्लिम लीग के नेताओं में दृढ़ निश्चय एवं विश्वास था। इसी के बल पर उन्होंने प्रचार द्वारा मुसलमान नागरिकों को अपनी ओर आकृष्ट करके पाकिस्तान बनाया। उसी प्रकार अधिकांश जनता राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही विचार करती है। संसार में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वास्तविक रूप से सोचने वाले बहुत कम हैं। परन्तु "अन्तर्राष्ट्रीयता" ही में संसार का कल्याण है। इस प्रकार सोचने वालों में यदि दृढ़ निश्चय एवं सत्यता है तो परिस्थिति को देखते हुए, राष्ट्रीयता का भयंकर स्वरूप समझते हुए साधारण जनता इन विचारों को अपनाने लगेगी।

साधारण जनता अपने नित्य प्रतिदिन के कार्य में इतनी व्यस्त रहती है कि साधारणतया जनता राजनैतिक काय के प्रति उदासीन तथा मौन रहती है। जनमत ही एक ऐसा प्रमुख साधन है जो जनता को राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याओं की ओर आकृष्ट करती है। तथा जनमत द्वारा ही साधारण जनता अपने भाव एवं विचार व्यक्त करती है। जनमत ही कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के सदस्यों को नीति निर्धारित करने में तथा कानून बनाने में सहायक होता है। ये सदस्य अपने नीति का निर्णय जनमत के इच्छा के अनुकूल ही करते हैं। सरकार जनमत के अनुसार काम करने का प्रयास करती है। प्रजातन्त्र राज्य में प्रत्येक सरकार का भविष्य जनमत पर ही

अवलम्बित है। धारा सभा में प्रत्येक दल जनता को अपने पक्ष में रखने का प्रयास करता है। विरोधी दल भी जनता के विचारों का रुख देखकर ही सरकार की आलोचना करता है। अन्य सरकारों की अपेक्षा प्रजातन्त्र सरकार जनता को संतुष्ट करने का प्रयास करती है। यह सत्य है कि जागरुक जनमत ही सरकार को निरंकुशता से रोकता है तथा जनता को स्वतन्त्रता को वास्तविकता प्रदान करता है। इस प्रकार आधुनिक राजनैतिक संसार के लिये जनमत महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

लोकमत निर्माण करने के तथा व्यक्त करने के आधुनिक साधन

शिक्षाः—नागरिकों के मस्तिष्क को विकसित और जीवन को उन्नत बनाने के लिये शिक्षा परमावश्यक है। अशिक्षित व्यक्ति सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को ठीक से समझ नहीं सकता है और न वह विचार पूर्वक तथा विवेक पूर्वक कार्य ही कर सकता है। जनता वोट द्वारा अपनी शक्ति तथा प्रभावव का दिग्दर्शन कराती है। परन्तु अशिक्षित जनता प्रचार द्वारा तथा भावात्मक भाषण द्वारा मोह ली जा सकती है। इसलियें उत्कृष्ट विचारशील लोकमत तो नागरिक को अच्छी शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा द्वारा नागरिक देश की बदलती हुई विभिन्न समस्याओं को समझ सकता है तथा विचारपूर्वक उस पर अपना मत प्रकट कर सकता है। आजकल अधिकांश प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में वयस्क मताधिकार का आयोजन किया गया है। साथ ही साथ दिन प्रति दिन राज्यकार्य जटिल होता जा रहा हैं। अतएव प्रत्येक राज्य में प्रत्येक नागरिक की शिक्षा का उचित प्रबन्ध राज्य की ओर से होना परमावश्यक है। इसलिये प्रत्येक राज्य में शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य होनी चाहिये। शिक्षा द्वारा मनुष्य को केवल किताबी ज्ञान की ही व्यवस्था नहीं होनी चाहिये। किताबी ज्ञान के साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति के लिये राजनीतिक ज्ञान का भी प्रबन्ध होना

चाहिये जिससे नागरिक अपने कर्त्तव्यों को समझें तथा अपने अधिकारों का उचित रीति से प्रयोग कर सके। अर्थात् शिक्षा चरित्र-निर्माण करने वाली तथा जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने वाली होनी चाहिये। शिक्षा भेद-भाव रहित होनी चाहिये, तथा शिक्षा का लाभ तथा शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से प्राप्त होना चाहिये।

यह स्पष्ट ही है कि प्रजातन्त्र राज्य की नींव शिक्षा पर ही निर्भर है। पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों में ही भविष्य के नागरिकों के विचार तथा जीवन ढाले जाते हैं। शिक्षा संस्थाओं में ही विद्यार्थियों के विभिन्न विषयों पर मत तैयार होते हैं। जो बड़े होकर परिपक्व हो जाते हैं। पाठशालाओं की वाद-विवाद समितियाँ तथा पाठशालाओं के पाठान्तर कार्य भी भविष्य के नागरिकों के जीवन, विचार एवं चरित्र को ढालते हैं। भविष्य के नागरिकों के उत्पत्ति का यही स्रोत है। हिटलर ने जर्मनी में नाजीवाद स्थायी रखने के लिये शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा का प्रवाह नाज़ीवाद की ओर प्रवृत्त किया था। इसी प्रकार रशिया, चीन तथा इटली में भी एक विशिष्ट प्रकार की राजनैतिक शिक्षा प्रदान करके इन राज्यों ने भविष्य के नागरिकों के विचार अपने विचारों के अनुकूल बनाये। बच्चों का मस्तिष्क इतना लोचक होता है कि जिन विचारों का बीज इस समय डाला जाता है वही आगे फलता फूलता है। इस प्रकार शिक्षा संस्थायें लोकमत का आवश्यक साधन हैं। इसी समय बच्चों में लोकहित कार्यों के लिये अभिरुचि पैदा की जा सकती है। इसी समय उनका चरित्र-निर्माण किया जा सकता है। इसी समय उनको जाति, वर्ग साम्प्रदायिकता के दोष और गुण दिखलाये जा सकते हैं। विविध विषयों की विवेचना से उनके विचार विशाल तथा स्पष्ट किये जा सकते हैं। स्वार्थ, जाति, वर्ग एवं साम्प्रदायिक हित से अधिक राष्ट्रीय हित का महत्व उनको सिखलाया जा सकता है। शिक्षा संस्थायें भविष्य के नागरिकों को बना सकती हैं अथवा बिगाड़ सकती हैं। अर्थात् शिक्षक वर्ग पर राष्ट्र-हित की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। सुस्वस्थ,

सुदृढ़ नागरिकता एवं राष्ट्रीय भावना की ज्योत शिक्षक वर्ग ही जला सकता है।

(२) समाचार पत्र—जनमत को प्रकट करने का दूसरा विशिष्ट साधन आज के युग में प्रेस या समाचार पत्र आदि हैं। छपाई की सुविधा तथा यातायात के सुगम साधनों के कारण समाचार पत्रों का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। सार्वजनिक जीवन में इसका महत्व बहुत ही बढ़ गया है। समाचार पत्र राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक राजनैतिक, नैतिक अथवा धार्मिक सब प्रकार की समस्याओं का ज्ञान नागरिकों को कराते हैं।

लोकमत का निर्माण करने के लिये एवं उसका प्रचार करने के लिये समाचार पत्र बहुत ही महत्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक शिक्षा के लिये भी ये उत्तम एवं उच्च साधन हैं। समाचार पत्र सरकार की नीति को स्पष्ट करते हैं। जनता की मांगों को सरकार के सामने रखते हैं, व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा में सहायता करते हैं। वाद-विवाद, टीका-टिप्पणी, समा-लोचना द्वारा विभिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को जनता के समक्ष रखकर लोकमत को व्यक्त करते हैं, जाग्रत करते हैं तथा उसका प्रचार करते हैं। उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समाचार पत्रों में स्थान देकर जनता को उससे परिचित कराते हैं। राजनैतिक दलों के तथा अन्य सभाओं के प्रस्तावों को तथा विभिन्न नेताओं के वक्तृत्व को समाचार पत्रों में स्थान देकर लोगों को विविध विचारों से परिचित कराते हैं। इसी साधन द्वारा नागरिकों की माँगों का प्रचार होता है तथा जनमत सुदृढ़ होता है। अन्त में सरकार नागरिकों की माँगों को मानने के लिये बाध्य हो जाती है। प्रजातन्त्र राज्यों में समाचार पत्रों को छपाई की स्वतन्त्रता दी जाती है। प्रजातन्त्र राज्यों की नींव लोकमत पर निर्भर है। लोकमत समा-चार पत्रों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र छापे का अधि-कार एक महत्वपूर्ण अधिकार है, और सरकार को चाहिये कि वह इस अधिकार में बाधक न हो। यदि समाचार पत्र अश्लील बातें छापें, किसी

व्यक्ति के चरित्र पर आक्षेप करे तथा क्रान्ति का आव्हाहन न करे तो इन तीनों परिस्थितियों में सरकार समाचार पत्रों पर नियन्त्रण लगा सकती है। अन्यथा प्रजातन्त्र राज्य में समाचार पत्रों को छापे की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

परन्तु इस साधन में भी कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं। समाचार पत्र बहुत बार सत्य को दबाकर असत्य का प्रचार करते हैं। प्रत्येक समाचार पत्र एक विशिष्ट दृष्टिकोण को सदैव उपस्थित करने का तथा उसे सही साबित करने का प्रयत्न करता है। बहुत बार एक पक्षीय समाचार देकर, सत्य को दबाकर नागरिकों के विचार अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है। समाचार पत्र ठीक ठीक समाचार छापने के लिये नहीं छापे जाते किन्तु केवल धनोपार्जन के निमित्त विशेष दल की पुष्टि के लिये, अथवा किसी वर्ग एवं सम्प्रदाय के मतों के प्रचार करने के उद्देश्य से छापे जाते हैं। बहुत बार सरकार भी इन पत्रों का उपयोग करती है।

समाचार पत्र जनमत बनाने का तथा राजनैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन हैं। इसलिये इनको सत्य के मार्ग पर ही चलना चाहिये, जनता की माँगों को स्पष्टता से निवेदन करना चाहिये, सरकार की नीति को स्पष्ट करना चाहिये, तथा न्याय और सत्य के आधार पर चल कर लोकमत को बनाने तथा व्यक्त करने में सहायक होना चाहिये। अतः जो पत्र जितनी निर्भीकता और निष्पक्षता के साथ अपना काम करता है वह उतना ही सही और न्याय-संगत जनमत का संगठन करता है।

(३) **भाषण, साहित्य और सार्वजनिक सभायें**:—यह भी प्रजातन्त्र राज्यों में लोक मत प्रचार करने का महत्वपूर्ण साधन है। सभा और व्याख्यानों द्वारा राष्ट्र के बड़े बड़े सामाजिक एवं राजनैतिक नेता अपने मतों का प्रचार करते हैं। प्रभावशाली वक्तृत्व का साधारण जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सुन्दर तथा प्रभावशाली वक्तृत्व से बड़ी बड़ी क्रान्ति प्रारम्भ हुई है। अच्छा वक्तृत्व बड़े-बड़े साम्राज्यों को हिला सकता है।

अथवा उन्हें धूल धूसरित कर सकता है। इस प्रकार के विचार विनिमय द्वारा तथा तर्क युक्त भाषण द्वारा साधारण जनता राजनैतिक एवं सामाजिक प्रश्नों को तथा समस्याओं को भलीभाँति समझने लगती है। खासकर अशिक्षित, अपढ़ जनता के लिये यह साधन बहुत सुगम तथा प्रभावशाली है। अतः भाषण तथा लेखन लोकमत प्रचार के दो महत्वपूर्ण हस्त हैं। प्रत्येक सरकार का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता प्रदान करे।

कभी कभी सरकार किसी एकांगी मत को अथवा किसी विशिष्ट मत को प्रचार की सुविधा प्रदान करती है। तथा अन्य मतों को दबाती है, अथवा उन पर नियन्त्रण करती है। अर्थात् सरकार एक पक्षीय मत के प्रचार को ही प्रोत्साहित करती है। ऐसी स्थिति में इन साधनों की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। लोकमत संगठन में जनता को प्रत्येक पक्ष के विचार सुनने का लाभ प्राप्त नहीं होता है। इस विधि से लोकमत न्याययुक्त, तर्कयुक्त, विशाल एवं निष्पक्ष नहीं हो सकता है परन्तु प्रत्येक सरकार को बुरे साहित्य, कुशिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों का प्रचार, अश्लील तथा अनैतिक भाषणों के प्रचार पर अवश्य नियन्त्रण करना चाहिये। इनसे जनता की संकुचित मनोवृत्ति हो जाती है तथा राष्ट्र का नैतिक वातावरण विषाक्त हो जाता है।

(४) **रेडियो और सिनेमा**:—आजकल लोकमत के संगठन में रेडियो, सिनेमा आदि का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। ये साधन केवल मनोरंजन के ही साधन नहीं रह गये हैं। सर्व साधारण जनताकी मनोवृत्ति को विशिष्ट ढाँचे में ढालने का काम आज रेडियो तथा सिनेमा द्वारा उत्कृष्ठ रूप से किया जा रहा है। इनके प्रभाव तथा प्रचार का क्षेत्र केवल राष्ट्रीय क्षेत्र ही नहीं है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इनका प्रभाव दिखलाई देता है। अशिक्षित तथा निरक्षर जनता में लोक मत व्यक्त करने तथा बनाने का एक उच्चतम साधन है। क्योंकि रेडियो तथा सिनेमा द्वारा लोग

अपने विचार स्पष्टता से तथा सरलता से पूरे संसार में कुछ ही देर में फैला सकते हैं। सिनेमा द्वारा वास्तविक घटना तथा दृश्य का परिचय सरलता से होता है तथा हृदय पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण चित्रपट भी लोकमत को प्रभावित तथा उत्साहित करने का एक अनुपम साधन हैं। क्योंकि जैसा कहा जा चुका है दृश्य को आँखों से देखने से उसका प्रभाव हृदय तथा मस्तिष्क दोनों पर ही होता है। सुनने पढ़ने से केवल मानसिक सहानुभूति उत्पन्न होती है। ये साधन भी दोषपूर्ण हैं। क्योंकि किसी विशिष्ट दल द्वारा अथवा सरकार द्वारा ये साधन भी स्वार्थ-हित की वृद्धि के लिये उपयोग में लाये गये हैं। सिनेमा में भी अश्लील, असत्य, असम्भव, देश के शील एवं संस्कृति के प्रतिकूल दृश्य दिखाकर देश की मनोवृत्ति को गलत दिशा में मोड़ा जा सकता है। तथा राष्ट्र के भविष्य के नागरिकों की दिशा भूल की जा सकती है।

(५) **सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थायें**:—लोकमत प्रचार में इन संस्थाओं का भी महत्वपूर्ण अंग है। भारत में आज भी जनता को धर्म के नाम पर प्रभावित किया जा सकता है। हिन्दूकोड बिल तथा भारत विभाजन मूलतः धार्मिक समस्याएँ हैं, और जनमत को उसी दृष्टिकोण से प्रभावित किया जा रहा है, भारत में धर्म एक प्रभावशाली एवं शक्तिशाली साधन है। १९ वीं शताब्दि में आर्यसमाज, थियॉसाफीकल सोसायटी, ब्रह्मसमाज तथा रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने हिन्दू धर्म का परिमार्जन करके पवित्र तथा पुनीत हिन्दू धर्म को जाग्रत किया था, और साथ ही साथ देश की सामाजिक तथा शैक्षिक सेवा भी की थी। इसी प्रकार से समाज सुधार संस्थाओं का भी जनमत जागृति में बहुत हिस्सा होता है। जाति-पाँति, अस्पृश्यता, अनमेल विवाह, बहुविवाह, विधवा विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों की समालोचना करके इन समाज सुधार संस्थाओं ने स्वच्छ जनमत जाग्रत करने में बहुत कुछ सहायता पहुँचायी है। लोकमत जागृति में इन संस्थाओं की देन भी कुछ कम नहीं है।

(६) **राजनीतिक दलः**—प्रजातन्त्र राज्य को कार्यान्वित करने के लिये राजनीतिक दल महत्वपूर्ण एवं आवश्यक साधन हैं। प्रत्येक देश में अनेकों राजनीतिक दलों का संगठन किया गया है। और प्रत्येक दल उपरोक्त सभी साधनों का प्रयोग करता है, और जनमत को अपनी ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न करता है। दल के विशिष्ट व्यक्ति तथा नेता, दल का कार्यक्रम तथा उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता जनता के समक्ष रखते हैं। आज भी देश में अनेकों राजनीतिक दल हैं जैसे कांग्रेस, हिन्दू महासभा, जनसंघ, समाजवादी दल तथा कम्यूनिस्ट दल इत्यादि। प्रत्येक दल जनमत को अपने पक्ष में लाने के लिये प्रयत्नशील है। जनमत को दृढ़ करने में तथा उसका प्रचार करने में राजनैतिक दलों का महत्वपूर्ण अंग होता है। निर्वाचन के समय प्रत्येक दल अपनी समस्त शक्ति लगा कर जनमत को अपनी ओर मोड़ने का प्रयत्न करता है। परन्तु इसका कार्य निर्वाचन काल के लिये ही सीमित नहीं है। आधुनिक युग में राजनीतिक दल सुसंगठित रूप से कार्य करने लगे हैं। तथा वे समय समय पर समाचार पत्रों द्वारा, भाषणों द्वारा, सभाओं द्वारा, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रश्नों पर प्रकाश डालते रहते हैं। इस प्रकार से जनता में सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के प्रति अभिरुचि पैदा करते हैं। निर्वाचन में बहुमत प्राप्त राजनैतिक दल, स्वदलीय सरकार स्थापन करने के पश्चात् अपने कार्यक्रम को व्यवहारिक रूप देकर कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् प्रत्येक राजनैतिक दल को निर्वाचन के समय जनता के समक्ष की हुई प्रतिज्ञाओं को कार्यान्वित करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिये।

धारा सभा तथा निर्वाचनः—जनता धारा सभा के प्रतिनिधियों को निर्वाचित करके लोकमत का झुकाव दिखाती है। परन्तु यह भी देखा गया गया है कि राजनीतिक दल जिस कार्यक्रम लेखा जनता के समक्ष रखते हैं तथा जो प्रतिज्ञायें जनता के समक्ष करते हैं, पद पाने के बाद अथवा सर-कार की स्थापना कर लेने के बाद, स्वार्थान्ध होकर, अथवा अन्य प्रलोभनों

में फँस कर उन्हें भूल जाते हैं तथा जनता की इच्छा की अवहेलना भी करते हैं। राजनैतिक दल कभी कभी सत्य और न्याय को छोड़ कर जनता को गलत रास्ते पर भी ले जाता है। जर्मनी के नाजी दल तथा रशिया के कम्यूनिस्ट दल ने उन देशों में प्रचार सब साधन हथिया कर जनता के समक्ष एक दलीय प्रचार करके एक पक्षीय विचार धारा को रख कर जनता की मनोवृत्ति संकुचित एवं एक पक्षीय विचारों में ढाल दी है। निर्वाचन सदैव लोकमत को प्रतिबिम्बित करता है यह भी यथार्थ उक्ति नहीं है। राजनैतिक दल प्रलोभन देकर, डरा कर, धमका कर, घृणा तथा ईर्ष्या को प्रज्वलित कर तथा दरिद्र जनता को धन देकर अपने पक्ष को मत प्रदान करने के लिये उद्यत करते हैं।

भारत में स्वस्थ, विशाल, तथा निष्पक्ष जनमत के संगठन में समाचार पत्रों के लेख, सरकार द्वारा अथवा पूँजीपतियों द्वारा प्रभावित होना, जातीयता, साम्प्रदायिकता अशिक्षा तथा निर्धनता ये बहुत महान रोड़े हैं। भारत में गणतन्त्र राज्य की सृष्टि के पूर्व मत प्रदान का अधिकार बहुत ही सीमित मात्रा में था। अधिकांश नागरिक इस अधिकार से वंचित थे। इस कारण अधिकांश जनता नागरिक जीवन के प्रति उदासीन थी और उनमें राजनीतिक चेतना का अभाव था। राजनीतिक नेताओं के सम्मुख सही जनमत संगठन करने की उपरोक्त बाधाओं को हटाकर नवीन राजनीतिक चेतना को जगाने का महत्वपूर्ण कार्य है।

लोकमत बनाने में तीन प्रकार के लोग प्रमुख रूप से भाग लेते हैं। प्रथम श्रेणी में वे व्यक्ति हैं जिनका पेशा राजनीति है। जैसे धारा सभा के सदस्य, राष्ट्र के राजनीतिक नेता तथा समाचार पत्रों के लेखक। ये व्यक्ति राजनैतिक समस्याओं का ज्ञान रखते हैं, तथा भाषण व लेखन द्वारा उसे व्यक्त करते हैं। द्वितीय श्रेणी में वे व्यक्ति हैं जो सक्रीय रूप से राज्यकरण में हिस्सा नहीं लेते हैं परन्तु सार्वजनिक समस्याओं में दिलचस्पी रखते हैं। तथा ऐसी समस्याओं पर शान्ति से तथा गंभीरता से विचार करते हैं।

नागरिकता की भावना से प्रवृत्त होकर इन विचारों को जनता के सम्मुख विचारार्थ रखते हैं। तृतीय श्रेणी के वे व्यक्ति हैं जो सार्वजनिक कार्य में दिलचस्पी नहीं लेते हैं, जिनमें स्वयं सोचने की अथवा पढ़ने की अभिरुचि नहीं है। परन्तु जो वक्तृत्व से, शब्दों से, भावना प्रधान बातों से प्रोत्साहित होकर, विशिष्ट विचारों को अपना लेते हैं। राष्ट्र के अधिकांश व्यक्ति इसी श्रेणी के होते हैं। इनकी गणना अधिक मात्रा में होती है।

उपरोक्त साधनों में बहुत त्रुटियाँ हैं तथा स्वस्थ, विशाल जनमत की सृष्टि करने में बहुत बाधायें भी हैं। मनुष्य की निजी सीमित योग्यता के कारण तथा सीमित दृष्टिकोण के कारण प्रत्येक मनुष्य कृत संस्था में त्रुटि पाई जाती है। सर्वत्र मनुष्य समाज में नैतिकबल एवं आत्मबल की कमी पाई जाती है, तथा स्वाथ की मात्रा अधिक पाई जाती है। स्वार्थ मनुष्य का दृष्टिकोण संकुचित एवं एकांगी बना देता है। उपरोक्त प्रत्येक साधनों का दुरुपयोग होने का भय है। यदि उपरोक्त साधन एकाँगी अथवा संकुचित दृष्टिकोण का प्रचार करते हैं तो जनता में सर्वाङ्गीण अथवा विशाल दृष्टिकोण का प्रचार ही नहीं हो सकेगा। कभी कभी राष्ट्रीय नेता सीमित स्वार्थ से प्रवृत्त होकर सामूहिक हित को भूल जाते हैं। साधारण जन समूह स्वयं नहीं सोचता है, केवल अनुसरण मात्र करता है। मनुष्य की मानसिक रचना ऐसी है कि वह अपने बुद्धि का प्रयोग अच्छे कार्य के लिये भी कर सकता है अथवा बुरे कार्य के लिये भी कर सकता है। प्रत्येक विचारवान व्यक्ति पर वातावरण शुद्ध एवं पवित्र बनाने का पूर्ण दायित्व आ जाता है। प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति का यह कठोर कर्तव्य है कि वह निस्वार्थ तथा विशाल दृष्टिकोण को अपनाये, तथा आत्मबल व नैतिक बल की वृद्धि करे। इसी में राष्ट्र का कल्याण है। पवित्र, निस्वार्थ, पारस्परिक सम्बन्ध की नींव पर "नये समाज" की रचना के लिये इन गुणों की आवश्यकता है। संसार को अधोगति से बचाने का यही मार्ग है।

सच्चे जनमत के निर्माण करने के उपाय

(१) **शिक्षा का प्रचारः**—प्रत्येक समाज में शिक्षा का प्रचार होना चाहिये। अशिक्षित व्यक्ति बहुत सुगमता से भुलावे में आ जाता है। इस कारण साधारणतया राजनैतिक शिक्षा का प्रचार होना चाहिये। जिससे प्रत्येक नागरिक विभिन्न समस्याओं पर स्वतन्त्र रूप से सोचकर मत प्रदान कर सके।

(२) राजनैतिक दलों का संठगन राजनैतिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर होना चाहिये। इनका संगठन वैयक्तिक स्वार्थ जातीयता साम्प्रदायिकता अथवा विशिष्ट धर्म प्रचार के आधार पर नहीं होना चाहिये। इनका उद्देश्य समाज-हित एवं राष्ट्र-हित होना चाहिये। इन्हें झूठे प्रचार द्वारा भोली-भाली जनता को ठगने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इनका संगठन प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर होना चाहिये।

(३) समाज में आर्थिक विषमता नहीं होनी चाहिये तथा समाज की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम पर्याप्त अन्न, वस्त्र, तथा निवास की व्यवस्था होनी चाहिये। जो व्यक्ति आये दिन उदर निर्वाह की चिन्ता में ग्रस्त है वह स्वतन्त्रता पूर्वक देश और समाज के प्रश्नों पर क्यों कर विचार कर सकता है। साथ ही साथ आर्थिक विषमता ही द्वेष, संघर्ष, कलह और विप्लव का मूल है तदर्थ समाज की रचना आर्थिक समानता के सिद्धान्त पर होनी चाहिये। इसी में राष्ट्र एवं समाज का कल्याण है।

(४) जनमत के संगठन में प्रेस का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस कारण प्रेस को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। प्रेस सच्चरित्र, निर्भीक, सत्य प्रेमी समाजसेवियों के हाथ में होनी चाहिये। जो निष्कपट भाव से तथा निस्वार्थ भावना से प्रत्येक समस्या पर प्रकाश डालने का सामर्थ्य रखते हों। अर्थात् प्रेस स्वार्थी, पूजीपतियों, सरकार एवं राजनैतिक

नेताओं के हाथ की कठपुतली नहीं होनी चाहिये। निष्पक्ष रूप से संगठित छापेखाने ही सच्चे एवं पवित्र जनमत के संगठन में सहायक हो सकते हैं।

(५) सरकार को ऐसे कानून बनाने चाहियें, जिससे नागरिकों के व्यक्तित्व का अथवा उनके स्वतन्त्रता का अपहरण न हो। प्रत्येक नागरिक को अधिक से अधिक सीमा तक भाषण, लेखन तथा संगठन की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(६) देश में राज्य एवं समाज के संगठन के मौलिक सिद्धान्तों में सामञ्जस्य होना चाहिये। यदि समाज वर्ग, जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग के भेदों से विभाजित है। तो ऐसे देश एवं राष्ट्र में राजनैतिक एकता अशक्य तथा असम्भव है। एकता का अभाव जनमत के संग्रह में बाधक है। भेदभाव ही संघर्ष तथा विभाजन की जड़ है तथा भेदभाव ही पवित्र राजनैतिक एकता सुदृढ़ सामाजिक रचना एवं स्वस्थ नागरिकता के मार्ग में रोड़े बिछाता है।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय संगठन के सिद्धान्त

अध्याय १८

नागरिकता

साधारण बोलचाल की भाषा में नागरिक का अर्थ नगर निवासी है। अर्थात् इस प्रयोग के अनुसार गाँव में रहने वाले ग्रामीण नागरिक नहीं हैं। परन्तु नागरिक-शास्त्र में नागरिक शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में तथा व्यापक अर्थ में किया जाता है। नागरिक शास्त्र में नागरिक उस व्यक्ति को कहा जाता है जो अपने राज्य के अन्तर्गत किसी स्थान का निवासी हो और राज्य की सदस्यता के नाते कुछ शर्तों को पूरा करता हो। धनी, गरीब, शहराती, देहाती, वर्ग, धर्म इत्यादि के भेद-भाव के कारण नागरिक बनने में कोई विघ्न-बाधा नहीं है। अतः केवल नगर निवासियों को ही नहीं वरन् देश के समस्त निवासियों को नागरिक कहा जाता है। देश में रहने वाले व्यक्तियों को कुछ अधिकार होते हैं और साथ ही साथ उन्हें कुछ कर्तव्य भी करने पड़ते हैं। नागरिक बनने के लिये ये कर्तव्य एवं अधिकार आवश्यक समझे जाते हैं। आज भी नागरिक उसी को कहते हैं जो अधिकारों से भूपित हो तथा उनके उपभोग का अधिकारी हो। साथ ही साथ राज्य तथा समाज के प्रति कर्तव्यों का पालन करता हो। प्रत्येक नागरिक को अधिकारों के बदले राज्य के प्रति भक्ति रखना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति राज्य के प्रति भक्ति नहीं रखता तथा राज्य के विरुद्ध ऐसे कार्य करता है अथवा ऐसे कार्यों में भाग लेता है जो राज्य के लिए हानिकारक हो, तथा जिससे राज्य के अस्तित्व में शंका उत्पन्न हो तो राज्य ऐसे नागरिक को उसके अधिकारों से वंचित कर सकता है. और राज्य उसे कठोर दण्ड भी दे सकता है। अर्थात् नागरिक को अधिकारों के साथ ही साथ कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है।

इसी प्रकार ग्रामवासियों को भी राज्य की ओर से अधिकार प्राप्त होते हैं। नगर निवासियों के समान वे भी राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकारों से भूषित हैं। उन्हें भी राज्य के प्रति कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। कुछ वर्षों पूर्व अधिकांश देशों में स्त्रियाँ राजनैतिक अधिकारों से वंचित थीं। परन्तु आधुनिक काल में अधिकांश प्रगतिशील देशों में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं। तथा सभ्य देशों में स्त्रियों को जीवन के सभी पहलुओं में हिस्सा लेने का अधिकार प्राप्त है। अर्थात् स्त्रियों को जीवन के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक इत्यादि किसी भी क्षेत्र में पुरुषों के बराबर हिस्सा लेने से वंचित नहीं किया, जाता है।

नागरिक होने के लिए तीन शर्तों को पूरा करना परमावश्यक है। (१) राज्य की सदस्यता (२) राज्य द्वारा राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों के उपभोग की व्यवस्था (३) राज्य के प्रति राज्यभक्ति की भावना।

नागरिक शब्द का क्षेत्र तथा विस्तार:—नागरिक शब्द की उत्पत्ति प्राचीन यूनान तथा रोम के नगर राज्यों से हुई। उस काल में नगर ही सभ्यता, सहकारिता तथा सम्पूर्ण जीवन का केन्द्र था। प्राचीन यूनान में दो प्रकार के निवासी नगर में निवास करते थे। प्रथम वर्ग का निवासी नागरिक कहलाता था जिसके हाथों में शासन-प्रबन्ध तथा न्याय-प्रबन्ध रहता था। दूसरे वर्ग का निवासी वह व्यक्ति था जो नागरिक के अधिकारों से वंचित था। उस समय नागरिक का सम्बन्ध अधिकारों से तथा निवास स्थान से था। अर्थात् नागरिक के अधिकारों की सीमा नगर राज्य के भूमि भाग से सीमित थी। नगर राज्य का नागरिक अधिकारों का उपयोग नगर राज्य के सीमा के अन्तर्गत ही कर सकता था। रोम तथा यूनान में नागरिक शब्द का प्रयोग बहुत ही संकुचित तथा सीमित अर्थ में किया जाता था। क्रमशः रोम के नगर राज्यों की सीमा बढ़ी, रोम के नगर राज्य रोमन साम्राज्य के अङ्ग हुए। ये स्वतन्त्र, स्वावलम्बी नगर राज्य रोमन साम्राज्य

में विलीन हुए। इस राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही साथ नागरिक तथा नागरिकता शब्दों में परिवर्तन हुआ। अब नागरिक नगर राज्य का नागरिक न रहा वह रोमन साम्राज्य का नागरिक कहलाने लगा। परन्तु नागरिकता के नाप-तौल का पैमाना कर्तव्य तथा अधिकार ही थे। अब अधिकार तथा कर्तव्यों की सीमा विस्तृत होने लगी, तथा उनमें कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। क्रमशः संसार में अनेकों राष्ट्रों का उदय हुआ। अब नागरिक शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। नागरिकों के अधिकार तथा कर्तव्यों की सीमा नगर तथा गाँवों से सीमित नहीं थी। राष्ट्र के निवासी राष्ट्र के नागरिक कहलाने लगे। राजनैतिक सत्ता की वृद्धि के साथ ही साथ अधिकार एवं कर्तव्यों की सीमा का बढ़ना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार आधुनिक नागरिक शब्द की उत्पत्ति हुई। नागरिक शब्द का सम्बन्ध समस्त राष्ट्र से है, केवल नगर से या गाँव से ही नहीं है। संसार तथा संसार की समस्याएँ परिवतनशील हैं। आज आर्थिक, राजनैतिक, तथा सामाजिक समस्याओं में विद्युत गति से परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है तथा भविष्य में भी होगा। समीपवर्ती भूतकाल राष्ट्रीयता का युग कहलाता है। उसी प्रकार आधुनिक युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग कहलाता है। आज के इस संघर्ष-पूर्व युग में मानव जाति का उद्धार अन्तर्राष्ट्रीयता ही कर सकती है। राजनैतिक शास्त्र के विद्वानों की यह धारणा होती जा रही है। युद्ध तथा संघर्ष द्वारा मानव जाति का विनाश विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीयता ही रोक सकती है। स्वदेशी विदेशी इस भावना का लोप होना आवश्यक है। संकुचित राष्ट्रीयता जो युद्ध, द्वेष तथा संघर्ष का आह्वाहन करती है उसका भी लोप होना आवश्यक है। आज अनेकों विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय नागरिकता की भावना को प्रोत्साहित कर रहे हैं। इस प्रकार समय-समय पर नागरिकता के अर्थ में परिवर्तन होता रहा है, और होता रहेगा। प्राचीन काल से आज तक इस शब्द के विस्तार एवं गहराई में जमीन-आसमान का फरक हो गया है।

विदेशी अनागरिकः—इन्हें भी राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। विदेशी कुछ काल के लिए दूसरे देश में निवास करता है। परन्तु उसकी देश भक्ति अपने देश के प्रति ही होती है। यातायात की सुविधा के कारण से विदेशी दूसरे देश में निवास करने लगे हैं। विदेशी व्यापार के लिए, शिक्षा के निमित्त अथवा भ्रमण के लिए विदेश में आगमन करते हैं। ऐसे अनागरिकों की जान माल की रक्षा का अधिकार, राज्य के अन्दर स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने का अधिकार, भाषण स्वतन्त्रता का अधिकार व न्यायालयों में न्याय का अधिकार प्राप्त है। अनागरिकों को सब सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं। कहीं कहीं इन्हें अचल सम्पत्ति खरीदने का अधिकार प्राप्त नहीं है। विदेशी अनागरिकों को फौज में भर्ती होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। अनागरिकों को राजनैतिक अधिकार जैसे मत-प्रदान, व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता तथा राज्य कर्मचारी पद से वंचित किया जाता है। परन्तु विदेशी अनागरिक को देश के कानून का पालन करना पड़ता है। कानून भंग के लिए उसे उचित दण्ड भी दिया जा सकता है। यदि विदेशी अनागरिक अनुचित लाभ उठाता है तो वह देश से निकाला भी जा सकता है। परन्तु राजदूत तथा दूतावास के सदस्य अपने देश के नियमों के अधीन होते हैं।

विदेशी मित्र वह व्यक्ति है जिसके देश से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध हो। तथा विदेशी शत्रु वह है जिसके देश से युद्ध का सम्बन्ध हो, अथवा मैत्री का सम्बन्ध न हो।

प्रजाः—जिन देशों में राजतन्त्र है उन देशों में नागरिकों को प्रजा कहते हैं। इस कारण इस प्रजातन्त्र युग में प्रजा शब्द खटकता है। इंगलैंड, फ्रांस, अफगानिस्तान तथा पराधीन देशों के नागरिक प्रजा कहलाते हैं। प्राचीन काल में शासनाधिकार नागरिकों के हाथ नहीं थे इसलिये शासक शासितों को प्रजा के नाम से सम्बोधित करता था। प्रजातन्त्र राज्य में शासनाधिकार जनता के हाथ में है इसलिये उन्हें नागरिक के नाम से

सम्बोधित करते हैं। प्रजा शब्द का अर्थ है वे व्यक्ति जो राजनैतिक अधिकारों से वंचित हैं। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रजा भी है तथा नागरिक भी। नागरिक वह व्यक्ति है जो कानून बनाने में भाग लेता है तथा वह प्रजा है क्योंकि वह उन कानूनों का पालन करता है। अर्थात् राज्य में रहने वाले वे सब व्यक्ति चाहे वह नागरिक हों अथवा न हों नाबालिग, बूढ़े अपंग, पागल, सब ही राज्य की प्रजा हैं। अर्थात् प्रजा शब्द का अर्थ है वे सब व्यक्ति जो राज्य की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत रहते हैं और राज्य के प्रति भक्ति करते हैं तथा राज्य के कानून से सम्बद्ध हैं। साथ ही साथ उनके जान व माल की रक्षा के लिये राज्य का दायित्व है। अर्थात् राज्य द्वारा रक्षा के पात्र सभी व्यक्ति प्रजा कहलाये जा सकते हैं।

नागरिक तथा निर्वाचक:—दोनों शब्द साम्यक नही हैं। राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों का उपभोग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति निर्वाचक होगा ही यह आवश्यक नहीं। क्योंकि कुछ देशों में निर्वाचकों के लिये, शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि गुणों की आवश्यकता रक्खी गई है। अर्थात् कुछ देशों में सभी वयस्कों को मताधिकार प्राप्त नहीं है। इसलिये यह जरूरी नहीं कि नागरिक निर्वाचक भी हो।

नागरिकता:—नागरिक होने की विशिष्ट स्थिति का नाम नागरिकता है। अतः नागरिकता का अर्थ मनुष्य जीवन की उस दशा से है जिसमें व्यक्ति किसी राज्य के सदस्य होने के नाते सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों के उपभोग का अधिकारी हो और नागरिक को उसके बदले राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी निभाने पड़ते हों। नागरिकता मनुष्य को राज्य द्वारा दिया हुआ कानूनी पद है। राज्य नागरिक को राजनैतिक अधिकार प्रदान करता है जो उसकी नागरिकता का प्रमाण है। अतः नागरिकता का वास्तविक अर्थ राजकीय अधिकारों का उचित प्रयोग तथा कर्त्तव्यों का योग्य रीति से पालन ही है। मनुष्य इन अधिकारों द्वारा अपनी तथा अपने समाज की भलाई करता है तथा त्याग और सेवा द्वारा मनुष्य मात्र की

सेवा करता है। नागरिकता के लिये राज्य की सदस्यता, अधिकारों की प्राप्ति, कर्त्तव्यों का पालन तथा राज्य के प्रति भक्ति का होना परमावश्यक है।

आधुनिक काल में नागरिकता शब्द का अर्थ व्यापक हो गया है। जैसे ऊपर कहा जा चुका है मनुष्य का जीवन केवल राष्ट्र से सीमित अथवा सम्बन्धित नहीं है। नागरिकता का अन्तर्राष्ट्रीय पहलू भी दृष्टिगोचर हो रहा है। साथ ही साथ मनुष्य केवल राज्य का ही सदस्य नहीं होता है। परन्तु मनुष्य निर्मित अनेकों, संस्थाओं समुदायों तथा संघों का भी सदस्य होता है। तथा इनसे उसका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इनसे उसे आत्मीयता का भाव भी होता है। ये मनुष्य जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। मनुष्यों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मनुष्य को इनसे कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं और उसकी उनके प्रति कुछ कर्तव्य भी होते हैं। नागरिकता की कसौटी तथा पहिचान और चरित्रवान व्यक्ति की पहिचान इसी में है कि वह इन भिन्न भिन्न संस्थाओं के प्रति अपने कर्त्तव्यों का सामञ्जस्य योग्य रीति से स्थापित करने में सफल हो। साथ ही साथ इन विविध समुदायों के प्रति कर्त्तव्यों के क्रम को निर्धारित करे। अतः नागरिकता का अर्थ व्यापक तथा व्यवहारिक होता जा रहा है। केवल अधिकारों की प्राप्ति तथा राज्य के प्रति स्वामि भक्ति ही सच्ची नागरिकता का चिह्न नहीं है। यह केवल बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान के विस्तार का विषय नहीं है। आदर्श तथा सच्ची नागरिकता का सम्बन्ध व्यवहारिक जीवन से है। यह ठीक ही कहा है कि Citizenship consists in right ordering of defferent loyalties. मनुष्य के दिन प्रतिदिन के व्यवहारिक जीवन के कर्त्तव्यों तथा अनेकों समुदायों के सम्बन्ध को निर्धारित करना ही सच्चा नागरिकता का स्वरूप है। इन अनेकों समुदायों तथा मनुष्यों के बीच न्याययुक्त तथा यथेष्ट सम्बन्ध स्थापित करना विरोधात्मक प्रतीत होता है परन्तु सच्ची नागरिकता इस विरोध को दूर करती है। पवित्र तथा स्वस्थ सम्बन्ध को निर्धारित करती है।

सच्ची नागरिकता हमें यह सिखलाती है कि प्रत्येक नागरिक इस प्रकार जीवन यापन करे कि उससे किसी प्रकार का विरोध न पैदा हो। साथ ही साथ उसके सब हितों की रक्षा होती रहे। यदि यह असम्भव हो जाय तो व्यक्ति को विस्तृत हित के समुदाय के लिये छोटे तथा अनावश्यक समुदायों के हित को गौण स्थान देना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का व्यापक विस्तृत हित इसी में है कि वह लघुतर निजी स्वार्थ को उच्चतर व्यापक हित के लिये बलिदान करे। Man's higher progress is a series of subordination of smaller self to higher and wider self. अर्थात् निजी स्वार्थ को कुटुम्ब के हित के लिये, कुटुम्ब के स्वार्थ को ग्राम के हित के लिये, ग्राम के स्वार्थ को नगर के हित के लिये व नगर के स्वार्थ को राष्ट्र के हित के लिये तथा राष्ट्र के स्वाथको अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं समृद्धि के लिये त्याग करने की क्रियात्मक भावना ही सच्ची नागरिकता का स्वरूप हैं। व्यक्ति का जीवन उसके कुटुम्ब के लिये उपयोगी तथा महत्वपूर्ण होता है। आपदकाल में प्रत्येक व्यक्ति कुटुम्ब के लिये अपने जीवन का बलिदान करता है। अपने स्वार्थ हित को भूल कर कुटुम्ब हित को उच्च समझकर उसके कल्याणार्थ कार्य करता है। मनुष्य के कर्त्तव्य तथा अधिकारों का दायरा केवल कुटुम्ब से ही सीमित नहीं है। मनुष्य को गाँव, नगर, राष्ट्र इत्यादि के लिए भी जीवन उत्सर्ग करना पड़ता है। राष्ट्र के उच्चतर हित के लिये राष्ट्र तथा समाज के सार्वजनिक हित के लिये उसे कभी कभी अपने कुटुम्ब अथवा ग्राम अथवा नगर के हित का बलिदान करना पड़ता है। मान लीजिये राष्ट्र पर विदेशी सत्ता का आक्रमण होता है, अथवा राष्ट्र में आर्थिक संकट आ जाता है। ऐसे समय व्यक्ति का कर्त्तव्य स्पष्ट है। प्रत्येक नागरिक को राष्ट्र के सार्वजनिक हित के लिये अपने स्वार्थ, अपने कुटुम्ब के स्वार्थ अथवा हित का बलिदान करके राष्ट्र के हित को प्रथम स्थान देना चाहिये, क्योंकि यदि राष्ट्र स्वतन्त्रता खो बैठता है अथवा आर्थिक संकट के

कारण दुर्बल हो जाता है तो यह स्थिति राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये अकल्याणकारी है। इस सार्वजनिक संकट से व्यक्ति का स्वहित, ग्राम का हित अथवा नगर का हित बहुत काल के लिये पिछड़ जायेगा। अर्थात् कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का उचित प्रयोग ही नागरिकता की कसौटी है। सच्ची नागरिकता की यही कसौटी है कि गौण हित को उच्चतर हित के लिये त्याग दे। तथा विवेक बुद्धि से अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का योग्य सन्तुलन करे। तथा प्रत्येक हित का योग्य स्थान निश्चित करे।

नागरिक का घनिष्ट सम्बन्ध कुटुम्ब, ग्राम, जिला, प्रान्त तथा राज्य और उसके अन्तर्गत समुदाय, संस्था इत्यादि से प्रतिदिन आता रहता है। इन प्रत्येक इकाई से वह लाभ भी उठाता है तथा उनको समृद्धिशील बनाने में सहायक भी होता है। सच्ची नागरिकता की यही कसौटी है कि मनुष्य इन प्रत्येक के प्रति अपने उचित सम्बन्ध निभा सके। व्यापक हित तथा योग्य सन्तुलित सम्बन्ध की वृद्धि कर सके। अर्थात् अच्छे चरित्रवान् नागरिक की यही पहिचान है कि वह इन सब सम्बन्धों में सामञ्जस्य स्थापित करे जिससे सामाजिक एकता व शान्ति बनी रहे। राष्ट्र व समाज के हित में भी वृद्धि होती रहे। तथा राष्ट्र और समाज की उन्नति होती रहे।

सच्ची नागरिकता का यही चिन्ह है कि व्यक्ति अपने छोटे से छोटे कर्त्तव्य को अथवा बड़े से बड़े कर्त्तव्य को योग्य रीति से निभाये। कर्त्तव्य तथा अधिकारों में ठीक ठीक सन्तुलन कर सके। सच्ची नागरिकता इसी में स्पष्ट है कि व्यक्ति माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र, स्त्री, पति इत्यादि प्रत्येक अवस्था में अपने कर्त्तव्य तथा अधिकारों का समतुलन करते हुए सामञ्जस्य स्थापित करता रहे। छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े सम्बन्ध में कर्त्तव्यशील होना ही सच्ची नागरिकता की कसौटी है।

कुटुम्ब वात्सल्य अथवा कौटुम्बिक प्रेम की भावना ही सच्ची नागरिकता का विस्तृत स्वरूप है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कुटुम्ब के सुख दुख को झेलने में प्रस्तुत होता है, परिवार की उन्नति एवं तिष्ठा के

लिए प्रयत्नशील रहता है, बच्चों के लिए स्नेह और रक्षा की भावना, बड़े बूढ़ों के प्रति आदर की भावना इत्यादि से परिवार में शान्ति तथा सुख की स्थापना करता है और परस्पर सहयोग, मेल-जोल की भावना से ओत प्रोत होकर कौटुम्बिक सम्बन्ध को दृढ़ तथा निश्चल बनाता है। उसी प्रकार यदि नागरिक कुटुम्ब के बाहर भी अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में इन भावनाओं का उपयोग करे तो वह सच्ची नागरिकता का प्रतीक बन जाता है। सच्ची नागरिकता का प्रमुख सिद्धान्त अन्य व्यक्तियों के जीवन को सुख पूर्ण, स्वस्थ, उन्नत तथा कर्त्तव्यशील बनाना ही है। सच्ची नागरिकता केवल अधिकारों और कर्त्तव्यों की लम्बी सूची का ज्ञान ही नहीं बल्कि सच्ची नागरिकता नागरिक के हृदय में लोक मंगलकारी क्रियात्मक एवं व्यवहारिक भावना का उदय ही है।

अधिकारों के जगत में ही नागरिकता का पूर्ण विकास हो सकता है। अधिकारों के बिना नागरिक जीवन निष्फल है। राज्य व्यक्ति को अधिकार देता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का विकास करे और समाज सेवा में योग दे। व्यक्ति अपनी उन्नति के साथ-साथ दूसरों की भी उन्नति करे—यही समाज सेवा का मूल है। जिस व्यक्ति के जीवन में ऐसी स्वच्छ नागरिकता का प्रवाह उत्पन्न हो जाता है, वह समाज हित, मानव हित व स्वहित की अभिन्नता अथवा ऐक्य का द्योतक बन जाता है। ऐसे भावों के ज्ञान को ही सच्ची नागरिकता कह सकते हैं।

यदि नागरिक अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है तो राज्य नागरिक को उसके अधिकारों से वंचित कर सकता है नागरिकता से वंचित व्यक्ति अपनी पूरी उन्नति नहीं कर सकता है प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन उपयोगी बनाने के लिए तथा अपनी पूर्ण उन्नति करने के लिए राज्य तथा समाज का सदस्य होना परमावश्यक है। राज्य की सदस्यता का अर्थ ही नागरिकता है। सच्ची नागरिकता एक अन्दरूनी प्रेरणा है। यह एक आशी-

वाद एक अनुपम देन है। सच्ची नागरिकता की भावना कोई किसी को दे नहीं सकता है। यही प्रेरणा मनुष्य को समाज सेवा, समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने की शक्ति, तथा कर्त्तव्यों और अधिकारों का योग्य रीति से पालन करने के लिये प्रेरित करती है।

सच्ची नागरिकता के ये चिन्ह हैं—(१) राज्य की सदस्यता (२) राज्य के अन्तर्गत कर्त्तव्यों का पालन तथा अधिकारों का उपभोग, विदेश में नागरिक के जान माल की रक्षा (३) सामाजिक जीवन में सामंज लाना तथा समाज की सर्वतोमुखी वृद्धि में प्रयत्नशील होना (४) समाज सेवा (५) सजग रीति से कर्त्तव्यों का पालन करना (६) राज्य के प्रति राज्य भक्ति की भावना रखना।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सच्चरित्र व्यक्ति में त्याग की भावना होगी। सच्ची नागरिकता तथा सच्ची देशभक्ति, त्याग और समाज सेवा के भित्ति पर ही स्थापित हो सकती है। सच्ची नागरिकता व मानवता विरोधात्मक भावनायें नहीं हैं। अर्थात् सच्ची नागरिकता, लोक कल्याणकारी भावना तथा मानवता ये पर्यायवाची शब्द ही हैं।

नागरिकता प्राप्ति के सिद्धान्त :—देश के सभी निवासी नागरिक नहीं होते हैं। इसलिये राज्य को यह जानना आवश्यक हो जाता है कि कौन नागरिक है और कौन नहीं है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है नागरिक तथा अनागरिक के कानूनी पद में भेद होता है। राज्य नागरिक को अनेकों कर्त्तव्यों के पालन के लिये बाध्य कर सकता है। परन्तु अनागरिक को उन सब का पालन नहीं करना पड़ता है। प्रत्येक राज्य में नागरिकता का निश्चय करने के भिन्न-भिन्न नियम हैं। प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के नागरिक होते हैं। जिन्हें स्वाभाविक अथवा जन्मसिद्ध नागरिक कह सकते हैं। तथा दूसरे वे जिनका जन्म किसी दूसरे राज्य में था, परन्तु बालिग़ होने पर अपनी इच्छा से दूसरे देश की नागरिकता स्वीकार करना चाहते हैं। ऐसी नागरिकता प्राप्त करने के कारण स्वार्थ, व्यापार अथवा सम्पत्ति

का लाभ ही होता है। अथवा कभी कभी शासन व्यवस्था अथवा सामाजिक व्यवस्था से त्रस्त होकर भी व्यक्ति अपनी जन्मसिद्ध नागरिकता त्याग कर राज्य कृत नागरिकता प्राप्त करने का इच्छुक होता है। राज्यकृत नागरिकता वह है जो जन्म से नहीं पाई जाती है। परन्तु जिसका स्वीकार स्वेच्छा से किया जाता है।

पहले जन्मसिद्ध नागरिकता का वर्णन किया जायेगा। इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। अलग अलग देश अपनी प्रथानुसार इनको व्यवहार में लाते हैं।

(१) **रक्त वंशाधिकार अथवा वंश सिद्धान्तः**—नागरिकता का निर्णय रक्त सम्बन्ध से ही किया जाता है। अर्थात् बच्चों की नागरिकता माता-पिता की नागरिकता पर ही निर्धारित की जाती है। यह प्रथा रोम में प्रचलित थी। इटली तथा जर्मनी ने इस सिद्धान्त को अपनाया है। जर्मन नागरिकों की सन्तान चाहे जर्मनी में पैदा हो, चाहे जर्मनी भूमि भाग के बाहर पैदा हो, वे जर्मन नागरिकता के हकदार हो जाते हैं। इसी प्रकार इटालियन नागरिक की सन्तान इटालियन नागरिक ही मानी जायेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता का सम्बन्ध जन्म स्थान अथवा भूमि भाग से नहीं है।

(२) **भूमि सीमाधिकार अथवा जन्म स्थान सिद्धान्तः**—इस सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता का निर्णय रक्त सम्बन्ध से न करके जन्म स्थान से निर्धारित किया जाता है। यह सिद्धान्त अरजण्टाइना में प्रचलित है। किसी विदेशी दम्पत्ति का बच्चा यदि अरजण्टाइना में पैदा होता है तो वह बच्चा अजरण्टाइना का नागरिक होगा। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उसके माता-पिता अरजण्टाइना के नागरिक हों। यदि अरजण्टाइना के नागरिकों की सन्तान अरजण्टाइना के बाहर पैदा हो तो वह बच्चा अरजण्टाइना का नागरिक नहीं माना जायेगा।

(३) उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के मेल से बना हुआ यह सिद्धान्त इंगलैण्ड अमेरिका, तथा फ्रांस आदि देशों में प्रचलित है। इन देशों के नागरिकों की सन्तान रक्त सम्बन्ध के अनुसार नागरिकता प्राप्त करती है। तथा इंगलैण्ड व अमेरिका के नागरिकों के बच्चे दुनियाँ के किसी भूमिभाग पर पैदा होने पर भी वे इंगलैण्ड अथवा अमेरिका की ही नागरिकता प्राप्त करते हैं। विदेशी नागरिकों की सन्तान यदि इंगलिस्तान अथवा अमेरिका के भूमिभाग पर पैदा हों तो वे इंगलैण्ड अथवा अमेरिका की नागरिकता प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं।

कभी कभी इन दोनों विरोधी सिद्धान्त से नागरिकता प्राप्त करने में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। फ्रांस के रक्तवंशाधिकार सिद्धान्त के अनुसार फ्रांस के नागरिकों की सन्तान, इंगलैण्ड में पैदा होने पर भी फ्रांस की ही नागरिकता प्राप्त करती है। परन्तु इंगलैण्ड के भूमि सीमाधिकार के अनुसार यदि वह सन्तान इंगलैण्ड की भूमि पर पैदा हुई है तो वह इंगलैण्ड की नागरिकता प्राप्त करती है। अर्थात् एक ही बच्चा दो सिद्धान्तों के अनुसार दोहरी नागरिकता प्राप्त करता है। दोहरी नागरिकता प्राप्त करने में लाभ न होकर हानि ही है। व्यक्ति एक समय एक ही देश का नागरिक होने का अधिकारी है। दो देश का एक साथ नागरिक नहीं हो सकता है। इसका कारण क्या है? दोनों देश के रीति-रिवाज, परम्परा, आचार-विचार में भेद हो सकता है। या उनके सिद्धान्त विरोधात्मक भी हो सकते हैं। इससे कुछ कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति का पूर्ण दायित्व एक ही राज्य पर रहे। यदि वह दो राज्यों का सदस्य होगा तो उसका दायित्व किस राज्य पर रहे यह प्रश्न उठ खड़ा होगा। ऐसे व्यक्ति को दोनों देश कदाचित अपना नागरिक समझ कर उसे अपने अधिकार में लाना चाहेंगे तथा दोनों ही देश इस व्यक्ति से राज्य भक्ति एवं कर्त्तव्य पालन की अपेक्षा करेंगे। यह स्थिति युद्धकाल में बहुत ही संकट पूर्ण हो जाती है। यदि दोनों राज्यों में

लड़ाई छिड़ जावे तो दोहरी नागरिकता प्राप्त व्यक्ति धर्म संकट में पड़ जाता है। वह किस देश की सेना में भर्ती होकर देश के प्रति कर्त्तव्य का पालन करें ? उसे एक न एक राज्य की नागरिकता को त्याग देना ही पड़ता है। इस समस्या का हल दो प्रकार से होता है। यदि बच्चे के जन्म के बाद माता पिता अपने देश को लौट जाँय या वयस्क होने पर व्यक्ति किसी एक देश की नागरिकता त्याग दे। इन सिद्धान्तों में कौन सा सिद्धान्त ज्यादा अच्छा है यह कहना बहुत ही कठिन है। मोटी तौर से कहा जा सकता है कि रक्तवंशाधिकार सिद्धान्त तर्कपूर्ण तथा विचार युक्त सा मालूम पड़ता है, और भूमिसीमाधिकार सिद्धान्त सरल एवं आसान है।

हर एक देश के अधिकांश नागरिक जन्मसिद्ध नागरिक होते हैं। वे ऊपर उल्लेख किये हुये तीन प्रकार से नागरिकता प्राप्त करते हैं। याता-यात की सुविधा के कारण भिन्न राष्ट्रों के नागरिकों का निकट सम्बन्ध आने लगा है। इसलिये कुछ लोग विदेश में जाकर बसते हैं। ऐसे इच्छुक व्यक्तियों को नये देश की नागरिकता कुछ शर्तों को पूरा करने से ही मिलती है। देश-देश में राज्य प्रदत्त नागरिकता के भिन्न-भिन्न नियम हैं। इसे देशीयकरण कहते हैं। विदेशियों को नागरिकता देना या न देना प्रत्येक देश की इच्छा पर निर्भर है। कोई भी शक्ति देशीयकरण के लिये दबाव नहीं डाल सकती है। कहीं कहीं न्यायालयों द्वारा ये अधिकार प्रदत्त होते हैं और कहीं कहीं (इंगलैण्ड में) ये अधिकार प्रधानमन्त्री द्वारा दिये जाते हैं।

(१) देशीयकरण अथवा राज्य प्रदत्त नागरिकता प्राप्त करने से पहले विदेशी को उस देश में कुछ अवधि तक वास करना आवश्यक है। अमे-रिका, जापान, इंगलैंड इत्यादि में पाँच वर्ष की अवधि नियम द्वारा नियत की है। फ्रांस में दस वर्ष तथा आस्ट्रेलिया व स्विजरलैंड में दो वर्ष की अवधि नियत की है। इसके उपरान्त प्रत्येक विदेशी को देशीयकरण के

लिये आवेदन-पत्र देना पड़ता है। इस आवेदन-पत्र द्वारा विदेशी देशीय-करण के लिये प्रार्थना करता है। विदेशी को राज्य के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ खानी पड़ती है। अपनी सच्चरित्रता का सबूत देना पड़ता है। राज्य में रहने, भरण पोषण की योग्यता आदि गुण तथा उस देश की भाषा का अच्छा ज्ञान, जमीन जायदाद का खरीदना तथा राज्य के तत्कालीन शासन पद्धति और सिद्धान्तों पर विश्वास आदि गुणों का होना देशीय-करण के लिए अत्यावश्यक है। देशीयकरण की मंजूरी के बाद व्यक्ति को सनद दी जाती है। कुछ देशों में देशीयकरण के नियम बहुत ही सख्त हैं जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में। कहीं कहीं ये नियम बहुत ही सरल है जैसे पेरु में। आस्ट्रेलिया में केवल श्वेतांग व्यक्ति नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं, रंगीन जाति वाले व्यक्ति नहीं। इसी प्रकार गोरे लोग तथा अफ्रीका के रहिवासी अमेरिका की नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु हिन्दुस्तानी, चीनी, जापानी, बर्मा निवासी इससे वंचित हैं। भारतीय अत्यधिक न्यून संख्या में अमेरिका की नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। राज्य प्रदत्त नागरि-कता प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति को पूर्ण सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जन्मसिद्ध नागरिक ही राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर सकता है। राज्यप्रदत्त नागरिकता प्राप्त व्यक्ति केवल इसी पद से वंचित किया गया है। इसके अतिरिक्त वह सब उच्चपद ग्रहण कर सकता है। १९२४ से इंगलैंड में राज्यप्रदत्त नागरिकता एवं जन्मसिद्ध नागरिकता में जो उच्चपद के ग्रहण में भेद थे वे हटा दिये गये हैं।

देशीयकरण के अतिरिक्त नागरिकता प्राप्त करने की अन्य विधियाँ

(१) **विवाहः**—जब कोई स्त्री विदेशी से विवाह करती है तो उसे पति के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। साधारणतया यह नियम

सब देशों में लागू है। जिन रूसी स्त्रियों ने विदेशियों से विवाह किया था उन्हें अपना देश छोड़ने की आज्ञा नहीं मिली। जापान में यह नियम है कि यदि जापानी स्त्री किसी विदेशी से विवाह कर लेती है, तो उसका पति जापान का नागरिक हो जाता है।

(३) **सरकारी नौकरी:**—यदि कोई विदेशी सरकारी पद पर नियुक्त कर दिया जावे, तो वह विदेशी उस देश का नागरिक बन जाता है।

(४) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सेना में यदि कोई विदेशी एक वर्ष के लिए भर्ती हो जाय तो वह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का नागरिक बन जाता है।

(५) पेरु तथा मैक्सिको में जमीन अथवा मकान खरीदने से विदेशी वहाँ का नागरिक बन जाता है।

(६) युद्ध के उपरान्त पराजित देश के नागरिक विजयी देश के नागरिक बन जाते हैं यदि कोई देश अपनी राज्य की भूमि विदेश को दे देता है तो उस भूमि के व्यक्ति दूसरे देश के नागरिक हो जाते हैं।

(७) **गोद लेना:**—यदि कोई विदेशी पुरुष किसी बच्चे को गोद लेले तो वह बच्चा बाप के देश का नागरिक बन जाता है।

(८) इंगलैंड में यह कानून है कि इंगलैंड के जहाज पर पैदा हुई विदेशी माता पिता की सन्तान, इंगलैंड की नागरिक बन जाती है।

पुनः नागरिकता प्राप्त:—देशीयकरण के पश्चात् यदि नागरिक चाहे तो वह पुनः अपनी जन्म सिद्ध नागरिकता प्राप्त कर सकता है।

जैसे नागरिकता की प्राप्ति होती है वैसे ही नागरिकता खोई भी जा सकती है। नागरिकता के लोप होने के अलग-अलग देशों में अलग-अलग कारण हैं।

(१) जब कोई स्त्री विदेशी से विवाह कर लेती है तो वह अपने देश की नागरिकता खो बैठती है।

(२) यदि कोई नागरिक विदेश में सरकारी नौकरी कर लेता है अथवा सेना में भर्ती हो जाता है तो वह अपने देश की नागरिकता खो बैठता है।

(३) नागरिक अपनी नागरिकता से इस्तीफा देकर अनागरिक बन सकता है।

(४) कुछ राज्यों में यह नियम है कि यदि कोई नागरिक निश्चित अवधि से अधिक काल तक अपने देश के बाहर रहे तो वह अपनी नागरिकता खो बैठता है।

(५) फौज से भागा हुआ फौजी, देश द्रोही, खूनी, घोर अपराधी, पागल, भिखारी सरकारी नौकरी से पदच्युत व्यक्ति नागरिकता से वंचित किये जाते हैं। कुछ देशों में स्त्रियाँ भी नागरिकता से वंचित रहती थीं। परन्तु अब अधिकांश देशों में स्त्रियों को नागरिकता का अधिकार प्राप्त है।

अधिकांश पाश्चात्य देशों में २० अथवा २१ वर्ष की आयु में व्यक्ति नागरिकता के अधिकार को प्राप्त कर लेता है। भारतीय गणराज्य संविधान के अनुसार वयस्क मताधिकार की प्रथा प्रचलित कर दी है भारतीय नागरिकता २१ वर्ष में प्राप्त हो जाती है।

देशीय करण के अधिकार प्रदान करने में जैसा ऊपर कहा जा चुका है अधिकांश देशों में भेदभाव की मनोवृत्ति दिखलाई देती है। अमेरिका में रेडइंडियन तथा गोरों में भेदभाव किया जाता है। दोनों जातियों के लिये नागरिकता के भिन्न-भिन्न नियम लागू हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिका में चीन, बर्मा, जापान और भारतीय निवासी वहाँ की नागरिकता से वंचित किये गये हैं। आस्ट्रेलिया में भी संकीर्ण मनोवृत्ति नजर आती है। आस्ट्रेलिया के गोरे निवासी काले तथा एशिया के निवासियों को आस्ट्रेलिया की नागरिकता से वंचित रखना चाहते हैं। उसी प्रकार अफ्रीका में लम्बी अवधि तक रहे हुए हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध तथा वे हिन्दुस्तानी जो अफ्रीका को ही अपना देश मानना चाहते हैं, ऐसे हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध देशीयकरण से वंचित करने के लिये आन्दोलन चल

रहा है। अर्थात् समस्त संसार के नागरिकों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी काला, गोरा, एशिया का निवासी इत्यादि रंगरूप से सम्बन्धित भेदभाव दिखलाई देते हैं। एक जाति, एक राष्ट्र अथवा एक रंग के नागरिक दूसरे नागरिकों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। तथा उन्हें देशीयकरण से वंचित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। कुछ जाति अपने को उच्च जाति का समझते हैं। तद्र्थ दूसरों को नीचा समझते हैं। इस मनोवृत्ति का परिणाम संसार के लिये भयावह होगा। यही मनोवृत्ति युद्ध और संघर्ष का बीजारोपण करती है। लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के इस युग में हमें एक कदम मानवता की ओर उठाना ही होगा और इस भेदभाव एवं संकीर्णता का भावना को हृदय से हटाना ही होगा। नहीं तो इस सभ्यता और संस्कृति का विनाश अवश्यम्भावी है।

समाज व राष्ट्र के मौलिक सिद्धान्त, व आदर्श नागरिक के गुणः—(१) सर्व प्रथम आवश्यक गुण जो सच्चे नागरिक में होना चाहिये वह है लोक सेवा, त्याग और निस्वार्थ समाज सेवा। सच्चे नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य के भवमूदि के लिये तथा सभ्यता और संस्कृति की उन्नति के लिये अथवा परिश्रम करे। नागरिक का ग्राम प्रान्त परिवार, देश, समुदाय इत्यादि से घनिष्ट सम्बन्ध आता है। इनका वातावरण शुद्ध बनाना तथा अपना कर्त्तव्य पालन करना प्रत्येक आदर्श नागरिक का सर्वोच्च गुण है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि उच्चहित एवं गौणहित में किसी प्रकार का विरोध अथवा संघर्ष पैदा न होने दे। यदि नागरिक मनुष्यता के विकास का ध्येय सामने रखता है तो गौण तथा उच्चहितों के प्रति स्वामि भक्ति में संघर्ष कदापि नहीं हो सकता है। सच्ची नागरिकता भक्तियों के उचित रीति से संगठन एवं परिस्थिति व वातावरण के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति को ढालना ही है। विशाल दृष्टिकोण रखते हुये समाज एवं राज्य के हित को प्रमुख स्थान दे, इसी में उसका तथा समाज का सामूहिक हित सम्भव है।

(२) सहिष्णुता, सहयोग, विशाल हृदयता, अनुशासन तथा कर्त्तव्य निष्ठा ये गुण अच्छे नागरिक में होना आवश्यक है। आज के समाज तथा राष्ट्र में संघर्ष, विद्रोह, स्वार्थपरता, असमानता, प्रतिद्वन्द्विता इत्यादि प्रवृत्तियों की अत्यधिक वृद्धि हो रही है। आज राष्ट्रों का, समाजों का, तथा समुदायों का निकट सम्बन्ध आता जा रहा है। इस कारण राष्ट्रों, समाजों, एवं समुदायों में परस्पर सहयोग की भी आवश्यकता बढ़ती जा रही है। सामूहिक जीवन में भी एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। परन्तु मनुष्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है? व्यक्तित्व के विकास के साथ साथ ही स्वार्थान्धता, विचारों में संकीर्णता, कर्त्तव्य विमुखता, सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता, चारित्रिक ह्रास, असन्तोष, लालसा, दायित्व शून्यता, असामाजिक प्रवृत्तियों की उत्पत्ति इत्यादि अवगुणों की वृद्धि भी होती जा रही है। यह प्रवृत्तियाँ राष्ट्र एवं समाज को तहस नहस कर देंगी। अनीति, अन्याय एवं संघर्ष पर स्थित समाज, उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता है। इसलिये कुटुम्ब, समुदाय, समाज, पाठशालायें इत्यादि का यह महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के सम्मुख अच्छी नागरिकता का चित्र खींचे, अथवा प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी नागरिकता की शिक्षा दे और अच्छी नागरिकता का चित्र उसके हृदय पर अंकित करें। यदि ऐसा नहीं किया जायेगा तो संसार का भविष्य संकटमय हो जायेगा।

(३) व्यवहारिक वृद्धि एवं ज्ञान की ज्योति भी प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होनी चाहिये। अच्छे नागरिक होने के लिये इनकी भी आवश्यकता है। नागरिक शास्त्र का ज्ञान तथा समाज की समस्याओं का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिये। इसी ज्ञान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य योग्य रीति से कर सकेगा। अज्ञानतावश तथा व्यवहारिक बुद्धि की कमी के कारण ही बहुत बार व्यक्ति समाज में खराबियाँ पैदा करता है।

(४) नैतिक अधःपतन का बहुत कुछ कारण है आत्म-संयम की कमी तथा अध्यात्मिक गुणों के प्रति अवहेलना की भावना। आज व्यक्ति काला बाजार, चोरी, दगाबाजी खुलेआम करता है। समाज ने नीति, धर्म आध्यात्मवाद को 'पुरातन' एवं दकियानूसी समझकर ठुकरा दिया है। व्यक्ति का लोभ बढ़ गया है, तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रति लोगों की उदासीनता बढ़ गई है। समाज ने इन सिद्धान्तों को पुरातन समझकर त्याग दिया है। परन्तु समाज को सुसंगठित रखने के लिये उनके स्थान पर नये सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की है। प्रत्येक समाज को सुसंगठित रखने के लिये कुछ मौलिक सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। उसके बिना कोई समाज स्थायी नहीं रह सकता है।

(५) अर्थ संचय व शारीरिक सुख ही जीवन का ध्येय बन गया है। इन सब से समाज का वातावरण विशुद्ध हो गया है और समाज की तह विस्खलित हो गई है। समाज को अधिक पतन से बचाने के लिये अच्छी नागरिकता का स्वरूप नागरिकों के सामने रखना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अच्छी नागरिकता की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए।

(६) राज्य को प्रत्येक नागरिक की आर्थिक दशा सुधारने का भर-सक प्रयत्न करना चाहिये। राज्य एवं समाज से आर्थिक असमानता को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। आर्थिक परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये कि समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके तथा उसको समान अवसर प्राप्त हो। गरीबी, चरित्रवान नागरिक पैदा नहीं कर सकती है। आर्थिक असमानता ही नैतिक पतन का कारण बन जाती है। आर्थिक असमानता ही सामाजिक असमानता, ऊँच नीच के भेद को प्रोत्साहित करती है। न्याययुक्त आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक परिस्थिति को ठीक किये बिना व्यक्तित्व का विकास तथा नागिरकता के गुणों की स्थापना सम्भव नहीं है। सरकार बंक बीमा, पेशन फंड इत्यादि की व्यवस्था व्यक्ति की आर्थिक उन्नति के लिये करती है। सरकार रुग्णालयों तथा

अस्पतालों का प्रबन्ध शारीरिक स्वास्थ्य के सुधार के लिये करती है। सरकार को इन सब का अच्छा तथा प्रचुर प्रबन्ध करना चाहिये। जिससे राज्य का प्रत्येक निवासी उससे लाभ उठा सके। सरकार को बेकारी तथा गरीबी को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये। ये ही नागरिक के आत्मोन्नति में बाधक हैं।

(७) अच्छे नागरिक का ध्येय अन्तरराष्ट्रीय भ्रातृत्व, विश्व एकता तथा मानव समाज में समानता को स्थापित करना होना चाहिये। ये काम उदाहरण द्वारा व प्रचार द्वारा करने चाहिये। प्रेम, एकता तथा बन्धुत्व की भित्ती पर बना हुआ राज्य और समाज सुसंगठित तथा मजबूत होगा। ये ही अच्छी नागरिकता के लक्षण हैं। प्रत्येक नागरिक को ये ध्येय आचरण में लाने चाहिये तथा उनका प्रचार करना चाहिये।

(८) अच्छा नागरिक वह व्यक्ति है जिसमें दूसरों के प्रति श्रद्धा, सेवा की भावना, सहानुभूति निर्भीकता से अपने विचारों तथा सिद्धान्तों को प्रकट करने की क्षमता, राजनैतिक व सामाजिक कार्यों के प्रति अभिरुचि इत्यादि गुण मौजूद हैं। प्रजातन्त्र राज्य तो ऊपर लिखे हुए गुणों से ही सफल हो सकता है। प्रजातन्त्र तभी सफल हो सकता है जब नागरिक राज्य के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लें। संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि आदर्श नागरिक, अच्छा पिता, अच्छी माता, अच्छा पति, अच्छी पत्नी, अच्छी सन्तान अच्छा मित्र, अच्छा कार्यकर्ता, दूसरों की सहायता में तत्पर तथा सार्बजनिक कार्यों में भाग लेने वाला होना चाहिये।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधायें

(१) शिक्षा व अज्ञानता:—नागरिक की पूर्ण उन्नति में सबसे पहली बाधा है अशिक्षा के कारण उत्पन्न होने वाली अज्ञानता। शिक्षा ही अज्ञानता के अन्धकार को नष्ट करती है। शिक्षा ही भले बुरे का ज्ञान, कर्त्तव्य तथा अधिकारों का ज्ञान नागरिक को देती है। ज्ञान के न होने

से चारित्रिक बल का भी अभाव हो जाता है। लोकतन्त्र राज्य सफल तथा सचेत जनमत पर ही निर्भर हैं। जिम देश के नागरिक आलस्य पूर्ण उदासीन हैं उस देश का भविष्य अन्धकारपूर्ण होगा। अर्थात् जिस देश के नागरिक अपने कत्तव्यों का पालन, "लाभदायक नहीं है और लोग तो कर ही रहे हैं" यह कह कर टाल देते हैं। सब प्रकार की समस्याओं से विमुख हो जाते हैं और मत देने नहीं जाते हैं—उस देश में प्रजातन्त्र राज्य सफल नहीं हो सकता। अच्छी शिक्षा द्वारा ही मनुष्य में कर्त्तव्य निष्ठा तथा दायित्व की भावना का उदय हो सकता है। वोट का अधिकार, निर्वाचन का अधिकार सरकारी पद का अधिकार इत्यादि का सदुपयोग शिक्षा द्वारा ही सिखलाया जा सकता है।

(२) **दरिद्रता**—दरिद्रता अच्छे नागरिक के मार्ग में रोड़े डालता है जिस समाज में दरिद्रता और वेकारी फैली हुई है उस समाज में आदर्श नागरिक नहीं होंगे। जिस समाज में अधिकांश व्यक्तियों को रात दिन भोजन की चिंता लगी रहती है तथा जिस समाज में मनुष्य की आर्थिक अवस्था अनिश्चित है ऐसे व्यक्तियों को उच्च विचारों के लिए समय कहाँ ? दरिद्रता हरेक मनुष्य में अनेकों चरित्र दोप तथा अन्य असामाजिक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है। दरिद्रता अच्छी प्रवृत्तियों को दबा देती है, तथा मनुष्य को अनीति के मार्ग पर अग्रसर करती है। अच्छी नागरिकता की उत्पत्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये। तभी उच्च जीवन सम्भव है। सांस्कृतिक एवं सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के लिए समय (Leisure) होना चाहिये। यह तभी संभव है जब समाज की आर्थिक अवस्था अच्छी हो। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन निर्वाह ठीक रीति से हो अर्थात् सब को भर पेट अन्न, रहने के लिए मकान तथा शरीर ढकने के लिए कपड़े उपलब्ध हों, और शिक्षा का प्रबन्ध हो।

(३) **वर्ण-व्यवस्था, साम्प्रदायिकता तथा अनुचित दलबन्दी**:—जो समाज वर्ण, जाति तथा साम्प्रदायिकता के भेदों से ओत-

प्रोत है वह समाज आगे नहीं बढ़ सकता है तथा ऐसे समाज का विकास सम्भव नहीं है। ऐसे समाज के नागरिकों का दृष्टिकोण सीमित तथा एकांगी होता है भेद भाव की प्रवृत्ति समाज और राष्ट्र में फूट पैदा करती है। वे राष्ट्र के सार्वजनिक हित को भूल कर वर्ण, जाति एवं सम्प्रदाय के सीमित हित की पूर्ति में लगे रहते हैं। क्रमशः जनता में समाज हित व राजनैतिक हित की भावना लोप हो जाती है। इससे देश और समाज में गिरोह बन्दी पैदा हो जाती है। दलबन्दी और साम्प्रदायिकता, वर्ण भेद, इत्यादि समाज में द्वेष, असहिष्णुता, संघर्ष, परस्पर विरोध की भावना की वृद्धि करते हैं। फलस्वरूप समाज में अस्वस्थ्यकारी भावनायें फैल जाती हैं। आर्थिक असमानता अर्थात् अति धनी व अति दरिद्र के अस्तित्व से भी समाज में उपरोक्त भावनाओं का प्रादुर्भाव होता है। ये सब अच्छी नागरिकता के बाधक हैं। हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ने से इस बात का पद-पद पर ज्ञान होता है। देश के विभाजन तथा देश के नैतिक पतन के मुख्य कारण यही हैं।

(४) साम्राज्यवाद तथा संकीर्ण राष्ट्रीय भावना—उग्र राष्ट्रवाद की भावना आदश नागरिक बनने के लिए घातक है। उग्र राष्ट्रवाद के ही कारण हिटलर ने यहूदियों पर नृशंसतापूर्ण व्यवहार किया। उग्र राष्ट्रवाद के फल स्वरूप ही पश्चिमी राष्ट्र अफ्रीका व एशिया वासियों पर अत्याचार कर रहे हैं। उग्र राष्ट्रीयता दया, क्षमा, त्याग, आत्म संयम इत्यादि भावनाओं को नष्ट करती है। तथा मनुष्य की सांस्कृतिक, नैतिक तथा आत्मिक उन्नति असम्भव कर देती है।

धन मनुष्य के जीवन के लिए परमावश्यक है। परन्तु धन कमाना व पैसा जोड़ना ही जीवन का उद्देश्य हो जाता है, तब मनुष्य को उचित, अनुचित, न्याय, अन्याय का विचार नहीं रह जाता है। पूँजीवादी मनोवृत्ति दया, प्रेम, सहानुभूति, उदारता सहृदयता, आदि गुणों का नाश करती है।

पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, तथा उग्रराष्ट्रीयता मनुष्य का दृष्टिकोण सीमित कर देती है। ये ऊँच-नीच, हिंसा, असत्य, चोरी, दगाबाजी, असहिष्णुता इत्यादि भावनाओं को जागृत करते हैं। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद तथा राष्ट्रीयता ही आधुनिक युद्ध, अशान्ति तथा संघर्ष के कारण हैं। विस्तृत मानव समाज के विकास में ये बाधक हैं। आर्थिक एवं राजनैतिक परतन्त्रता मनुष्य के विकास में बाधक हैं। उदाहरणार्थ परतन्त्र देश के निवासी अपना विकास स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकते हैं। अर्थात् परतन्त्रता, साम्राज्यवाद, संकीर्ण राष्ट्रीय भावना तथा पूँजीवाद, अच्छी नागरिकता की उत्पत्ति में बाधक हैं। पिछले दो महायुद्ध साम्राज्यवाद तथा अंधराष्ट्रीयता के फलस्वरूप ही छिड़े थे।

(५) स्वार्थ परताः—आदर्श नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज हित को व्यक्तिगत हित के ऊपर स्थान दे। स्वार्थी मनुष्य अपना तथा अपने कुटुम्बियों के हित को उच्च स्थान देता है। स्वार्थी मनुष्य चुनाव के अवसर पर स्वार्थ पूर्ति के लिये बुरे मनुष्य को भी मत प्रदान कर देता है। जब स्वार्थी मनुष्य किसी ऊँचे पद पर पहुँच जाता है तो देश और समाज की भलाई को भूलकर अपनी तथा अपने कुटुम्ब की भलाई में संलग्न हो जाता है। धूर्तता तथा असत्य दोनों ही स्वार्थपरता के साथी हैं। स्वार्थपरता का भीषण रूप हम बंगाल के अकाल के समय पाते हैं। अच्छी फसल होने पर भी बंगाल में लाखों मनुष्य क्षुधा से जर्जरित थे। क्योंकि कुछ धनी व्यक्ति स्वार्थपरता तथा धन लोलुपता की भावना पर अनुशासन न कर सके। उन्होंने चावल जैसे आवश्यक वस्तु का अस्वाभाविक अभाव पैदा कर दिया था। जब संसार में करोड़ों मनुष्य क्षुधा से पीड़ित हैं, तब भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में गेहूँ का दाम बढ़ाने के लिये गेहूँ को जलाकर भी गेहूँ के बाजार में अकृत्रिम कमी करते हैं। इन सब का मूल है स्वार्थपरता, धूर्तता तथा असत्य स्वार्थान्धता ही सब दुखों का तथा असमानता का मूल है। इसके अलावा अधिकांश मनुष्य सामाजिक कार्य तथा सार्वजनिक

कार्यों के प्रति उदासीन होते हैं। अधिकांश मनुष्य इनके प्रति अपनी कुछ भी जिम्मेदारी नहीं महसूस करते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार सोचेगा तो समाज व राष्ट्र का कार्य ही नहीं हो सकेगा। सच्ची नागरिकता की उत्पत्ति इन दुर्गुणों को हटाकर ही हो सकती है।

(६) **चरित्र बल की कमी**:—किसी भी संस्था, राष्ट्र अथवा समाज की रचना अच्छी नागरिकता पर ही निर्भर है। इसलिये राजनैतिक, सामाजिक शिक्षा का प्रचार अनिवार्य है। शारीरिक तथा भौतिक उन्नति के साथ साथ चरित्र बल भी आवश्यक है। आधुनिक जगत में बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उन्नति की पराकाष्ठा है। चरित्र वल तथा नैतिक वृद्धि को अति गौण स्थान दिया गया है। हमारे समाज में, राष्ट्र में, विद्यालयों में, बुद्धि प्रखरता, तर्कयुक्तता, एवं वैज्ञानिक जगत की खोज करने वाले ही प्रशंसा के पात्र माने जाते हैं। नैतिक बल एवं आत्मिक वल का गौण स्थान हो गया है ये गुण राष्ट्र तथा समाज के नेताओं के दृष्टिकोण के बाहर की वस्तु माने जाते हैं। अर्थात् राष्ट्र और समाज की एकांगी उन्नति हो रही है। उपयुक्त शिक्षा तथा सच्ची नागरिकता की शिक्षा मानव समाज को गहरी खाई में गिरने से बचा सकती है।

आर्थिक असमानता:—हरेक मनुष्य की भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज की आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी सुधार की आवश्यकता है। केवल आर्थिक सुधार से ही काम पूरा नहीं होगा। साथ ही साथ राष्ट्र और समाज की रचना प्रेम सहानुभूति, समानता की भित्ति पर करना परमावश्यक है तभी मनुष्य के अन्दर वास करने वाली सुन्दर प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हो सकता है। इसी से सच्ची नागरिकता का जन्म सम्भव है।

अध्याय १९

अधिकार तथा कर्त्तव्य

अधिकार की परिभाषा तथा उनके आवश्यक तत्व :—नागरिकता की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि अधिकार व कर्त्तव्यों का समुचित प्रयोग ही नागरिकता है। इसलिए अधिकार व कर्त्तव्य क्या है यह जानना आवश्यक है। यह भी कहा जा चुका है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसका विकास समाज में ही हो सकता है क्योंकि मनुष्य के विकास के लिए जिन परिस्थिति की आवश्यकता होती है वह समाज में ही प्राप्त होती है। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य को अधिकाधिक सुविधाओं की आवश्यक प्रतीत होने लगी है। सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज वही है जिसमें मनुष्य के पूर्ण विकास की सुविधायें उपस्थित हों! आज पूर्ण विकास का अर्थ है मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक तथा भावनाओं का विकास। असभ्य जंगली समाज में जब मानसिक विकास का प्रारम्भ नहीं हुआ था, व्यक्ति अपनी तथा अपनी संतान की प्राण-रक्षा से ही मतलब रखता था। शक्ति प्रयोग द्वारा ही इस आवश्यकता की पूर्ति कर लेता था। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ यह सब कार्य समाज तथा राष्ट्र ने अपने ऊपर ले लिये हैं।

मनुष्य जब अपने विकास के लिये कुछ सुविधाओं की माँग करता है तो वह सुविधायें केवल वैयक्तिक लाभ की माँगें नहीं हो सकती हैं। क्योंकि मनुष्य समाज में रहता है और उसकी क्रिया का समाज पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ चोरी करना, बदमाशी करना, दूसरों पर अत्याचार करना, शराब पीकर मारपीट करना, दूसरों का घर जला देना इत्यादि।

उपरोक्त माँगे उचित नहीं हैं। यदि एक व्यक्ति की माँगे पूरी की जावें तो उससे समाज को तथा दूसरे व्यक्तियों को कष्ट भी होगा तथा हानि भी होगी। व्यक्ति की माँगों में उचित तथा अनुचित का ध्यान भी रखना होता है और साथ ही साथ उसका फल सबों के लिये अच्छा हो, अथवा वे समाजहित के मापदण्ड से नापी जा सकें इसका भी ख्याल रखना होता है। केवल मांग ही अधिकार नहीं हो जाते हैं। प्रत्येक माँग के पृष्ठभाग में सामान्य हित के साथ ही साथ समाज की स्वीकृति भी आवश्यक है। समाज तभी किसी माँग को स्वीकृति देगा जब माँग में समाज हित निहित हो व उससे समाज की उन्नति सम्भव हो। अर्थात् अधिकार में तीन बातें आवश्यक हैं !

(१) अधिकार एक मांग है (२) इसका उद्देश्य व्यक्ति विशेष का नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज का हित है। (३) यह मांग समाज द्वारा स्वीकार की जाती है। यदि कोई मांग समाज द्वारा स्वीकार न की जाय तो वह अधिकार नहीं केवल मांग है। प्रत्येक मांग के पीछे समाज की समस्त नैतिक शक्ति रहती है। इसलिए अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक सा होता है। अर्थात् समानता प्रत्येक व्यक्ति अधिकार का मूल है। इसके बिना अधिकार का मूल तथा महत्व नगण्य है। यदि माँग के पीछे समाज की स्वीकृति न हो तो मांग की पूर्ति शक्ति द्वारा ही की जा सकती है। यदि अधिकार को शक्ति मान लिया जावे तो इसका फल कार्य रूप में यह होगा कि समाज अस्तव्यस्त हो जायेगा, तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी मांग की पूर्ति लड़ झगड़कर कर लेगा। फल स्वरूप किसी के भी अधिकार सुरक्षित नहीं रह जायेंगे।

वर्ग, लिंग, जाति, वर्ण इत्यादि के भेदभाव से रहित सार्वजनिक हित ही नागरिक शास्त्र का वास्तविक ध्येय है। इस हित की पूर्ति के लिये तथा समाज में सुसंगठित जीवन के लिये कर्तव्य तथा अधिकारों की सृष्टि आवश्यक है जिसमें सार्वजनिक हित का ही लक्ष्य हो। नागरिक शास्त्र में हम

कर्तव्य तथा अधिकार का पठन करते हैं। अधिकारों की आवश्यकता ही क्या है ? मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए समाज जिन सुविधाओं का प्रबन्ध करता है उसे अधिकार कहते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल से अपने विकास के विभिन्न साधनों का आविष्कार करता है। समाज उन्हीं अधिकारों को अथवा साधनों को अंगीकार करता है जो सार्वजनिक हित के लिये हो, सार्वजनिक हित की वृद्धि करते हो, और समाज की रचना में बाधक न हो। अर्थात् समाज ही में अधिकार की प्राप्ति हो सकती है और समाज ही में मनुष्य अपने शक्ति के स्वतन्त्र प्रयोग की मांगें अधिकार रूप में प्राप्त करता है, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है समाज और व्यक्ति पृथक नहीं हैं। उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कभी कभी व्यक्ति यह सोचता है कि समाज का हित व व्यक्ति का हित विरोधात्मक है परन्तु यह ठीक नहीं। व्यक्ति तथा समष्टि के हितों में कोई अन्तर नहीं। व्यक्ति अपना हित समाज में ही प्राप्त कर सकता है तथा समाज का हित व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है।

अधिकार की व्याख्या:—अधिकार व्यक्ति की वे माँगे हैं जो व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करने में सहायक हों, तथा जो दूसरे व्यक्ति को पूर्णता प्राप्ति में बाधक न हों तथा जो सामूहिक हित के अनुकूल हो समाज की स्वीकृति के बाद ही मांगों का स्वरूप अधिकारों में परिणित हो जाता है। मनुष्य की पूर्णता अधिकारों द्वारा ही हो सकती है। प्रत्येक अधिकार के पीछे समाज का शारीरिक व नैतिक बल होता है। तथा समाज सामूहिक रूप से इन अधिकारों की रक्षा करता है। प्रत्येक अधिकार की उत्पत्ति वैयक्तिक तथा सामूहिक आवश्यकता के कारण होती है। अधिकारों की उत्पत्ति समाज में ही होती है। राज्य उनको स्वीकार करता है तथा कानूनों द्वारा उनकी रक्षा करता है अधिकार विकास पूर्ण होते हैं। ये अस्थयी व परिवर्तनशील भी होते हैं। सभ्यता संस्कृति एवं विचारों के साथ साथ इनका विकास होता रहता है। अतः राष्ट्र एवं समाज की उन्नति के स्तर के अनुसार ये भी स्थानानुकूल तथा समयानुकूल बदलते व बनते रहते हैं।

कर्त्तव्य व अधिकारों का सम्बन्धः—कर्त्तव्य तथा अधिकार में लेन देन का सम्बन्ध है। अधिकार के साथ ही साथ कर्त्तव्य भी गुथा है। कर्त्तव्य के बिना अधिकार ठहर ही नहीं सकता है। अधिकार वह वस्तु है जो हम दूसरे से पाते हैं, अर्थात् इसमें हमारा लाभ है। कर्त्तव्य वह कार्य है जो हम दूसरे के लिए करते हैं। अर्थात् इसमें हमारी हानि है। परन्तु यह गलत धारणा है। कर्त्तव्य दूसरे के लिए किए गये कार्य का द्योतक है। समाज में रहने के कारण हम सब को एक दूसरे के लिए कुछ न कुछ करना पड़ता है, और कुछ करने से अपने आप को रोकना पड़ता है। ऐसा करने से ही हम अपने लिए तथा अन्य व्यक्तियों के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं। समाज शास्त्र में इसी का नाम कर्त्तव्य है। अधिकार हमें समाज द्वारा प्राप्त होते हैं। अर्थात् दूसरे व्यक्ति इन अधिकारों के उपभोग में व्यक्ति की सहायता करते हैं। तथा उनकी यथोचित रक्षा करते हैं। जब तक दूसरे व्यक्ति अधिकारों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य अथवा धर्म नहीं समझते हैं तब तक अधि-कारों का अस्तित्व असम्भव ही है। अधिकारों का अन्तिम आदर्श कर्त्तव्य की पूर्ति है। कर्त्तव्य को ही पूरा करने के लिए अधिकार समाज द्वारा दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ राज्य और समाज की ओर से मुझे जीवन रक्षा का तथा सम्पत्ति का अधिकार समाज द्वारा प्राप्त है। समाज के हर एक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह मेरी सम्पत्ति एवं जीवन का हरण न करे। जो व्यक्ति दूसरों के अधिकारों का हरण करता है उसे राज्य दण्ड देता है। क्योंकि यदि हर एक व्यक्ति कर्त्तव्यों को भूल कर केवल अधिकार प्राप्ति ही अपना ध्येय बना ले तो सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन अस्थायी तथा कष्टमय हो जायेगा। समाज तब तक ही रह सकता है जब तक मनुष्य एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। बिना इसके समाज में मारकाट होने लगेगी। समाज तभी तक रह सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का ठीक ठीक उपभोग

कर सके तथा दूसरों के उपभोग में कोई बाधा न डाले अर्थात् अपने कर्त्तव्यों का पालन करता रहे।

इस प्रकार कर्त्तव्य और अधिकारों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक ओर से देखने में वे कर्त्तव्य नजर आते हैं तथा दूसरी ओर से देखने में वे ही अधिकार नजर आते हैं। जिस प्रकार सिक्के के दोनों तरफ अलग नहीं किये जा सकते हैं उसी प्रकार कर्त्तव्य और अधिकार एक दूसरे से लगे हुए हैं। अर्थात् अधिकारों के गर्भ में ही कर्त्तव्य छिपा है।

यह ठीक ही कहा गया है कि कर्त्तव्य और अधिकार एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। वे दो दृष्टिकोणों से देखी गई एक ही वस्तु है वे एक दूसरे पर अवलम्बित है। बाइल्ड का कथन है "कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकार का महत्व है" डॉ० बेनीप्रसाद के अनुसार "अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे तो शीघ्र ही किसी के लिए अधिकार नहीं रहेंगे"। लास्की का कथन है कि हमें कर्त्तव्य पालन के लिए कुछ अधिकारों की जरूर होती है। उदाहरणार्थ मैं समाज का हित कर सकूँ इसलिए यह आवश्यक है कि मैं उसके योग्य बन सकूँ। जैसे शिक्षा के बिना मैं कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन नहीं कर सकूँगी। इसलिए मुझे शिक्षा का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। इस प्रकार कर्त्तव्य तथा अधिकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाने के लिए असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं।

हिन्दू धर्म-पुस्तकों में कर्त्तव्यों और धर्म का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। परन्तु आधुनिक काल में धर्म का अर्थ संकुचित तथा सीमित रूप से किया जाता है। हिन्दू धर्म शास्त्रों में अधिकारों की सूची नहीं थी परन्तु हरएक वर्ण तथा हरएक स्थिति का धर्म निर्धारित था। धर्मच्युत अथवा कर्त्तव्यविमुख व्यक्ति को समाज में कोई स्थान नहीं था। राजा-प्रजा, ब्राह्मण, वैश्य शूद्र, क्षत्रिय हरएक का धर्म निर्धारित था। कर्त्तव्य शील मनुष्य ही चरित्रवान व उन्नतिशील होता है। इतिहास में

ऐसे ही लोगों की प्रशंसा होती है। अकर्मण्य तथा कर्त्तव्य विमुख व्यक्ति की राष्ट्र व समाज निन्दा करता है। परन्तु आधुनिक मनोवृत्ति कुछ और ही है। अधिकांश व्यक्ति अधिकारों के उपभोग तथा प्राप्ति पर ही जौर देते हैं। इसी कारण राष्ट्र और समाज का समतुलन बिगड़ गया है। विद्यार्थियों की मनोवृत्ति देखिये पाठशालाओं की ओर से वे अधिकार रूप में सब प्रकार की सुविधायें चाहते हैं। जैसे अच्छी पढ़ाई, खेलकूद की सामग्री, अच्छी मेज कुर्सी, अच्छा वाचनालय वगैरह। परन्तु इन सब वस्तुओं का सदुपयोग तथा इन सुविधाओं का सदुपयोग करना अपना कत्तव्य नहीं समझते हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये जमींदार कृषक से कर लेना अपना अधिकार समझता है परन्तु कृषक को जमीन जोतने और बोने की सुविधायें देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता है। पूँजीपति येनकेन प्रकारेण शोषण काला बाजार इत्यादि से धनार्जन करना अपना कर्तव्य समझते हैं! परन्तु समाज एवं राष्ट्र की सुख शान्ति, दरिद्रता निवारण, तथा आर्थिक स्थिति को ठीक करना अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं। अर्थात् हमारा दृष्टिकोण सीमित व एकांगी हो गया है। समाज के सामूहिक सुख अथवा हित के गर्भ ही में हर व्यक्ति का सुख निहित है यह हम भूलते हैं। समाज और राष्ट्र में जो असमानता, विपन्नता अशान्ति, संघर्ष दृष्टिगोचर हो रहा है उसका मुख्य कारण है अधिकारों की माँग तथा कर्त्तव्यशून्यता।

अधिकार व्यक्ति को समुन्नत करने के लिये ही प्राप्त होते हैं। इस कार्य में सफल होने के लिये मनुष्य को दूसरों की सहायता लेनी ही पड़ती है। अर्थात् प्रत्येक को यह मानना ही पड़ेगा कि जीवन की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिये सबको एक दूसरे की सहायता लेनी ही पड़ती है। अतः उसे दूसरों को भी उन्नति करने का अवसर देना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों के साथ अपने आप को समाज के लिये कुछ कर्त्तव्यों से बाँध लेता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्राप्त के साथ ही साथ उसका सदुपयोग करने के लिये बाध्य होना होता है। अधिकार वर्ग की नींव आत्मोन्नति के साथ साथ समाजिक हित से जुड़ी हुई है। अर्थात् अधिकार का अस्तित्व व महत्व समाज के दायरे में ही है। अतः अधिकारों का अनुचित प्रयोग करने वाले व्यक्ति के अधिकार समाज, सामाजिक हित को मध्य नजर रखते हुये छीन सकता है। अतः अधिकार, अधिकार नहीं जो केवल बल प्रयोग द्वारा, शोषण द्वारा अथवा आर्थिक प्रभुता द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। हरएक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सामूहिक हित व नैतिक हित को प्रथम स्थान देकर अधिकारों का उपभोग करे। अधिकार तथा कर्त्तव्य सामाजिक जीवन का एक स्वाभाविक अंग है। अधिकारों व कर्त्तव्यों के बिना मनुष्य मनुष्य नहीं। पशु अपनी इच्छा की पूर्त्ति येनकेन प्रकारेण करता है। परन्तु पशु और मनुष्य में भेद यही है कि मनुष्य में बुद्धि है, तर्क है, युक्ति है, कर्त्व्या कर्त्तव्य का ज्ञान है और विवेक है। इस कारण मनुष्य अपनी माँग का उपभोग समाज की स्वीकृति के बिना नहीं कर सकता है तथा मनुष्य के अधिकार कर्त्तव्यों से सीमित हैं। कुछ अधिकार विश्वव्यापी हैं। उनका उपभोग मानवजाति के लिये है। वे जातिवर्ग अथवा राष्ट्र से सीमित नहीं है।

अधिकारों की सम्पूर्ण सूचि बनाई नहीं जा सकती है। क्योंकि अधिकार देश काल के अनुसार बदलते रहते हैं। कुछ राज्य स्वीकृत व समाज स्वीकृत अधिकारों का उल्लेख किया जायेगा। अधिकारों को दो वर्गों में बाँटा जायेगा।

(१) सामाजिक अधिकार (२) राजनैतिक अधिकार। ये दोनों ही अधिकार राज्यप्रपत्त अधिकार हैं। इनका उल्लंघन करने वालों को राज्य दण्ड भी दे सकता है।

अधिकारों का कर्त्तव्य के साथ सम्बन्ध दिखाते हुये उल्लेख किया जायेगा। अधिकांश आधुनिक विधानों में नागरिक के मौलिक अधिकार तथा कर्तव्यों की सुचि विधान पत्रक का आवश्यक अंग माना गया है।

जर्मनी, फ्रांस, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, रशिया, हिन्दुस्तान इत्यादि के विधान पत्रक में ऐसा ही किया गया है।

सामाजिक अधिकार मनुष्य होने के नाते प्राप्त होते हैं।

(१) **जीवन रक्षा का अधिकार**:—प्रत्येक व्यक्ति को जीवन रक्षा का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति में जीवित रहने की इच्छा होती है। इसी को जीवन की इच्छा कहते हैं। इसके अतिरिक्त साधारण तथा प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के जीवन को हानि नहीं पहुँचना चाहते हैं। इसी को जीवन का अधिकार कहते हैं। जीवन के अधिकार बिना अन्य अधिकारों का उपभोग सम्भव ही नहीं है। यदि मनुष्य को सदा जीवन हरण का भय लगा रहे तो वह अधिकारों का उपभोग ही नहीं कर सकता है। इस कारण राज्य का यह कर्तव्य है कि राज्य के अन्तंगत रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के प्राणों की रक्षा का प्रबन्ध करे। राज्य सेना द्वारा बाह्य आक्रमण से नागरिकों की रक्षा करता है। और पुलिस द्वारा चोर-डाकू तथा लुटेरों, हत्यारों से नागरिकों के जीवन की रक्षा का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी की रक्षा करना राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। जब शरीर ही सुरक्षित नहीं रहेगा तो मनुष्य को अन्य अधिकार अर्थहीन प्रतीत होते हैं। राज्य की ओर से आत्मरक्षा का अधिकार हर एक नागरिक को प्राप्त है। आत्म-रक्षा के लिए नागरिक शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिए आक्रमणकारी की हत्या कर सकता है, और राज्य उसे इसके लिए दोषी नहीं ठहराता है। इसीलिए नागरिक को आत्मरक्षा के लिए हथियार भी रखने का अधिकार प्राप्त है। राज्य नागरिक को आत्महत्या का भी अधिकार प्रदान नहीं करता है। नागरिक का जीवन व्यक्तिगत निर्णय की वस्तु नहीं है हत्या तथा आत्महरण दोनों हो समाज के लिये हानिकारक हैं और राज्य इस अपराध के लिये नागरिक को दण्ड देता है। राज्य और समाज के सदस्य के नाते व्यक्ति अपने कार्यों के लिये स्वर्वस्वी निर्णायक नहीं है। क्योंकि व्यक्ति के

हर कार्य का असर समाज पर पड़ता है। इस कारण ऐसे विषयों में समाज का भी कुछ अधिकार होना स्वाभाविक है।

एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है तब क्या राज्य को युद्ध द्वारा सामूहिक हत्या का अधिकार है? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर दिया जा सकता है। राष्ट्रहित और राष्ट्र की स्वाधीनता के लिये, व्यक्ति के हित का त्याग करना ही पड़ेगा। अर्थात् प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि युद्ध में भाग लें तथा राज्य, समाज और संस्कृति की रक्षार्थ अपने प्राणों का विसर्जन करें। संसार में क्रमशः प्राण दण्ड के विरुद्ध लोकमत होता जा रहा है। व्यक्ति के अधिकांश असामाजिक कार्यों के लिये समाज ही जिम्मेदार है। परन्तु यदि असामाजिक व्यक्तियों को रोका न जायेगा तो समाज की व्यवस्था को धक्का पहुँचेगा इसलिये समाज की रक्षा के लिये प्राण दण्ड आवश्यक सा प्रतीत होता है। व्यक्ति को अधिकार इसलिये प्राप्त होते हैं कि व्यक्ति समाज के लिये लाभदायक हो। परन्तु देशद्रोह अथवा हत्या करके मनुष्य अपनी उपयोगिता खो बैठता है। वह समाज के लिये लाभदायक नहीं रह जाता है। वह वास्तव में समाज का शत्रु बन गया है। इसलिये प्राण-दण्ड देना आवश्यक है। अधिकतर देशों में असामाजिक व्यक्तियों को सुधारने का प्रयत्न जारी है। तथा कुछ विद्वानों का विचार है कि मृत्युदण्ड से आजन्म कारावास न्यायपूर्ण हैं, क्योंकि न्यायालय फैसले को दुहरा सकता है, कभी कभी अपराधी निर्दोषी भी साबित किया जा सकता है, और व्यक्ति में सुधार भी हो सकता है। इन सब तर्कों को सोचते हुये कुछ विद्वान मृत्युदण्ड न देकर आजन्म कारावास के पक्ष में हैं। इग्लैंड में प्राणदण्ड वर्जित करने का विचार किया जा रहा है।

(२) सम्पत्ति का अधिकार :—अपने जीवनयापन के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति उत्पादन तथा पूर्वजों द्वारा अर्जित सम्पत्ति के उपयोग का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। पूँजीवादी सिद्धान्त पर संगठित राज्य वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता

है। प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह दूसरों की सम्पत्ति की रक्षा करे। दूसरों की सम्पत्ति को भी लूटपाट से बचाये। समाजवादी सिद्धान्त के वेत्ता वैयक्तिक सम्पत्ति के परम विरोधी हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक मनुष्य को राज्य के प्रति कर्त्तव्य पूर्ण करने भर के लिये जितनी सम्पत्ति की आवश्यकता है, उतनी ही सम्पत्ति मिलनी चाहिये तथा प्रत्येक व्यक्ति को केवल स्वअर्जित सम्पत्ति पर ही अधिकार होना चाहिये। सम्पत्ति की परीक्षा यही होनी चाहिये कि वह सामाजिक हित की वृद्धि करता है या नहीं और व्यक्ति को समाज के कर्त्तव्य की पूर्ति में सहायक है या नहीं।

(३) कौटुम्बिक अधिकार तथा इकरार का अधिकार :— कुटुम्ब का महत्व तो पाठकगण पढ़ ही चुके हैं। कुटुम्ब मनुष्य जीवन का आवश्यक अंग है। प्रत्येक व्यक्ति को देश की सामाजिक प्रथा के अनुसार राज्य की ओर से शान्त तथा सुव्यवस्थित कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार होना चाहिये। प्रत्येक वयस्क को अपना जीवन-साथी चुनने का अधिकार होना चाहिए परन्तु ये अधिकार असीमित नहीं है। यदि किसी व्यक्ति का गार्हस्थ्य जीवन अनैतिक है, समाज के हित के प्रतिकूल है अथवा उसके कौटुम्बिक जीवन का असर समाज पर बुरा पड़ता है। तो ऐसे अवसरों पर समाज को हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त होता है।

उसी प्रकार प्रत्येक नागरिक को इच्छानुसार इकरार करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये! इन दोनों अधिकारों का उपभोग सामाजिक हित के अनुकूल ही होना चाहिये। नहीं तो राज्य का कर्त्तव्य है कि इन अधिकारों का हरण कर ले। यदि कोई व्यक्ति दासता का इकरार करता है, तो राज्य ऐसे व्यक्ति को नागरिक के अधिकारों से वंचित कर सकता है। राज्य सामाजिक कुरीतियों पर विरोध करते हुये उन पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। जैसे राज्य बाल-विवाह का निषेध करता है, विधवा विवाह को वैधानिक बनाता है तथा स्त्रियों को सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है।

(४) **आर्थिक अधिकारः**—प्रत्येक व्यक्ति की आजीविका की व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिये। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। इस कारण राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति के भरण-पोषण के लिये अन्न वस्त्र की व्यवस्था उचित रीति से होनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को खेती, व्यापार, नौकरी, मजदूरी आदि करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। समाजवादियों के अनुसार राज्य की ओर से प्रत्येक नागरिक को आजीविका अधिकार प्राप्त होना चाहिये। अर्थात् राज्य को इसे अनिवार्य कर्त्तव्य समझना चाहिये। नागरिक का अधिकार है कि उसे अपने श्रम का उचित पारितोषिक मिले तथा राज्य द्वारा मजदूरों के हितों की ठीक ठीक व्यवस्था करे। जैसे उनके स्वास्थ्य की रक्षा, काम करने के घण्टे इत्यादि।

आधुनिक विचार धारा यह है कि समाज और राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताओं (अन्न-वस्त्र, वास स्थान) की पूर्ति होनी चाहिये। कहीं कहीं शिक्षा भी मौलिक अधिकारों में सम्मिलित है। व्यक्तित्व का विकास भूखे पेट पर नहीं हो सकता है। मनुष्य का भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही हो सकता है। मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को यथायोग्य काम, आवश्यकता, योग्यता, परिश्रम व महत्व के अनुसार पुरस्कार मिलना चाहिये। यह सिद्धान्त बहुत ही आकर्षक है, परन्तु इनको व्यवहार में लाना सुलभ नहीं है। उपरोक्त पाँच व्याख्याओं का कोई माप-दण्ड नहीं है। दो व्यक्ति एक ही काम को करते हैं परन्तु दोनों के कार्य-दक्षता अथवा परिणाम में भेद है। उसी प्रकार आवश्यकतायें भी व्यक्तिगत विषय है। इनका नापतौल कोई भी नहीं कर सकता है। मानसिक, शारीरिक, नैतिक, कलात्मक इत्यादि विविध गुणों को यथास्थान तथा यथा-योग्य पुरस्कार देना भी एक अत्यन्त कठिन काम है। नवीन समाज की रचना उपरोक्त विचारान्त ही होना चाहिए।

नवीन समाज के लिये आर्थिक सिद्धान्तः—(१) कार्य लोक हितकारी है या नहीं। (२) प्रत्येक व्यक्ति को कमसे कम उसकी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये योग्य पुरस्कार मिलना चाहिये। (३) परिश्रम के बिना कोई पुरस्कार का अधिकारी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक राज्य द्वारा आर्थिक न्यूनतम निश्चित होना चाहिये।

अन्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार व्यवसाय तथा व्यापार करने का अधिकार मिलना चाहिये तथा राज्य का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय की सुविधा दे जिससे वह अपना तथा अपने कुटुम्ब का योग्य रीति से भरण पोषण कर सके। अर्थात् राज्य द्वारा निश्चित आर्थिक न्यूनतम से कम पुरस्कार किसी को न दिया जावे।

(५) शिक्षा का अधिकार :—यह सर्वविदित है कि शिक्षा के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। शिक्षा के बिना मनुष्य का सामाजिक जीवन, राजनैतिक जीवन निरर्थक हो जायेगा। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को विचार करने की शक्ति, निर्णय करने की शक्ति तथा विवेक प्राप्त होता है। कर्त्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान भी मनुष्य को शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होता है। शिक्षा मनुष्य का मानसिक विकास एवं मनुष्य की भावनाओं को परिष्कृत करती है. और सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति मानसिक विकास के बिना असम्भव है। बिना ज्ञान के न अर्थ लाभ हो सकता है और न परमार्थ साधन ही सम्भव है। अब सभी सभ्य देश इसको स्वीकार करने लगे हैं कि शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना प्रत्येक राज्य का मुख्य कर्त्तव्य है। इसलिये सभी सभ्य देशों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क देने की व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती है। राज्य को उच्च शिक्षा को कम खर्चीली बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। गरीबों तथा पिछड़ी हुई जातियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने की सुविधायें देनी चाहियें, क्योंकि शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति तदर्थ समाज का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो सकता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि पुस्तकालय, अजायबघर, वाचनालय, प्रयोगशालायें

इत्यादि की स्थापना करे जिससे नागरिकों के ज्ञानार्जन की व्यवस्था हो सके। शिक्षा सभी प्रकार की होनी चाहिये विज्ञान की, कला-कौशल की तथा उद्योग-धन्धों की। राज्य द्वारा नये विचारों तथा नये आविष्कारों के लिये सहायता प्रदान होनी चाहिये तथा राज्य को सक्रीय रूप से इन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये। यही सांकृतिक उन्नति का गुरुमन्त्र है।

भाषा तथा संस्कृतिक का अधिकार प्रत्येक नागरिक को मिलना चाहिये। ये अधिकार भी महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भाषा व संस्कृति का विकास करने का तथा अपने विचारों को अपनी भाषा में प्रकट करने की पूर्ण सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। इतिहास के पठन से देखा गया है कि बहुमत वाले नागरिक लघुमत वाले नागरिकों की भाषा तथा संस्कृति को प्रोत्साहन तो नहीं देते हैं। परन्तु उनको समूल नष्ट करने का भी प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक राज्य को इस ओर ध्यान देना चाहिये और लघु संख्यकों की सभ्यता, संस्कृति, भाषा एवं धर्म की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझना चाहिये। संयुक्त राष्ट्र परिषद् एवं सभी सभ्य राष्ट्रों ने इन अधिकारों को स्वीकार किया है परन्तु इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि लघुमत प्राप्त नागरिक राष्ट्र भाषा का भी अध्ययन करे तथा राष्ट्रीय उत्थान में अड़चनें पैदा न करे।

(६) धार्मिक अधिकार अथवा धार्मिक स्वतन्त्रताः—यह युग बौद्धिक स्वतन्त्रता का है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करना अपना अधिकार समझता है। धार्मिक अधिकार भी इस श्रेणी में आते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की ओर से किसी भी धर्म को मानने का तथा किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्यों को करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिये। राज्य का कर्तव्य है कि एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्म के अनुयायियों पर अत्याचार न करे तथा उन्हें दबाने का प्रयत्न न करे। कोई नागरिक किसी अन्य नागरिक के ध र्म कार्य में हस्तक्षेप न करे, भय अथवा प्रलोभन न दे। यदि राज्य में ऐसा वातावरण पैदा हो तो राज्य को हस्तक्षेप करने

का पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिये, क्योंकि राज्य को नागरिकों की सामूहिक सुविधाओं का ध्यान रखकर समुचित तथा निष्पक्ष नियम बनाने चाहिये। राज्य का परम कर्तव्य है कि समाज में सुख शान्ति की स्थापना करे तथा नागरिकों के मार्ग में आने वाली विघ्नबाधाओं को हटावे अथवा उन्हें उपस्थित होने न दे। अर्थात् राज्य की नीति उदारता एवं सहिष्णुता पर स्थित होनी चाहिये। जिससे प्रत्येक धर्मावलम्बी स्वाधीनता पूर्वक जीवन यापन कर सके। इसी प्रकार प्रत्येक नागरिक अपने आचरण में अन्य धर्म विचार अथवा सिद्धान्तों के प्रति ऐसी उदारता एवं सहिष्णुता बरते जिसकी अपेक्षा अथवा आशा वह अपने प्रति अन्य नागरिकों से करता है।

भारतीय गणतन्त्र ने धर्म निरपेक्षिता के सिद्धान्त को अपनाया है। भारत भूमि पर अनेक धर्मों के अनुयायी वास करते हैं। भारतीय गणतन्त्र द्वारा प्रत्येक धर्मावलम्बी को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसके विपरीत नीति पाकिस्तान में दृष्टिगोचर होती है। पाकिस्तान का बुनियादी सिद्धान्त इस्लामी धर्म है। वह धर्म निरपेक्षिता का कट्टर शत्रु है। मध्यकालीन युग में धार्मिक कट्टरता व धार्मिक अनुदारता पाई जाती थी। धार्मिक कट्टरता एवं धार्मिक असहिष्णुता के अनेकों उदाहरण इतिहास में पाये जाते हैं। धर्म के मामले में संसार का दृष्टिकोण अब बदल गया है। धर्म के मामले में अब दृष्टिकोण अधिक उदार हो गया है। धर्म अब व्यक्तिगत विश्वास एवं आचरण का विषय माना जाता है। यदि अनीति, भ्रष्टाचार, विद्रोह, संघर्ष इत्यादि की आशंका ध र्म के नाम पर होने का भय हो तो ही राज्य सामूहिक सुख-शान्ति की दृष्टि से इन मामलों में हस्तक्षेप करता है। समाज के इस प्रकार के अन्य मामलों में भी राज्य हस्तक्षेप करने का अधिकारी है।

(७) विचार, भाषण व लेखन का अधिकार और स्वतन्त्रता:—बौद्धिक अधिकार के अन्तर्गत यह दूसरा अधिकार है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह परस्पर सहयोग से तभी लाभ उठा सकता है

जब वह परस्पर विचार विनिमय अथवा विचारों का आदान प्रदान करे। मनुष्य के सब कार्य धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक उसके विचारों के परिणाम स्वरूप हैं। सब प्रकार की उन्नति के लिये विचार विनिमय की आवश्यकता है। लोकतन्त्रात्मक राज्य की सफलता के लिये भाषण लेखन की स्वतन्त्रता परमावश्यक है। इनके द्वारा ही मनुष्य अपने विचार तथा भावनाओं को प्रकट कर सकता है। इसलिये नागरिकों को सभा में भाषण करने का लेख लिखने का तथा छापेखाने की स्वतन्त्रता अर्थात् पत्र-पत्रिकायें और पुस्तकें आदि प्रकाशित करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। विभिन्न विचारों के प्रकाशन से राज्य तथा समाज का लाभ होता है। भाषण तथा लेखन द्वारा ही नागरिक सरकार के कार्यों तथा नीति की आलोचना करता है। ये आलोचनायें सरकार की निरंकुशता को रोकने में सहायक होती हैं। समाज रचना के विषय में नवीन रचनात्मक विचारों की उत्पत्ति आविष्कारों का ज्ञान, ज्ञान-विज्ञान की प्रगति, रीति-रस्म कार्य प्रणाली की विवेचना इत्यादि विभिन्न विषयों का स्पष्टीकरण, भाषण तथा लेखन द्वारा ही हो सकता है। नागरिकों का यह कर्त्तव्य भी है कि भाषण तथा लेखन द्वारा अपने विचारों को प्रकट करे। जिससे अन्य नागरिक भी उससे फायदा उठा सकें। लोकमत द्वारा ही सामाजिक व राजनैतिक सुधार हो सकते हैं, और भाषण व लेखन नागरिकों के विचारों व भावों को प्रकट करने का मुख्य साधन है। यदि नागरिकों को अपने भाव तथा विचारों की प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जायेगी तो नागरिक सोचना ही बन्द कर देंगे। इससे उनका विकास अवरुद्ध हो जायेगा, जिससे उनके व्यक्तित्व पर आघात पहुँचेगा। भाषण लेखन की स्वतन्त्रता न देने से नागरिकों में अन्धविश्वास, कूपमंडूकता, अल्पज्ञान की वृद्धि होगी तथा ज्ञान और विज्ञान की प्रगति नहीं हो पायेगी।

यह स्वतन्त्रता असीमित नहीं है राष्ट्रीय तथा सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुये ही यह स्वतन्त्रता दी जा सकती है। अतः राज्य का कर्त्तव्य

है कि वह ऐसे विचारों को प्रोत्साहित न करे जिससे समाज व राज्य की बुनियाद में धक्का पहुँचे। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे विचारों का निषेध करे जो संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता, द्वेषभावना को उत्तेजित करे, अथवा जो व्यक्ति के आचरण व चरित्र पर आघात करे, युद्धकाल अथवा संकट काल में भाषण व लेखन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। क्योंकि नागरिकों की स्वतन्त्रता से भी अधिक महत्वपूर्ण राज्य व समाज का अस्तित्व है।

(८) सभा व समुदाय का अधिकार और स्वतन्त्रता :— सभाओं द्वारा ही मनुष्य अपने विचारों का प्रचार करता है। समुदायों द्वारा मनुष्य जीवन की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। राज्य को ऐसी सभा व समुदायों को प्रोत्साहन देना आवश्यक है जिससे लोकमत सजग हो। आधुनिक युग में इसका महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु राज्य का कर्त्तव्य है कि राजद्रोही अथवा अनैतिक समुदायों व सभाओं को गैरकानूनी एलान करके उनके कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दे जिससे राज्य व समाज का वातावरण विषाक्त न हो जाय।

(९) आवागमन का अधिकार और स्वतन्त्रता :— राज्य की ओर से प्रत्येक नागरिक को राज्य के अन्दर कहीं भी घूमने का, निवास करने का तथा व्यवसाय करने का अधिकार होना चाहिये, साथ ही साथ यदि कोई नागरिक विदेश जाना चाहता है तो उसे इसका भी अधिकार मिलना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक अधिकार है कि अपराध सिद्ध हुये बिना कोई व्यक्ति कारावास में न रक्खा जाय। अर्थात् कारण स्पष्ट किये बिना किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता हरण करने का राज्य को अधिकार नहीं है।

(१०) **सामाजिक अधिकार व सामाजिक सुधार का अधिकार व स्वतन्त्रता :—** नागरिक को इच्छानुसार खाने पहिनने का अधिकार,

लाभ होता है। इनके द्वारा नागरिकों का नैतिक विकास होता है। उनमें स्वाभिमान, दायित्व तथा आत्म-सम्मान की भावना बढ़ती है क्योंकि नागरिक अपने को सार्वभौमिक सत्ता का एक आवश्यक अंग समझने लगता है। प्रत्येक नागरिक राज्य को अपना समझने लगता है। यह अपनत्व की भावना ही राज्य के नागरिकों को संकट काल में राज्य की सेवा के लिये दत्तचित्त बनाती है। प्रत्येक नागरिक को राजनैतिक समस्याओं की, और सरकारी मामलों की अच्छी शिक्षा मिल जाती है, क्योंकि वे निर्वाचन में भाग लेते हैं, कानून बनाने तथा व्यवस्था करने वाली सभाओं के सदस्य बनते हैं। अतः ये अधिकार राजनैतिक शिक्षा के साधन बन जाते हैं। प्रत्येक नागरिक राजनैतिक समस्याओं को सुलझाना अपना कर्त्तव्य समझता है, और राज्य के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगता है। राजतन्त्र राज्यों में प्रजा राज्य कार्यों का भार राजा पर सौंप कर राज्य कार्यों के प्रति उदासीन उत्साह-हीन हो जाती है परन्तु प्रजातन्त्र राज्य में इसके प्रतिकूल अवस्था होती है। राज्य संचालन में अधिकाधिक लोगों की बुद्धि व शक्ति का प्रयोग होता है। इससे राज्य की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। राज्य का कार्य अनेक व्यक्तियों की मन्त्रणा से ही चलता है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा राजनैतिक अधिकारों द्वारा ही हो सकती है तथा सरकार की निरंकुशता रोकने का यह एक महत्वपूर्ण शस्त्र नागरिकों के हाथ में है।

(१) **मताधिकार**:—इस अधिकार का उदय प्रजातन्त्र राज्य प्रणाली के साथ-साथ हुआ है। राज्य के कायदे कानून का प्रभाव, राज्य-शासन का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना मत व्यक्त करके राज्य व्यवस्था पर परोक्ष रीति से प्रभाव डाले। मताधिकार द्वारा ही राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा हो सकती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों की स्वयं रक्षा करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसलिये अधिकांश प्रजातन्त्र राज्यों में नागरिकों को वयस्क मताधिकार प्रदान किया है और कहीं कहीं न्यूना-

धिक योग्यता रखते हुये मताधिकार प्रदान किया है। इसलिए प्रत्येक नागरिक का यह महान कर्त्तव्य है कि वह विवेक से गुटबन्दी में बिना फँसे तथा पक्षपात रहित भावना से इस अमूल्य कर्त्तव्य का पालन करे। इसी प्रकार नागरिक जनता व राज्य के प्रति अपने दायित्व को योग्य रीति से पूरा कर सकता है। अर्थात् प्रत्येक नागरिक इस अधिकार को निभाना अपना सर्वोच्च धर्म समझे। कुछ वर्षों पूर्व स्त्रियों को इस अधिकार से वंचित किया गया था परन्तु अब अधिकांश देशों में स्त्रियों को भी यह अधिकार प्राप्त हैं। केवल पागल, खूनी, नाबालिक, विदेशी—अयोग्यता के कारण इस अधिकार से वंचित है। कहीं कहीं मताधिकार का कारण योग्य रीति से प्रयोग करने के लिये न्युनतम सम्पत्ति कम से कम प्राथमिक शिक्षा इत्यादि गुणों को भी नागरिकता प्राप्ति के लिये आवश्यक माना गया है। आधुनिक विचार धारा न्यूनतम सम्मति के गुणों की भी विरोधी है। आधुनिक विचार धारा प्रत्येक बालिग को जाति-पाति, रूप-रंग, वर्ग, लिंग आर्थिक स्थिति के भेदभाव के बिना मताधिकार प्रदान करने में विश्वास करती है।

(२) निर्वाचन का अधिकार:—यह अधिकार मताधिकार का ही दूसरा स्वरूप है। जनता द्वारा निर्वाचित नागरिक राज्य में निर्वाचन के आधार पर संगठित सभाओं, संस्थाओं जैसे व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता इत्यादि का अधिकारी बन जाता है। "जनता को, जनता द्वारा व जनता के लिये" इस प्रजातन्त्र राज्य की व्याख्या के अनुसार जब सबको निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त होता है तो जनता अपनी इच्छानुकुल योग्य कार्यकर्ता या समाज सेवी को विधान सभाओं के लिये चुन सकती है इस अधिकार द्वारा अच्छे तथा योग्य व्यक्तियों के निर्वाचन की सम्भावना हो जाती है। इस अधिकार पर ही जनता के राज्य की नींव सुदृढ़ होती है। यदि राज्य समानता एवं समान अधिकारों का पुजारी है तो राज्य निर्वाचन का अधिकार जाति-पाति, रूप-रंग, लिंग-वर्ण अथवा आर्थिक स्थिति के भेद-

भाव के बिना ही नागरिकों को प्रदान करता है। नागरिकों का भी कर्त्तव्य है कि इस अवसर का सदुपयोग करे तथा अपना कार्य मन से करे और जनता का हित हर समय अपने सम्मुख रखे। नागरिक के न्याय, दृढ़ता, विवेक व दायित्व की यही कसौटी है।

(३) **सरकारी पद पाने का अधिकार:**—प्रत्येक योग्य नागरिक को जाति-पाँति, लिंग, सम्प्रदाय इत्यादि के भेदभाव के बिना यह अधिकार प्राप्त होना चहिये। यदि नागरिक में आवश्यक योग्यता, पदवी, गुण, सद्‌चरित्रता, शिक्षा इत्यादि गुण मौजूद हैं तो विभिन्न सरकारी पद पाने का उसे पूर्ण अधिकार होना चाहिये। सरकार के अनेक विभाग होते हैं जैसे न्याय, कार्यकारिणी, कर विभाग, इन्जीनियरिंग विभाग, कृषि विभाग, वन विभाग इत्यादि। पक्षपात रहित, गुटबन्दी रहित योग्य व्यक्ति को सरकारी पद देकर ही प्रजातन्त्र राज्य की नींव सुदृढ़ हो सकती है तथा राज्य का वातावरण सन्तोषपूर्ण व पवित्र हो सकता है। इस अधिकार के साथ साथ प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना कार्य दिलचस्पी के साथ तथा दिलोजान से करके राष्ट्र के गौरव को बढ़ाये और राज्य का वातावरण किसी प्रकार दूषित न होने दे। सबको सरकारी नौकरी मिलना संभव नहीं है। सरकारी पद सीमित होते हैं। इसलिए सूची में से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति चुन लिया जाता है अथवा उम्मीदवारों को सरकारी स्थानों के अनुसार परीक्षा फल द्वारा चुन लिया जाता है।

(४) **आवेदन का अधिकार** :—यह अधिकार भी महत्वपूर्ण है। व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से नागरिक को सरकार के पास लिखित आवेदन में भेजने का अधिकार होना चाहिये। शासन शुद्ध व न्यायसंगत बनाने के लिए सरकार के समक्ष राज्य प्रबन्ध की त्रुटियों का आवेदन करना नागरिक का महत्वपूर्ण अधिकार है। सचेत होकर प्रत्येक नागरिक को इस कर्त्तव्य की पूर्ति करनी चाहिये। आवेदन द्वारा सरकार के विचार इस ओर आकर्षित हो जाते हैं, और उनका ध्यान इन त्रुटियों

की ओर, नागरिकों की असुविधाओं की ओर तथा उनके कष्टों की ओर लाया जा सकता है। जनता के हित सम्बन्धी बहुत से कार्य आवेदन द्वारा शीघ्रता से सम्पन्न किये जा सकते हैं।

(५) **समानता तथा समान न्याय का अधिकार :**—नागरिक का यह अमूल्य अधिकार है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति को अमीर, गरीब ऊँच-नीच सरकारी कर्मचारी अथवा साधारण नागरिक को बिना किसी भेदभाव के समान न्याय भंग के लिए समान दण्ड दे। अर्थात् राज्य को राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को समान दृष्टि से देखना चाहिये और पक्षपात रहित होना चाहिये। इसी से राज्य में शान्ति व सन्तोष विराज सकता है। राज्य को प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए अवसर देना चाहिये। सरकार को ऐसे नियम बनाने चाहिये जिससे समाज में रूप-रंग, जाति, अथवा किसी विशिष्ट धर्मावलम्बियों के प्रति पक्षपात न हो। तथा सामाजिक व्यवस्था अधिकाधिक रूप से समानता के निकट पहुँचे। कानून की समता ही राज्य में वास्तविक समानता की श्री गणेश करती है।

(६) **राज्य के आदेशों को उल्लंघन करने का अधिकार:**—यह अधिकार वैधानिक अधिकार नहीं हो सकता है। परन्तु यह अधिकार नैतिक अधिकारों में रक्खा जा सकता है। राज्य का आधार नैतिक आधार है। यदि राज्य इसके विपरीत कार्य करता है तो नागरिकों को यह अधिकार है कि वह राज्य को ऐसे कार्यों से रोकें। तथा उनका प्रत्यक्ष रूप से विरोध करे। ऐसा करना तो नागरिकों का कर्त्तव्य ही है। ऐसा न करने से राज्य का अन्तिम अभीष्ट सफल नहीं होगा और प्रजा के हित की वृद्धि असम्भव हो जायेगी परन्तु इस अधिकार व कर्तव्य को विवेक के साथ प्रयोग में लाना चाहिये और इसका प्रयोग क्वचित ही होना चाहिये। अथवा सब साधन निष्फल होने पर ही इस अधिकार अथवा कर्त्तव्य का प्रयोग होना चाहिये।

राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों के अतिरिक्त वैधानिक व नैतिक अधिकार भी होते हैं। वैधानिक अधिकार वे हैं जिन्हें राज्य द्वारा स्वीकृति मिल चुकी है। सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ आदर्श अधिकार वैधानिक अधिकारों में परिणित हो जाते हैं। नैतिक अधिकार राज्य प्रदत्त नहीं है। परन्तु सभ्य समाज व उन्नत राज्य में इनका अस्तित्व आवश्यक माना जाता है। समाज का सच्चा सदस्य राज्य का सच्चा, सुहृदय, सुविचारी नागरिक ,स कर्तव्य मिश्रित अधिकार को राज्य के दण्ड से भयभीत होकर पालन नहीं करता है। इसका पालन वह कर्तव्य से प्रेरित होकर ही करता है। उदाहरणार्थ डूबते को बचाना, अपघात से पीड़ित व्यक्ति को अस्पताल पहुंचाना, भूखे को अन्न देना, गरीब परन्तु योग्य विद्यार्थी के पढ़ने की व्यवस्था करना इत्यादि। ये नैतिक अधिकार-कर्तव्य हैं।

अधिकारों का सिंहावलोकनः—(१) एक सहज प्रश्न है अधिकारों की आवश्यकता ही क्यों है। राज्य की उत्पत्ति प्रजा के हित के लिये और प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति के ही निमित्त है। इन अधिकारों द्वारा तथा तत्सम्बन्धित कर्तव्यों द्वारा ही नागरिक अपने व्यक्तिगत हित व सामूहिक हित की वृद्धि कर सकता है। जब नागरिक का विकास होता है तो निश्चय ही समाज का विकास व हित होता है। अधिकारो की प्राप्ति से मनुष्य की क्षमता तथा योग्यता बढ़ जाती है। नागरिक अपने विचारों, कार्यों एवं अनुभवों से अन्य नागरिकों की अधिक सेवा कर सकता है तथा समाज का अधिक कल्याण कर सकता है। (२) राज्य सब नागरिकों को समान अधिकार देकर, विकास का सामान अवसर देकर तथा नागरिकों से समान व्यवहार कर असमानता के भयंकर स्वरूप को कुछ कम करने में सहायक होता है। समान अधिकार ही समानता व सच्ची स्वतन्त्रता का पहला सोपान है। अर्थात् अधिकार ही मनुष्य के पूर्ण विकास का द्वार खोल देता है। (३) अधिकार उसी दशा में अधिकार कहलाया जा सकता है जब उसे राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो। अर्थात् उसका स्वरूप कानून द्वारा

निश्चित किया गया हो। तथा न्यायालय में वह अधिकार सिद्ध किया जा सके। (४) देश और काल के अनुसार अधिकार बदलते हैं। (५) यदि कोई व्यक्ति या समूह अधिकारों के उपभोग में बाधा उपस्थित करे तो राज्य के न्यायालयों द्वारा उनकी समुचित रक्षा का प्रबन्ध हो। (६) प्रत्येक अधिकार की सीमा व मर्यादा की कसौटी समाज व राज्य की संस्कृति नीति सामूहिक हित व आचार विचार है। अर्थात् प्रत्येक अधिकार की सीमा व मर्यादा का मापदण्ड उस समाज के विचार एवं सभ्यता ही है।

कर्त्तव्य:—अधिकारों के वर्गीकरण के साथ-साथ कत्तव्यों तथा अधिकारों का अान्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखलाया गया है। अर्थात् अधिकार व कर्त्तव्य एक दूसरे से गुथे हुये हैं। यह निशंक भाव से कहा जा सकता है कि कर्त्तव्य को निभाकर ही अधिकारों की प्राप्ति सम्भव है। परन्तु इस सत्य की वास्तविकता को आज का समाज व राज्य स्वीकार नहीं करता है नागरिक अधिकार पाने के लिये पागल हैं—लालायित हैं। परन्तु कर्त्तव्य पालन के प्रति उदासीन हैं। आज के नागरिक कर्त्तव्य पालन को अपना धर्म नहीं समझते हैं। फलस्वरूप संसार में दुख, दर्द, गरीबी, संघर्ष इत्यादि की मात्रा बढ़ती जाती है। कर्त्तव्य पालन से ही स्वभावतः अधिकारों की प्राप्ति होती है। यह भावना संसार से प्रायः लुप्त होती जा रही है। कर्त्तव्य व्यक्तिगत व कौटुम्बिक होते हैं। उनका प्रभाव समाज तथा राज्य पर पड़ता है। नागरिक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जैसे कुटुम्ब के प्रति, समाज के प्रति, नगर और ग्राम के प्रति, धर्म एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है।

(१) राज्य नियम पालन का कर्त्तव्य :—समाज हित व समाज की शान्ति व सुव्यवस्था के लिये नियय बनाये जाते है। नियम द्वारा ही नियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित सुचारु जीवन सम्भव है। राज्य हित को मध्यनजर रखते हुए प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि राज्य तथा समाज के अच्छे कानूनों का पालन करे।

(२) देशभक्ति :—नागरिक को शान्ति के समय राज्य कार्यों में हाथ बटा कर देश की सेवा करनी चाहिये। उसी प्रकार युद्ध अथवा परराष्ट्र के आक्रमण के समय भी अस्त्र धारण करके देश की रक्षा के लिए तत्पर होना चाहिये। राष्ट्रीय विप्लव के समय भी सरकार की मदद करनी चाहिए। नागरिक की स्वतन्त्रता व सुरक्षा के लिये देश में शान्ति व सुव्यवस्था परमावश्यक है। अतः नागरिक को राज्य की रक्षा जीवनदान करके भी करनी चाहिए। राज्य नागरिक से युद्ध के समय बलपूर्वक अथवा अनिवार्य सेवा लेने का अधिकारी है।

(३) करों को समय पर अदा करने का कर्त्तव्य :—राज्य के अनेकों कार्य होते हैं। जैसे शिक्षा देना, स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध करना, देश की रक्षा करना, तथा नागरिकों की अनेकों सुविधाओं की व्यवस्था करना इत्यादि। अर्थात् राज्य के अगणित आवश्यक तथा अनावश्यक कार्य होते हैं। इन सब कार्यों को करने के लिये विपुल धन की आवश्यकता होती है। राज्य विविध प्रकार के करों द्वारा ही धन संग्रह करता है। धन के बिना राज्य लोक सेवा कर ही नहीं सकेगा। अतः नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह करों को समय पर तथा सच्चाई से चुकावे।

(४) विवेक सहित मतप्रदान करने का कर्त्तव्य :—प्रत्येक नागरिक को विचारपूर्वक मतप्रदान करना चाहिए। प्रत्येक नागरिक को योग्य व्यक्ति को ही मत प्रदान करना चाहिए। जाति-पाँति, स्नेही-सम्बन्धी इन भावनाओं से प्रभावित होकर कदापि मत प्रदान नहीं करना चाहिए। राज्य का भविष्य अच्छे कर्मचारियों पर ही निर्भर है। अच्छे कर्मचारियों का चुनाव मतदाताओं पर ही निर्भर है।

मनुष्य के कर्त्तव्यों की कोई सीमा नहीं है। नागरिक के कुटुम्ब संस्था, समाज राज्य, नगर, ग्राम सबके प्रति कर्त्तव्य होते हैं। कर्त्तव्य वह सूक्ष्म बन्धन है जो इन सबको एक दूसरे से जोड़ता है। आधुनिक

जगत् में तो कर्तव्य राष्ट्रीय सीमा से ही सीमित नहीं है। आजकल नागरिक के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य भी हैं। प्रत्येक व्यक्ति को मानवहित के लिये वैयक्तिक स्वार्थ तथा राष्ट्रीय स्वार्थ को त्यागना चाहिये क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र का आर्थिक व राजनैतिक हित एक दूसरे पर अवलम्बित है।

सरकार का विरोधः—ऊपर कहा जा चुका है कि सरकार का विरोध करना नागरिक का कर्तव्य भी है तथा अधिकार भी है। राज्य की देन का पुनः उल्लेख करना अनावश्यक है। कभी-कभी राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब सरकार का विरोध करना अत्यावश्यक हो जाता है। अब उन परिस्थियों का उल्लेख किया जायेगा।

(१) जब राज्य, जीवन सुखी व उन्नत बनाने में बाधा उत्पन्न करता हो।

(२) जब राज्य शोषण, अन्याय या अनिति के लिये दृढ़ संकल्प हो।

(३) किसी खास वर्ग या जाति के हित की वृद्धि करता हो। अथवा किसी खास वर्ग को पैरों तले रौंदता हो या नष्ट करने के लिये तत्पर हो।

(४) नागरिकों के अधिकारों को पैरों तले रौंदता हो।

(५) व्यक्ति के विकास में बाधक हो।

(६) जब राज्य नागरिकों के धर्म, संस्कृति तथा अन्य महत्वपूर्ण विषयों में अत्यधिक हस्तक्षेप करता हो अथवा उनको नष्ट करने के लिये प्रस्तुत हो।

(७) राज्य ऐसे नियम बनाये जो जनता के लिये अहितकर हो।

इस बात की चेतावनी देना आवश्यक प्रतीत होता है कि नागरिकों को इस अधिकार को समझ-बूझकर तथा गम्भीर विचार के उपरान्त ही कार्यान्वित करना चाहिये। अतः राज्य की अवज्ञा नियम नहीं अपवाद के रूप में ही हो सकती है। विरोध तभी उचित है जब अधिकांश लोग समझें कि सरकार द्वारा उनके मौलिक स्वत्वों पर आघात हो रहा है और उनकी स्वतन्त्रता खतरे में है।

राज्य के दोषों को दूर करने के लिये अथवा सरकार के अनुचित नियमों को बदलने के लिये सब प्रथम नागरिकों को सरकार को आवेदन पत्र द्वारा उसकी त्रुटियों का ज्ञान करा करके उन्हें बदलने का अनुरोध करना चाहिये। यदि आवेदन पत्र का कोई सुपरिणाम नहीं हुआ तो अखबार द्वारा तथा सभा समितियों द्वारा इसका प्रचार करके लोक-मत संग्रह करना चाहिये। जिन देशों में धारा सभा हो उन देशों में नागरिकों को धारा सभा में प्रवेश कर शासकों के उनको सुधारने का अनुरोध करना चाहिये। यदि इन विधियों से भी सरकार सुधार न कर तो नागरिकों को सरकार से असहयोग करना चाहिये। अर्थात् नागरिकों को सरकार को स्पष्ट रूप से ज्ञात करा देना चाहिये कि वे सरकार की कुछ बातों से असन्तुष्ट हैं इस कारण उन बातों के लिए वे सरकार का विरोध करते हैं क्योंकि उन्हें मानना वे उचित नहीं समझते हैं। तात्पर्य यह है कि सुधार का प्रथम सोपन वैध आंदोलन होना चाहिये। इस बात का संकेत करना परमावश्यक है कि नागरिकों को सत्य और न्याय के लिए हर प्रकार का दण्ड अथवा प्राणदण्ड भी भुगतने के लिए प्रस्तुत होकर ही सरकार का विरोध करना चाहिये क्योंकि सरकार के विरुद्ध किये हुये आन्दोलन की गणना कभी भी वैधता में नहीं हो सकेगी। राज्य के साथ असहयोग करने का क्या अर्थ है? व्यवहार में असहयोग का अर्थ है राज्य के कानून न मानकर अथवा तोड़कर राज्य को परेशान करके उसको ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न। देखा गया है कि इस प्रकार के कानून भंग का परिणाम राज्य पर अच्छा ही होता है, और राज्य ने लोकमत के आधार पर कानूनों को बदला भी है। परन्तु राज्य की अवज्ञा करने की प्रवृत्ति खतरे से खाली नहीं है। यदि एकबार जनता में अवैधानिकता अथवा कानून तोड़ने की प्रवृत्ति का समावेश हो जाता है। तो इस प्रवृत्ति को बदलना, इस प्रवृत्ति को सम्हालना असम्भव सा हो जाता है। राज्य का सुप्रबन्ध काफी अरसे के लिए बिगड़ जाता है। प्रजा में नियम भंग की प्रवृत्ति को

बदल कर कानून पालन अथवा आज्ञा पालन की प्रवृत्ति को पुनः जगाना विकट समस्या हो जाती है। नागरिकों के नैतिक बल, त्याग बल, द्वारा शासकों के 'हृदय परिवर्तन' से 'ऐच्छिक परिवर्तन' हासिल करवाने की भी नीति संसार को ज्ञात है इस साधन का उपयोग महात्मा गांधी ने भारत को स्वतन्त्र करने में किया था। परन्तु यह साधन साधारण जनता के परे है सत्य के लिए राजाज्ञा की अवज्ञा करके कष्ट सहन करने के लिए प्रस्तुत रहना व्यक्ति के धैर्य व चरित्र बल का बहुत बड़ा माप दण्ड है। इतना नैतिक बल साधारण जनता में कहाँ? साथ ही साथ सब प्रकार के शासकों के विरुद्ध इस साधन का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

जब सब वैध और शान्तिपूर्ण साधन असफल हो जाँय जब सरकार के परिवर्तन की आशा पूर्णतया निष्फल हो जाय तभी नागरिकों को इस अन्तिम व नष्टकारी शस्त्र का प्रयोग करना चाहिये। यह साधन है सरकार का सक्रिय रूप से विरोध करना। इसमें दोनों ओर से घोर रक्त-पात, हिंसात्मक प्रतिक्रियायें इत्यादि की आशंका है। सहस्रों नागरिकों के जान व माल पर आघात पहुँचता है। सक्रिय आन्दोलन के पक्षपाती कम्युनिष्ट तथा योरोप के कुछ विद्वान हैं। परन्तु सरकार के विरुद्ध सक्रिय विरोध राज्यक्रान्ति, विप्लव इत्यादि का परिणाम अच्छा नहीं होता है। इसलिए विद्रोह कर लेने से पहले इन पर गहन विचार करना चाहिये। (१) सफलता की कितनी आशा है? (२) क्या नयी व्यवस्था से जनता अधिक सुख व शान्ति प्राप्त कर सकेगी? (३) नागरिक जिन असुविधाओं तथा दुखों से आक्रान्त अथवा आहत है क्या वे दुख व असु-विधायें क्रान्ति जनित असुविधाओं और रक्तपात से भी अत्यधिक दुखदायी व असहनीय हैं?

उपरोक्त विरोध सामूहिक विरोध ही होते हैं। व्यक्तिगत विरोध नहीं होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है शासकों से नागरिकों को समझा बुझाकर उनका दृष्टिकोण बदल कर तथा शासकों की कठिनाइयाँ समझ कर

ही काम करना चाहिये। यदि नागरिकों को पूर्ण विश्वास है कि उनके विचार उनके मत यथार्थ हैं तभी उन्हें आन्दोलन की आह्वाहना देनी चाहिये। आखिर राज्य क्रांति अथवा विप्लव का क्यों निषेध किया जाता है? राज्य क्रान्ति के क्या दुष्परिणाम हैं? विप्लव से शान्ति भंग हो जाती है। प्रजा के सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा बौद्धिक जीवन में रुकावट आ जाती है। तथा उनकी सर्वतोमुखी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है राज्यक्रान्ति का परिणाम रक्तपात जानमाल का खतरा अशान्ति, कलह, संघर्ष इत्यादि की उत्पति के कारण भयावह हो जाता है। अर्थात् क्रान्ति अथवा विप्लव मनुष्य की अमानुषिक अथवा विकृत प्रवृत्तियों को जगाता है। विप्लव से राज्य और समाज की तह विस्खलित हो जाती है। जिसे पुनः सुसंगठित करना कठिन हो जाता है और कभी कभी असम्भव भी हो जाता है। अब दूसरी ओर दृष्टिकोण कीजिये। साधारण प्रजा की मनोभावना आकस्मिक परिवर्तन के लिये तैयार नहीं हो पाती है। वे कानून, वे परिवर्तन निष्फल हो जाते हैं। जिसमें प्रजा का मानसिक सहयोग न हो! अतः आकस्मिक परिवर्तन से मानसिक तैयारी के लिये अवसर ही नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त ऐसी गड़बड़ी के कारण राज्य में अराजकता फैल जाती है। तात्कालीन व्यवस्था के लिये अधिकांश देशों में तानाशाही की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य अव्यवस्था अथवा अराजकता को दीर्घकाल के लिये सहन नहीं कर सकता है। अराजकता व अव्यवस्था प्रजा के लिये हानिकारक सिद्ध हुई है।

क्या नागरिक को सेना में कार्य करने से इन्कार करना उचित है?

इस प्रश्न को कई दृष्टि से देखना होगा। यह स्पष्ट है कि जब देश पर विदेशी आक्रमण हो रहा हो तो ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह राष्ट्र की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये राज्य पर तन, मन, धन न्योछावर करे, क्योंकि पराधीनता राष्ट्र के लिये सब प्रकार से हानिकारक है। साथ ही साथ यह भी कहना पड़ता है कि युद्ध खास करके

आधुनिक युद्ध बहुत ही अमानुषिक व हिंसक कार्य है। इससे केवल जान-माल की ही हानि नहीं होती वरन युद्ध में फँसे हुये देशों की सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक, बौद्धिक हर प्रकार की हानि होती है। राष्ट्रों का सुप्रबन्ध नष्ट होता है और जनता की कुप्रवृत्तियाँ जाग उठती हैं। अतः जनता को परमावश्यक होने पर ही युद्ध के लिये प्रस्तुत होना चाहिये। इसके अतिरिक्त जब राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता अपहरण करने के लिए युद्ध करता है। अथवा जब एक राष्ट्र विजय लिप्सा अथवा साम्राज्य लिप्सा से प्रेरित होकर जनता को सेना में भर्ती होने के लिये प्रोत्साहित करता है। तो ऐसी स्थिति में जनता को अपना सहयोग प्रदान नहीं करना चाहिये। क्योंकि स्वतन्त्रता जितनी एक देश के नागरिकों की प्रिय है, उतनी ही दूसरे देश के नागरिकों को भी प्रिय है। निराकरण अन्य राष्ट्रों के नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना अधर्म है।

प्रत्येक राष्ट्र में कुछ ऐसे भी नागरिक होते हैं जिन्होंने अहिंसा का वृत लिया है। ऐसे सच्चे शान्ति के प्रवर्तक अधिकांश राष्ट्रों में हैं इन्हें शान्तिवादी (Pacifist) कहते हैं। शारीरिक व मानसिक कष्ट सहन करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं। परन्तु ये सेना में भर्ती होने से इन्कार करते हैं। ऐसे व्रती विरले हैं। अतः राष्ट्र को ऐसे व्यक्तियों को सेना में भर्ती होने के लिए दबाव नहीं डालना चाहिये।

अध्याय २०

स्वतन्त्रता, समानता व भ्रातृत्व

मनुष्य जीवन के विकास के लिये जितना महत्व अधिकारों का है, उतना ही महत्व स्वतन्त्रता, समानता व भ्रातृत्व का है। स्वतन्त्रता व समानता इन दोनों का समावेश अधिकारों में है। परन्तु इनके महत्व को देखते हुये इन पर अलग विचार करना आवश्यक है।

इतिहास के पन्ने उलटने से यह ज्ञात होता है कि मनुष्य सदा ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये इच्छुक रहा है, और उसकी प्राप्ति के लिये चेष्टा करता रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये मानव-समाज ने बड़े-बड़े बलिदान भी किये हैं।

राज्य की व्यवस्था प्रजा के सर्वांगीण विकास का साधन है। प्रजातन्त्र राज्य में ही प्रजा को पूर्ण विकास का समुचित वातावरण प्राप्त होता है। क्योंकि प्रजातन्त्र राज्य के मौलिक सिद्धान्त स्वतन्त्रता व समानता है। यदि संसार में शान्ति व सुव्यवस्था लानी है, तो प्रत्येक राज्य का संगठन न्याय, स्वतन्त्रता, समानता व बंधुत्व के मौलिक सिद्धान्तों पर होना चाहिये। विश्वशान्ति इसी से सम्भव है। क्योंकि स्वतन्त्रता व समानता के बिना मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर ही नहीं सकता हैं।

स्वतन्त का भ्रमात्मक अर्थः—साधारण बोलचाल की भाषा में स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग नियन्त्रण-रहित जीवन, हस्तक्षेप का पूर्णरूप से अभाव अथवा शासन रहित प्रबन्ध के अर्थ में किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को मनमाना करने का अधिकार ही, स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ माना जाता है। अतः बोलचाल की भाषा में स्वतन्त्रता का अर्थ इच्छा-

नुसार बोलना, सोचना, रहना, व्यवहार करना ही समझा जाता है। अथवा दूसरों के हस्तक्षेप के बिना जीवनयापन करना ही सच्ची स्वतन्त्रता का स्वरूप माना जाता है। अब इस प्रकार की स्वतन्त्रता का व्यवहारिक रूप देखा जायेगा। यदि कोई मनुष्य रास्ते के बीचो-बीच चलता है, और अन्य व्यक्ति उसे बाँई ओर से जाने के लिये कहता है, तो बोलचाल की भाषा में इसे स्वतन्त्रता का हरण कहा जायेगा। उसी प्रकार चोरी करना, व्यभिचार करना, खून खराबी करना इत्यादि भी स्वतन्त्रता के प्रतीक माने जायेंगे। अतः इस अर्थ में स्वतन्त्रता का अर्थ है (१) जब तक एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के जीवन में पदार्पण नहीं करता है, उस सीमा तक वह मनमाना करने का अधिकारी है और उस सीमा के अन्दर वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। अर्थात् व्यक्ति के जीवन का कुछ अंश समाज के अन्दर है और कुछ अंश समाज के बाहर। अर्थात् व्यक्तिगत कार्यों में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। (२) स्वतन्त्रता का अर्थ है मनुष्य पूर्ण रूप से अपने पैरों पर खड़ा रहे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सहायता स्वयं ही करे। अतः लूले, लंगड़े, बूढ़े, बालक इत्यादि की भी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

उपवर्णित अर्थ में स्वतन्त्रता का स्वरूप भयंकरता में परिणित हो जायेगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय के अथवा मन के तरंगों के अनुसार जीवनयापन करेगा तो किसी के भी जान-माल की रक्षा नहीं हो सकेगी। इस प्रकार का स्वेच्छाचार अथवा स्वतन्त्रता समाज व राज्य में अराजकता अथवा अनुशासन रहित जीवन का आव्हाहन करेगी। सभी की स्वतन्त्रता का अपहरण होगा। ऐसा जीवन मनुष्य को दासता की बेड़ी में फंसा देगा। ऐसे जीवन का मूलमन्त्र बल ही होगा। इस बल के साम्राज्य में बलवान व्यक्ति बल का उपभोग स्वार्थ सिद्धि के लिये ही करेंगे। (१) यदि स्वतन्त्रता का उपरोक्त अर्थ सही है तो स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता व उच्छ्रंखलता में कोई भेद नहीं रह जाता है। तात्पर्य यह

है कि समस्त सामाजिक दुर्गुण जैसे चोरी, खून खराबी, हत्या, अत्याचार, व्यसन, व्यभिचार इत्यादि सामाजिक जीवन में स्थान पा जायेंगे। ऐसी स्वतन्त्रता समाज एवं व्यक्ति के लिये घातक होगी। अतः सच्ची स्वतन्त्रता के लिये नियमित होना आवश्यक है। स्वतन्त्रता की सीमा व सुविधा का लक्ष्य समाज व व्यक्ति का हित ही है। (२) यदि स्वतन्त्रता का उपभोग उपरोक्त अर्थ में किया जायेगा तो ऐसी स्वतन्त्रता समाज में सबको उपलब्ध नहीं होगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति इच्छानुसार अथवा भावनानुसार कार्य करेगा तो समाज में संघर्ष पैदा होगा व सबल निर्बल को दबायेंगे तथा उनपर अत्याचर करेंगे। अर्थात् समाज का आधार मत्स्य-न्याय होगा स्वतन्त्रता को सर्वोपयोगी बनाने के लिये स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाना होगा। अतः स्वतन्त्रता का सच्चा स्वरूप यह होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रता उपभोग की सीमा है कि व्यक्ति दूसरे की स्वतन्त्रता पर आघात न पहुँचावे तथा दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। इसलिये राज्य नियम-कानून बनाता है, जिससे सब लोगों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो तथा वे उससे लाभ उठा सकें। (३) यदि स्वतन्त्रता का अर्थ हस्तक्षेप के अभाव से लिया जावे तो स्वतन्त्रता का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत नहीं होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति हितकर कार्यों को करने की सुविधा के लिये ही है। राज्य द्वारा बनाये हुये कानून द्वारा ही यह सुविधायें प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त हो सकती हैं। अतः राज्य के कानून स्वतन्त्रता के रक्षक तथा पोषक हैं। राज्य के कानून स्वतन्त्रता के बाधक अथवा विरोधी कदापि नहीं हैं। उपरोक्त विवरण के बाद स्वभावतः ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

स्वतन्त्रता का ठीक अर्थ :—स्वतन्त्रता के दो रूप हैं। (१) सत्य, न्याय-युक्त, धर्म पूर्ण (२) असत्य, अन्याय-युक्त, अधर्म युक्त। उपवर्णित स्वतन्त्रता का स्वरूप व्यभिचारपूर्ण तथा स्वेच्छाचारिता युक्त है। इस स्वतन्त्रता के वर्णन में सर्व प्रथम त्रुटि यह है (१) मनुष्य और

समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को भूल करके इसका वर्णन किया गया है। इस सत्य का विस्मरण हो गया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और समाज के प्रति उसके कर्त्तव्य हैं, तथा समाज का वह महत्वपूर्ण अंग है। (२) मनुष्य का विकास सहयोग, सहानुभूति, परस्पर प्रेम द्वारा ही हो सकता है। मनुष्य के लिए समाज विहीन जीवन असम्भव ही नहीं किन्तु मनुष्य की धारणा के परे है। मनुष्य का एकांगी जीवन असम्भव ही नहीं, परन्तु नीरस व शुष्क हो जायेगा। यदि मनुष्य एकांगी जीवन व्यतीत करे, तो कुछ काल के अनन्तर उसकी प्रवृत्तियाँ पशुवत होने की सम्भावना भी है।

स्वतन्त्रता के दो पहलू (१) सकारात्मक (२) नकारात्मक

(१) **सकारात्मक :**—स्वतन्त्रता के लिए उन परिस्थितियों का होना परमावश्यक है जिसके द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। इस कारण मनुष्य के अधिकारों की रक्षा ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा है। मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास समाज में रह कर ही सम्भव है। सामूहिक हित जिसमें वैयाक्तिक हित निहित है, नियम, कानून तथा व्यवहार व विचार में नियन्त्रण द्वारा ही सम्भव है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग नियन्त्रित, नियमित, सीमित जीवन द्वारा ही सम्भव है। इसलिए राज्य खून खराबी, डकैती, व्यभिचार इत्यादि को रोकता है। जब राज्य हमें अपनी सन्तान को शिक्षित करने के लिए बाध्य करता है तो वह अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता है परन्तु स्वतन्त्र जीवन के मार्ग को सुगम बनाता है। अतः सकारात्मक स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता को वह स्वरूप है जिसके अन्तर्गत मनुष्य के लिए उस स्वच्छ वातावरण को निर्माण करना जिसके द्वारा मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सके तथा अपनी प्रतिभा व प्रेरणा का पूर्ण रूप से विकास कर सके—

(२) नकारात्मक :—स्वतंत्रता के इस पहलू के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उन परिस्थितियों, उन बाधाओं को और उन नियंत्रणों को दूर करना आवश्यक है जो मनुष्य के पूर्ण विकास में बाधक हैं। अनावश्यक हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण से मनुष्य की आविष्कार बुद्धि, स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति इत्यादि का ह्रास होता है और इस प्रकार मनुष्य की अन्तः प्रेरणा तथा प्रतिभा कुंठित होती है। सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए इन बाधाओं को हटाना आवश्यक है।

अतः सकारात्मक स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता के उस पहलू पर विचार करती है जिसमें राज्य अथवा समाज द्वारा सक्रिय रूप से सुस्वस्थ वाता-वरण को निर्माण करने का प्रयत्न किया जाता है। तथा नकारात्मक स्वतन्त्रता वह पहलू है जिसके द्वारा मनुष्य के पूर्ण विकास में आने वाली विघ्न-बाधाओं को तथा रोड़ों को हटाने का प्रयत्न किया जाता है।

स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार :—मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्रता प्राप्त हो। इस दृष्टिकोण से स्वतन्त्रता के निम्नलिखित भेद हैं।

(१) साधारण स्वतन्त्रता:—साधारण स्वतन्त्रता के अन्तर्गत वे सब अधिकार सम्मिलित हैं जो नागरिक को राज्य की ओर से प्राप्त होते हैं। ये वे स्वतन्त्र अधिकार हैं जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप से तथा सरकार के हस्तक्षेप से बचाती है। प्रत्येक स्वतन्त्र देश में नागरिकों को अपने जीवन सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है उन्हें उस स्वतन्त्रता का उपभोग करने का तब तक अधिकार रहता है जब तक कि वे एक विशेष सीमा का उल्लंघन न करें। इनमें निम्नलिखित स्वतन्त्रता में सम्मिलित हैं। यातायात का अधिकार, भाषण लेखन का अधिकार, जीवन सम्पत्ति का अधिकार, समुदाय का अधिकार, समान न्याय का अधिकार इत्यादि।

(२) राजनीतिक स्वतन्त्रताः—राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है राज्य कार्यों में नागरिकों के भाग लेने का अधिकार। प्रत्येक नागरिक को अपने देश के शासन-प्रबन्ध में भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यह स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र राज्य में ही सम्भव है। उदाहरणार्थ निर्वाचन का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सरकारी पद ग्रहण करने का अधिकार इत्यादि।

(३) राष्ट्रीय स्वतन्त्रताः—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय स्वाधीनता अथवा एक राष्ट्र की दूसर राष्ट्र की अधीनता से मुक्ति—पर्यायवाची शब्द हैं। राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति प्राचीन काल से है। एक देश, एक जाति, एक भाषा, एक धर्म इत्यादि के आधार पर राष्ट्रीय संगठन होता है। इसी आधार पर स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थापना होती है। उपरोक्त भावनाओं से प्रेरित होकर प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वाधीन रखने की इच्छा रखता है तथा अपने राष्ट्र को स्वयं शासन करने का इच्छा करता है। परन्तु राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ अपने राष्ट्र का हित और अन्य राष्ट्रों अहित अथवा उन पर अत्याचार या उनकी स्वतन्त्रता का हरण इस अर्थ में नहीं होना चाहिये।

(४) वैयक्तिक स्वतन्त्रताः—प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को एक विशिष्ट रीति से व्यतीत करना चाहता है? मनुष्य का पूर्ण विकास वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ही हो सकता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सीमा वह है जिसके आचरण से सामाजिक शान्ति व सामाजिक कल्याण में विघ्न-बाधा उत्पन्न न हो। तथा उसके आचरण से अन्य व्यक्तियों के स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न हो। ऐसे वैयक्तिक विषयों में व्यक्ति पर बंधन अथवा नियंत्रण न हो जैसे भोजन, वेशभूषा, रहन-सहन, विवाह इत्यादि मामलों में व्यक्ति को स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(५) धार्मिक स्वतंत्रता :—प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक मामले में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। धर्म संबंधी विषयों में किसी भी मत

को प्रकट करने में, अथवा किसी भी मत को ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये।

(६) नैतिक स्वतन्त्रता :—देश की सुख-समृद्धि एवं पूर्ण उन्नति के लिए व्यक्तियों का सद्व्यवहार, शिष्टाचार, पारस्परिक सहयोग तथा सहानुभूति का व्यवहार अत्यावश्यक है। राष्ट्र का उत्थान नागरिकों के इन गुणों पर ही पूर्णतया अवलम्बित है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए, तथा राष्ट्र में नागरिकों को नैतिक उन्नति के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, तथा प्रत्येक नागरिक को राष्ट्र में नैतिक वातावरण निर्माण करने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

(७) आर्थिक स्वतन्त्रता :—आर्थिक स्वतन्त्रता पर ही देश का कल्याण एवं उत्थान अवलम्बित है। आर्थिक स्वतन्त्रता एवं आर्थिक न्यून-तम के अभाव में उपरोक्त स्वतन्त्रता निर्मूल, व्यर्थ अथवा निष्फल हैं? आर्थिक संकट से पीड़ित व्यक्ति से किसी प्रकार की आशा अथवा अपेक्षा व्यर्थ है। अतः प्रत्येक आधुनिक व उदार प्रकृति राज्य व्यक्ति के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता का उपाय सोचता है। तथा राष्ट्रीय संगठन इस प्रकार बनाना चाहता है जिसमें किसी व्यक्ति को अर्थ का अभाव न हो तथा कोई व्यक्ति आर्थिक संकट से पीड़ित न हो। इस कारण आर्थिक स्वतन्त्रता का आधुनिक प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति को नौकरी का अधिकार, अर्थार्जन का अधिकार, आर्थिक न्यूनतम, अवकाश का अधिकार, काम के निश्चित घंटे, आर्थिक संगठन का अधिकार, वृद्धावस्था में पेंशन का अधिकार, जच्चा की रक्षा, बीमारी, बेकारी, अपघात इत्यादि अवस्थाओं में कानून द्वारा आर्थिक सहायता के उपाय इत्यादि विविध अर्थों में किया जाता है।

भारत संघ ने भी इन अधिकारों को स्वीकार किया है।

उपरोक्त सभी प्रकार की स्वतंत्रता एक दूसरे पर निर्भर है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बिना साधारण स्वतंत्रता पूर्णतया प्राप्त नहीं हो सकती है

परराष्ट्र से पददलित राष्ट्र के नागरिकों को साधारण स्वतंत्रता सीमित रूप से ही प्राप्त हो सकती है। प्रजातंत्र राज्य के असफलता का मुख्य कारण यही है कि प्रजातंत्र राज्यों में नागरिकों को राजनैतिक स्वतंत्रता तो प्राप्त है किन्तु आर्थिक असमानता तथा आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव के कारण राजनैतिक स्वतंत्रता इन देशों में नगण्य हो गई है।

(८) **वैधानिक स्वतंत्रता:**—राष्ट्रीय स्वतंत्रता की सहचरी वैधानिक स्वतंत्रता है। प्रत्येक नागरिक की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि देश का शासन उसके द्वारा निर्मित संविधान के अनुसार चले। कोई बाहरी शक्ति इसमें हस्तक्षेप न करे। संविधान निर्माण संबंधी स्वतंत्रता का नाम ही वैधानिक स्वतंत्रता है। संविधान निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में किसी प्रकार विघ्न न उत्पन्न हो।

स्वतन्त्रता की आवश्यकता:—(१) मनुष्य की उन्नति के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य है। स्वतंत्रता पाकर ही मनुष्य विचार कर सकता है, नयी खोजों का आविष्कार कर सकता है। संसार का उच्चतम साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन इत्यादि विषय स्वतंत्रता प्राप्त व्यक्तियों की देन है। तथा स्वतंत्र वातावरण पाकर ही फलते फूलते हैं? (२) स्वतंत्र वातावरण ही में चरित्र का विकास एवं निर्माण हो सकता है। (३) स्वतंत्रता के चाहता ही देश और राष्ट्र का नाम ऊँचा करते हैं। स्वतंत्रता की भावना ही मनुष्य को परराष्ट्र की बेड़ी तोड़ने में प्रवृत्त करती है।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि राज्य एवं समाज में केवल कुछ ही व्यक्तियों को जो भिन्न क्षेत्र में कार्य कुशल हैं, विचारवान हैं, स्वतन्त्रता का अधिकार देना चाहिये। इससे राज्य और समाजकी कार्य कुशलता बढ़ जायेगी तथा समाज और राज्य का संगठन मजबूत हो जावेगा। इन विद्वानों का कथन है कि सर्वसाधारण जनता स्वतन्त्रता का उपभोग योग्य रीति से नहीं कर सकेगी? क्योंकि उनके दिल व दिमाग का विकास नहीं हुआ है। तथा उनके विचार एवं भावनायें परिमार्जित नहीं हैं। अधिकांश विद्वान इन

विचारों में सहमत नहीं हैं उनका कथन है कि स्वतन्त्रता के अधिकार को असमानता से प्रदान करना, राज्य और समाज के लिए हानिकारक है। प्रजातन्त्र भावना के विरुद्ध है। असमानता एवं पक्षपात की भावना ही द्वेष, संघर्ष, दुख दर्द का मूल है। स्वतन्त्रता ही मनुष्य जीवन का मूलमंत्र है। यही भावना मनुष्य को मनुष्य बनाती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है। स्वतन्त्रता ही मनुष्यता की आत्मा है। स्वतन्त्रता ही मनुष्य के समस्त गुणों की जननी है। अतः समाज व राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता संबंधी समस्त अधिकार समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। उसमें योग्यता, वर्ग, लिंग, धनी-गरीब इत्यादि किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। अतः सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ है कि समाज में सबको समान रूप से स्वतन्त्रता संबंधी अधिकारों को उपभोग करने का अधिकार प्राप्त हो।

राज्यसत्ता व स्वतन्त्रता:—बाह्य दृष्टि से देखने से तथा ऊपरी तौर से विचार करने से राज्यसत्ता एवं स्वतन्त्रता विरोधी प्रकृति मालूम देते हैं। गहराई से देखने से मालूम देगा कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक एवं रक्षक हैं। अतीव राज्यशक्ति का दूसरा नाम निरंकुशता है जो समाज के लिए हानिकारक है। इतिहास के पन्ने उलटने से मालूम देता है कि कई बार सरकार ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को पद-दलित किया है। राज्यों में सरकार का स्वरूप विकृत हो गया है, और सरकार ने नागरिकों के स्वतंत्रता संबंधी अधिकारों की रक्षा करने के बदले उनका हरण किया है। ऐसी स्थिति में नागरिकों को सरकार का विरोध करना चाहिए। किन्तु राज्य का अस्तित्व नहीं मिटाना चाहिए। राज्य और सरकार भिन्न संस्थाएँ हैं। सरकार परिवर्तन शील है किन्तु राज्य का अस्तित्व मिटाना, स्वतंत्रता का हनन करना है तथा नागरिकों के लिए अहितकर है।

अतीव स्वतंत्रता का दूसरा नाम अराजकता है। जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का अन्त हो जायेगा। अतः राज्य-

शक्ति की सीमित मर्यादा है। राज्यशक्ति इतनी होनी चाहिये कि वह राज्य को सुसंगठित रखते हुये व्यक्ति को पूर्ण विकास की स्वतंत्रता प्रदान करे क्योंकि सुसंगठित राज्य ही में पूर्ण स्वतंत्रता का वातावरण पाया जा सकता है। नागरिक को अपने स्वतन्त्रता संबंधी अधिकारों के लिए सतर्क रहना चाहिए। नागरिक की सावधानी और चौकसी पर ही स्वतंत्रता की रक्षा निर्भर है। राज्यसत्ता ही वह निष्पक्ष तथा उच्चतम सत्ता है जो प्रत्येक नागरिक के अधिकारों की रक्षा तथा उपभोग के लिये योग्य वातावरण का निर्माण करती है। नागरिक की सतर्कता तथा तत्परता ही स्वतंत्रता की रक्षा कर सकती है। अतः राज्य और समाज हमारी उन्नति के साधक हैं बाधक नहीं।

व्यक्ति के लिए राज्यसत्ता की आवश्यकता:— (१) राज्य व्यक्ति के संपूर्ण विकास को बाधाओं को दूर करता है। (२) राजनैतिक व सामाजिक जीवन के उन अधिकारों को प्रोत्साहित करता है जिसके द्वारा मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव हो, तथा राज्य एवं समाज का वातावरण सुस्वस्थ एवं सुसंगठित हो। आधुनिक समाज को राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त हैं। अतः व्यक्ति की पूर्णता के लिए अधिक अवसर उपलब्ध हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता का रूप सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही है। (३) प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा स्वयं नहीं कर सकता है। अतः राज्य एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा दूसरे व्यक्ति के अनियंत्रित हस्तक्षेप को रोक कर करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्र अधिकारों की सीमा को निहित करता है। १९ वीं शताब्दी में दृष्टिवादियों ने राज्य के कार्यों की सीमा अत्यधिक रूप से सीमित कर दी थी। उनका कथन है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप से विकास राज्य कार्यों का सीमित क्षेत्र होने से ही हो सकता है। समाजवादियों का विचार इससे विपरीत है। उनका कथन है कि राज्य कार्यों को बढ़ाकर ही नागरिकों के स्वतन्त्रता का सच्चा स्वरूप सम्भव है। (४) राज्य अयोग्य व्यक्तियों को जो स्वयं सोच विचार नहीं सकते

हैं, स्वतंत्रता के अधिकारों से वंचित करता है। जैसे पागल, खूनी, अज्ञानी, नाबालिग, अनागरिक, विकृत प्रवृत्ति वाले व्यक्ति इत्यादि। अयोग्य व्यक्ति जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके समाज को बिगाड़ सकते हैं उनको स्वतन्त्र अधिकारों से राज्य वंचित करता है। (५) राज्य स्वतन्त्रता प्रदान करके स्वतन्त्रता को वास्तविकता प्रदान करता है। (६) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं तथा कार्यों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। राज्य अपनी प्रभुशक्ति द्वारा निष्पक्ष रूप से, समान रूप से प्रत्येक को यथास्थान सीमित करता है तथा संघर्ष को दूर करने का प्रयत्न करता है। (७) निर्बलों को सबलों क अत्याचार से बचाता है।

अतः राज्य की प्रभुशक्ति समान रूप से सबके अधिकारों की रक्षा करती है। सर्वोच्चता स्वतन्त्रता को विरोधी नहीं वरन रक्षक एवं पूरक है।

स्वतन्त्रता और कानून:—साधारणतया कानून व स्वतंत्रता विरोधात्मक मालूम देते हैं। परन्तु वास्तव में यह भ्रमपूर्ण है। स्वतन्त्रता का साधारण अर्थ है अनियंत्रण तथा कानून का साधारण अर्थ है नियंत्रण। इसलिए कुछ लोगों का यह ख्याल है कि कानून के अभाव ही में सच्ची स्वतन्त्रता विकसित हो सकती है। उनका कथन है क्या कानून के विरोध तथा बंधनों में स्वतन्त्रता प्रस्फुटित हो सकती है? राज्य कानून व नियमों द्वारा पग-पग पर नागरिकों की स्वतन्त्रता में रोड़े बिछाता है। कानून के रहते हुए स्वतन्त्रता का उपभोग असंभव है। गौर से देखते से मालूम देगा कि उपरोक्त धारणा गलत है। सामाजिक जीवन बिना कायदे व कानून के असंभव सा जान पड़ता है। कानून अधिकारों की सीमा का निर्देश करता है। दूसरों से क्या और कितनी आशा करनी चाहिये इसका आदेश देता है। तथा व्यक्ति को क्या नहीं करना चाहिये इसका वर्णन करता है। कानून मनुष्य का मनुष्य के प्रति संबंध दिखाता है। कानून बताता है कि एक व्यक्ति की स्वतंत्रता का कहाँ पर अन्त हुआ है और दूसरे की स्वतन्त्रता का कहाँ प्रारम्भ। उदाहरणार्थ रास्ते पर चलने का हमें अधिकार

है, पर यदि रास्ते पर चलने का कोई कानून न हो तो प्रत्येक व्यक्ति, सभी सवारियाँ एक दूसरे के मार्ग को रोकेंगी तथा एक दूसरे से टक्कर खायेंगीं। अर्थात् रास्ते पर गड़बड़ी मच जायेगी हजारों अपघात होंगे और जान माल का नाश होगा। कानून के बिना यही स्वरूप राज्य और समाज का होगा। अर्थात् राज्य और समाज में अराजकता का साम्राज्य होगा। अतः कानून स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए अनिवार्य हैं। तथा स्वतन्त्रता में व्याघात पहुँचाने वालों की स्वच्छन्दता में बाधक है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य द्वारा निर्मित कानून नितान्त आवश्यक है। राज्य की शान्ति व सुव्यवस्था कायम रखने के लिए नियमों का निर्माण आवश्यक है। अतः नागरिकों का पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अच्छे नियमों का समुचित पालन करें। इन नियमों का पालन करके ही नागरिक स्वतन्त्रता का आनन्द उठा सकता है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कानून अच्छे व बुरे दोनों ही प्रकार के होते हैं। कभी-कभी स्वार्थी शासकों द्वारा ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाता है जो नागरिकों की स्वतन्त्रता का हरण करे। ऐसी दशा में शासकों को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये किन्तु कानूनों की अवज्ञा करना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता है। अतः कानून स्वतन्त्रता का रक्षक भी है तथा स्वतन्त्रता का भक्षक भी है। ऐतिहासिक समय से देखा गया है कि कानून शोषक, पक्षपात पूर्ण तथा स्वार्थ पूर्ति के लिए भी बनाये गये हैं। ऐसे कानूनो का विरोध अवश्यम्भावी है।

समानता :—फ्रांस की राज्य क्रान्ति के मूल तत्व थी समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व। स्वतन्त्रता की भांति समानता का भी महत्वपूर्ण तथा आवश्यक स्थान है। राज्य के संगठन के इन तीन स्तम्भों के बिना सभ्य जीवन तथा प्रजातन्त्रात्मक राज्य की स्थापना ही नहीं हो सकती है। समानता का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को बराबर अधिकार, और उनको उपभोग करने का अधिकार, तथा उसकी प्राप्ति। इसलिए समानता का आधार

स्वतन्त्रता है, तथा स्वतन्त्रता का समानता। स्वतन्त्रता के अर्थ ही में समानता निहित है। असमानता व्यक्ति के पूर्ण विकास को रोकती है। असमानता व्यक्ति की उन्नति में बाधक है।

समानता का भ्रमात्मक अर्थ :—कुछ लोग समानता का अर्थ समस्त लोगों की बराबरी से लेते हैं। उनके विचारानुसार प्रत्येक व्यक्ति को एक-सा भोजन, एक-सी शिक्षा, एक-सा वेतन, एक-सा निवास स्थान मिलना चाहिये। अर्थात् समानता का अर्थ हर एक बातें एक समान होनी चाहिये। कुछ लोगों का कथन है कि आर्थिक समानता सच्ची समानता का द्योतक है। जो लोग समानता का विरोध करते हैं वे इस प्रकार तर्क करते हैं। प्रकृति में ही असमानता दृष्टिगोचर होती है। इसलिए मनुष्य समाज में समानता असंभव है। समानता की स्थापना एक असंभव स्वप्न है। मनुष्य मनुष्य के, भाई भाई के शारीरिक, मानसिक शक्तियों में अन्तर होता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति वैज्ञानिक है, कोई कलाकार, कोई मूर्ख, कोई पागल, कोई साहित्यिक। उसी प्रकार विभिन्न समाज में रुचि के, विभिन्न योग्यता के, विभिन्न प्रकृति के, विभिन्न मानसिक नैतिक तथा शारीरिक शक्ति के अर्थात् विभिन्न गुणों से विभूषित व्यक्ति पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुसार समाज की सेवा करता है। असमान प्रकृति जनसमूह को एक ही मापदंड से नापना बुद्धिमानी नहीं है। समानता के सिद्धान्त से प्रभावित हो कर यदि मूर्ख तथा विद्वान को एक ही तौल में तौला जायेगा तो प्रतिभाशाली व्यक्तियों की उन्नति नहीं हो सकेगी, और विद्वान तथा असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति पूर्ण उन्नति तथा पूर्ण विकास की चेष्टा ही नहीं करेंगे। उनकी अन्तः प्रेरणा का अन्त हो जायेगा। इससे राज्य एवं समाज का नुकसान होगा। यदि अधिक परिश्रम तथा विद्वत्ता के लिए तथा साधारण व्यक्ति के लिए समान पुरस्कार की की योजना की जायेगी तो नये खोज, आविष्कार, साहित्य, कला इत्यादि

कार्य स्थगित हो जायेंगे। अतः इन विद्वानों का मन्तव्य है कि प्रतिभाशाली व्यक्तियों के प्रति राज्य तथा समाज को अधिक उदार होना चाहिये, क्योंकि उनकी कृति से समाज व राज्य की उन्नति तथा लाभ होता है। गुणी, विद्वान, योग्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अधिक पुरस्कार मिलना चाहिए। अतः समानता सिद्धान्त का दूसरा नाम है भयंकरता। समानता का अर्थ मूर्ख, डाक्टर, इंजीनियर, सचिव, राजा, साहित्यकार, कलाकार, पागल इत्यादि को समान पुरस्कार देना तथा उनसे समान व्यवहार करना—यह समानता की भ्रमात्मक परिभाषा है। वस्तुतः उपवर्णित धारणाएँ सर्वथा अनुचित एवं अव्यवहारिक हैं।

समानता का ठीक अर्थ:—समानता के पक्षपाती मनुष्य की नैसर्गिक योग्यता एवं गुणों के अन्तर को समझते हैं। परन्तु सूक्ष्म दिल से विश्लेषण किया जावे तो मालूम होता है कि परिस्थिति के कारण भी भिन्नता बढ़ जाती है तथा असमानता बृहत रूप धारण कर लेती है। बाह्य परिस्थिति मनुष्य जीवन पर प्रभाव डालती है। अतः राज्य और समाज का यह प्रयत्न होना चाहिए कि वह ऐसी परिस्थिति का निर्माण करे जिससे प्रकृति प्रदत्त असमानता भी कम हो जावे। ऐसा तभी संभव है जब राज्य और समाज निम्नलिखित विषयों को सक्रीय एवं सचेत रूप से प्रोत्साहित करके नवीन वातावरण को निर्माण करेंगे।

(१) प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण विकास का अधिकार एवं अवसर मिलना चाहिए। निजी योग्यता तथा रुचि के अनुसार उन्नति की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति का सुअवसर मिलना चाहिए।

(२) समाज की रचना सामाजिक समानता के सिद्धान्त पर होनी चाहिए। समाज के वर्ग, जाति, लिंग, रूप, अमीर-गरीब इत्यादि के भेद भाव का अन्त होना चाहिए। राज्य को सक्रिय रूप से ऐसे समाज की रचना का प्रयत्न करना चाहिए, आज भारतीय समाज में सामाजिक असमा-

नता विष तुल्य हो रही है। ऊँच, नीच, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, अछूत इत्यादि भावनायें भारतीय समाज के टुकड़े टुकड़े कर रही है। सामाजिक असमानता समाज में द्वेष एवं संघर्ष पैदा करती है। भेदभाव रहित समाज ही में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ाने का उत्साह होगा। इससे व्यक्ति, राज्य एवं समाज सभी का कल्याण होगा। अर्थात् सामाजिक समानता ही समाज का एकीकरण करके समाज को सुदृढ़ एवं स्वस्थ बना सकती है।

(३) प्रत्येक नागरिक को राज्य की ओर से अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा का अवसर प्राप्त होना चाहिए। शिक्षा द्वारा ही चरित्रबल, मानसिकबल बढ़ता है। शिक्षा द्वारा ही नागरिक को कर्त्तव्य और अधिकारों का ज्ञान प्राप्त होता है। शिक्षा ही सभ्यता का प्रथम सोपान है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक समानता प्राप्त होनी चाहिये।

(४) आर्थिक समानता का यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति की आय सम्पत्ति व पुरस्कार समान कर दिया जावे। आर्थिक समानता का अर्थ है (अ) योग्यतानुसार काम करने के पश्चात् आवश्यकतानुसार वेतन पाने का अधिकार (ब) धनी व निर्धनों के बीच की अति गहरी खाई को कम करना (स) आर्थिक असमानता को हटाकर प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति का समान अधिकार प्राप्त होना। कार्य के अभाव में किसी व्यक्ति को भूखे मरने की नौवत नहीं आनी चाहिए। (द) राज्य को आर्थिक न्यूनतम स्थिर कर देना चाहिए। समाज की आर्थिक रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि समाज की कम से कम आय (अथवा आर्थिक न्यूनतम) में तथा उच्च से उच्च आय में २० प्रतिशत या २५ प्रतिशत से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। १९ वीं शताब्दी में विद्वानों का ध्यान आर्थिक समानता की ओर आकृष्ट हुआ था क्योंकि आर्थिक समानता के बिना अन्य समानता केवल ढकोसला मात्र है। अर्थ के बल पर मत ही क्या संसार की समस्त शक्तियाँ तथा वस्तुवें खरीदी जा

सकती हैं। अर्थ के लिए मनुष्य घृणित से घृणित कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। यह निश्चित है कि व्यक्ति को योग्यतानुसार व्यवस्थापिका सभा में तथा अन्य सरकारी पद पाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए तथा प्रत्येक नागरिक को मत प्रकाशित करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु यह निश्चित है कि जब तक मनुष्य को आर्थिक समानता प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक राजनैतिक समानता निष्फल है, अव्यवहारिक है। प्रजातंत्र राज्य के असफलता का प्रमुख कारण आर्थिक असमानता ही है। प्रत्येक नागरिक को मत प्रदान करने का समान अधिकार प्राप्त है किन्तु पूँजीपति आर्थिक बल द्वारा नागरिकों के वोट खरीद लेते हैं। आर्थिक असमानता पूँजीवाद को शक्तिशाली बनाता है।

(५) हरेक व्यक्ति को कानून द्वारा रक्षा का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। धन, जाति, वर्ग, अफसर, साधारण नागरिक, लिंग इत्यादि के भेदभाव के बिना पक्षपात रहित न्याय का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। समान अपराध के लिए समान रूप से दंड मिलना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष न्याय का अधिकार होना चाहिए। समान न्याय तथा समान कानून पर ही प्रजातन्त्र राज्य की नींव सुदृढ़ हो सकती है।

स्वतन्त्रता तथा समानताः—कुछ विद्वानों का कथन है कि समानता व स्वतंत्रता विरोधी तत्त्व हैं। जहाँ स्वतंत्रता है वहाँ समानता नहीं हो सकती है। प्रकृति से ही मनुष्य में बल, बुद्धि, विद्या, विवेक इत्यादि में सदा असमानता दृष्टिगोचर होती है। यदि असमानता को देखते हुए भी राज्य समानता की स्थापना करे तो तेजस्वी, विद्वान और गुणी व्यक्तियों की उन्नति को रोक कर उन्हें सर्व साधारण की श्रेणी में लाना पड़ेगा। ऐसा करने से समाज में समानता की स्थापना हो जावेगी किन्तु स्वतंत्रता का हरण हो जायेगा।

दूसरे विद्वानों का कथन है कि समानता स्वतंत्रता का विरोधी नहीं वरन सहायक व पूरक है। समानता ही स्वतंत्रता का आधार है। समानता के बिना वास्तविक स्वतंत्रता की स्थापना संभव नहीं है। जब प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अधिकार दिया जायेगा तभी व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने विकास का प्रयत्न करेगा। हमारे समाज में दरिद्रता तथा शिक्षा के अभाव के कारण तथा जात-पाँत के भेद के कारण अनेकों व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। कदाचित् इन अशिक्षित दरिद्र बालकों में कालीदास, रमण आदि विद्वान छिपे हों जो अवसर व साधनों के अभाव के कारण अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता को विकसित नहीं कर सके हों। वर्गभेद भी असमानता को उत्पन्न करता है तथा स्वतन्त्र विकास को रोकता है। जैसे जमींदार व पूँजीपति राज्य व्यवस्था को पूँजी द्वारा अपने हाथ में रखकर अपने वर्ग के लाभ के लिए राज्य संगठन का उपयोग करते हैं। अपनी शक्ति स्थायी बनाने के लिए राज्य के नियम, कानून को स्वार्थ हित के लिए तोड़ते मरोड़ते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने से मालूम होता है कि समानता व स्वतन्त्रता एक दूसरे के सहायक व पूरक हैं। वास्तव में दोनों का उग्र रूप तथा विकृत रूप विरोधी है। यदि हम स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी करण तथा समानता का अर्थ हर क्षेत्र, हर विषय में बराबरी का लगावें तो दोनों तत्व विरोधी मालूम देंगें? यदि स्वतन्त्रता का अर्थ नियमित स्वतन्त्रता हो और समानता का अर्थ अवसर व सुविधाओं की समानता मानी जावें तो दोनों शब्द एक दूसरे के पूरक व सहायक ही मालूम होंगे। प्रकृतिदत्त असमानता होते हुए भी मनुष्य को मनुष्य के प्रति स्वतन्त्र व समान रूप से विकास व उन्नति का अवसर व सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। यही स्वतंत्रता व समानता का वास्तविक स्वरूप है। इस अर्थ में दोनों शब्द एक दूसरे के सहायक व पूरक हैं।

अतः समाज व व्यक्ति की दृष्टि से समानता आवश्यक तत्व है। समानता मनुष्य के चरित्र को बलवान बनाती है, असमानता मनुष्य का चारित्रिक पतन करती है। समानता मनुष्य की प्रतिभा को विकसित करती है, असमानता मनुष्य के प्रतिभा को कुंठित करती है। अर्थविहीन व्यक्ति अर्थ के लिए सब कुछ बेचने के लिए तैयार हो जाता है। उसका नैतिक पतन हो जाता है। धनवान व्यक्ति अर्थ के बल पर स्वार्थ साधन के लिए प्रस्तुत होता है तथा अनीति का मार्ग ग्रहण करता है। अतः स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समानता का होना परमावश्यक है। असमानता क्रान्ति, अशान्ति, संघर्ष, लूट, चोरी, विद्रोह, काला बाजार इत्यादि को उत्पन्न करती हैं। असमानता ही चरित्रहीनता को उत्पन्न करता है। समाज व व्यक्ति का अन्योन्याश्रय संबंध है। अतः व्यक्ति का पतन ही समाज का पतन है। व्यक्ति ही समाज का निर्माण करता है। समुन्नत व्यक्ति, दृढ़ चरित्र व्यक्ति संपूर्ण समाज का सिर ऊँचा उठाते हैं। अतः सुदृढ़ समाज की स्थापना के लिए समानता व स्वतंत्रता परमावश्यक है।

भ्रातृत्व:—समानता व स्वतंत्रता की सहचरी भ्रातृत्व की भावना है असमानता ही भ्रातृत्व की भावना का नाश करती है। असमानता ही भातृत्व की भावना का सबसे बड़ा रोड़ा है। प्रेम, सहानुभूति व सहयोग की भावना के आधार पर ही समाज व राज्य सुदृढ़ हो सकता है। यही भावनाएँ राज्य व समाज में शान्तिपूर्ण वातावरण को पैदा कर सकती हैं। इस संघर्षमय जीवन में यह भावना परमावश्यक है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति, एक संस्था का दूसरी संस्था के प्रति, एक राज्य का दूसरे राज्य के प्रति भ्रातृत्व की भावना का होना आवश्यक है। जब राज्य व समाज में सच्ची समानता व सच्ची स्वतंत्रता का निर्माण होगा तब राज्य और समाज में भ्रातृत्व की भावना का स्वाभाविक रूप से उदय होगा। राज्य और समाज में शान्ति, समृद्धि और उन्नति इसी भावना के द्वारा संभव है। यह भावना केवल राष्ट्र की सीमा से ही सीमित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी इसकी आवश्य-

कता है। इसी से संसार का कल्याण होगा। प्रेम, सहयोग व सहानुभूति की बुनियाद पर ही अन्तर्राष्ट्रीय हित की स्थापना हो सकती है। जिसमें प्रत्येक राष्ट्र का हित निहित है। अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व अथवा प्रेम, सहयोग व सहानुभूति द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं का हल संभव है। अतः शिक्षा द्वारा, प्रचार द्वारा प्रत्येक देश के नागरिकों के हृदय में अन्तर्राष्ट्रीय नागरिकता की भावना का प्रादुर्भाव करना चाहिए। तथा प्रत्येक राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय संघात्मक संगठन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। ऐसा न होने से संसार का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा। विज्ञान दिन प्रतिदिन प्रकृति की शक्तियों पर विजय पा रहा है। आज भी संसार के शक्तिशाली राष्ट्र कीटाणु युद्ध, अणुबम इत्यादि की बातें कर रहे हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध हुआ तो इन वैज्ञानिक शस्त्रों द्वारा मनुष्यमात्र का नाश होगा तथा उसके साथ आधुनिक संस्कृति नष्ट प्राय हो जायेगी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सच्ची मानवता का बीजारोपण शिक्षा व प्रचार द्वारा करना आवश्यक है। इस प्रकार नागरिकों की विचारधारा में परिवर्तन करके ही संसार में शान्ति स्थापना का प्रयत्न हो सकता है। मानवता व भ्रातृत्व पर्यायवाची शब्द हैं। मनुष्यमात्र ईश्वर का अंश है। अतः धार्मिक दृष्टि से भी मनुष्य समान हैं, एक दूसरे के भाई हैं।

अध्याय २१

शिक्षा, सम्पत्ति व दण्ड

राज्य और सरकार के संगठन के भेद व उपभेदों तथा उनके विविध कार्यों का विस्तार पूर्वक वर्णन एवं विवेचना हो चुकी है। अब कुछ ऐसी शक्तियों का वर्णन किया जायेगा जिनका स्थान राज्य के निर्माण, संगठन एवं स्थापना में महत्वपूर्ण है। शिक्षा, दंड और सम्पत्ति द्वारा राज्य का स्थायित्व बना रहता है। तथा इन्हीं द्वारा राज्य सुदृढ़ बना रहता है।

शिक्षा

सामाजिक जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा राज्य का नैतिक आधार है। संगठित व्यक्ति समूह राज्य का निर्माण करता है। व्यक्ति के निर्माण में शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। शिक्षा ही मनुष्य को संस्कृत और सभ्य बनाती है। अप्रत्यक्ष रूप से उचित शिक्षा ही राज्य को उन्नति एवं सुसंस्कृत बना सकती है। शिक्षा ही राज्य को स्थायी बना सकती है। क्योंकि सभ्य व उन्नत राज्य की कल्पना शिक्षा के बिना असंभव है। समाज का प्रत्येक प्राणी इन कल्पनाओं से प्रभावित होता है। (१) पाठशालाओं ही में बालक, विभिन्न प्रकृति, विभिन्न स्तर तथा विभिन्न वातावरण में पले हुए बालकों के सम्पर्क में आता है। तब इन बाहरी शक्तियों से अपने विचार, अपना स्वभाव संतुलित करना सीखता है। पाठशालाओं ही में विद्यार्थी सहयोग, प्रेम, परस्पर सहायता का पाठ सीखता है। पाठशालाओं ही में विद्यार्थी आदर एवं अनुशासन इत्यादि गुणों का पाठ पढ़ता है। साथ ही साथ शिक्षा द्वारा ही विद्यार्थी अच्छी प्रवृत्तियों को जगाना व बुरी प्रवृत्तियों को परिमार्जित करना सीखता है। अतः शिक्षा द्वारा ही मनुष्य में स्वच्छ नागरिक का भाव, देशभक्ति,

घरेलू जीवन सुखमय बनाने के मार्ग, मनुष्य मनुष्य के विभिन्न संबंधों को संतुलित बनाये रखना, समाज सेवा, त्याग इत्यादि गुणों की उत्पत्ति एवं जागृति होती है। यदि उचित प्रकार की शिक्षा प्रदान की जावें तो नागरिक में उपरोक्त गुणों की उत्पत्ति होकर समाज का सर्वांगीण विकास हो सकता है। मनुष्य अनुशासन तथा दृढ़ इच्छा शक्ति से ही बुरी प्रवृत्तियों पर विजय पा सकता है। विवेक ही मनुष्य की इन अच्छी प्रवृत्तियों को जगाता है। शिक्षा ही मनुष्य को विवेक का ज्ञान कराती है। अब शिक्षा ही दृढ़ इच्छा शक्ति, विवेक को जागृत करके मनुष्य को अनुशासित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है।

(२) शिक्षा अर्थोपार्जन में भी सहायक है। मनुष्य जीवन में धन का महत्वपूर्ण स्थान है। धन के अभाव में व्यक्ति सम्मानपूर्ण, सुखी, स्वस्थ, सुशिक्षित जीवनयापन नहीं कर सकता है। शिक्षा मनुष्य को धनोपार्जन की योग्यता प्रदान करती है तथा आर्थिक दृष्टि में स्वावलम्बी होने में सहायक है। शिक्षित व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकता है।

(३) शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को प्रकृति की शक्तियों का ज्ञान होता है। अतः शिक्षा ही ज्ञान और विज्ञान की कुञ्जी है। इस ज्ञान की सहायता ही से मनुष्य अर्थ संचय कर सकता है। शिक्षा ही मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य की कुञ्जी है। शिक्षा ही मनुष्य को उच्च ध्येय की ओर प्रवृत्त करती है। शिक्षा ही मनुष्य को समय का यथोचित व्यय करना सिखलाती है। शिक्षा मनुष्य को पठन-पाठन की ओर प्रवृत करती है। शिक्षा ही मनुष्य को सार्वजनिक कार्य एवं समाज सेवा की ओर प्रवृत्त करती है। शिक्षा ही मनुष्य को भूतकाल के अनुभवों का ज्ञान कराती है तथा उसी के द्वारा मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होती है। इसी के कारण मनुष्य में सार्वजनिक कार्य की प्रेरणा तथा समय का सदुपयोग करने की भावना जागृत होती है। यही मनुष्य व समाज के उन्नति की कुञ्जी है।

(४) आज प्रजातंत्र राज्य का युग है। हर वयस्क स्त्री और पुरुष को मतप्रदान का अधिकार प्राप्त है। अतः राज्य का भविष्य राज्य का सुप्रबंध प्रत्येक नागरिक की जिम्मेदारी है। कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान, नागरिकता की भावना का बीजारोपण, नीति और चरित्र निर्माण, शिक्षा ही करती है और कर सकती है। अतः शिक्षा हर व्यक्ति को मिलनी चाहिये जिससे वह विभिन्न परिस्थिति में अपने कर्तव्य को विवेकयुक्त ज्ञान द्वारा कर सके शिक्षा द्वारा ही मनुष्य की प्रवृत्तियाँ निर्मल बन सकती हैं तथा उसकी असामाजिक प्रवृत्तियों को ठीक रास्ते पर ला सकती हैं। शिक्षा से ही मनुष्य का विस्तृत दृष्टि कोण हो सकता है। अतः शिक्षा का ध्येय मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिये। परन्तु शिक्षा संस्थाओं में राजनीतिक दलबन्दी, धार्मिक दलबन्दी इत्यादि का वीभत्स वातावरण नहीं होना चाहिये। शिक्षा का ध्येय उदार व विस्तृत दृष्टिकोण को पैदा करना ही होना चाहिये।

आदर्श शिक्षा का स्वरूपः—(१) शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसमें मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो अर्थात् शिक्षा मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक व राष्ट्रीय इत्यादि समस्त पहलुओं का विकास करने वाली होनी चाहिये।

(२) शिक्षा मनुष्य के विवेक बुद्धि व न्याय बुद्धि को विकसित करने वाली हो। जिससे हरेक शिक्षित नागरिक स्वाधीनता से विचार करने की शक्ति रक्खे। शिक्षा मनुष्य के उदार, विस्तृत एवं विशाल दृष्टिकोण से सोचने व विचार करने की शक्ति पैदा करे। शिक्षा द्वारा मनुष्य के विचारों को लोचक बनाना चाहिये। जिससे मनुष्य परिस्थिति के अनुसार अपने को बदलना सीखे। जिससे व्यक्ति कट्टर, दकियानूसी व अपरिवर्तनशील न बना रहे। रूढ़ी तथा प्रथाओं का, अन्धविश्वास का भक्त न बना रहे, किन्तु प्रत्येक पहलू पर उपयोगिता की दृष्टि से विचार कर सके। शिक्षा

द्वारा प्रत्येक व्यक्ति में व्यक्तिहित को गौण स्थान देनेकी तथा समाजहित को उच्च स्थान देने की मनोवृत्ति पैदा होनी चाहिये।

(३) शिक्षा केवल पुस्तकी ज्ञान से सीमित नहीं होनी चाहिये परन्तु शिक्षा ऐसी होनी चाहिये की उसका उपयोग व्यवहारिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति कर सके। शिक्षा समाज की परिस्थिति के अनुरूप तथा कार्यव्यवस्था के आधार पर होनी चाहिये। शिक्षा आर्थिक दृष्टि से मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने में सहायक होनी चाहिये।

(४) शिक्षा विद्यार्थियों में पूर्व संचित ज्ञान की अभिरुचि पैदा करते हुये मनुष्य में नये विचार, नये आविष्कार व खोज करने की शक्ति पैदा करें।

(५) आधुनिक भारतीय शिक्षा मनुष्य का बौद्धिक कार्य के लिये आदर करती हैं। किन्तु हाथ के काम को अनादर की दृष्टि से देखती है। उदाहरणार्थ सुशिक्षित व्यक्ति भाषण देना, डाक्टरी करना इत्यादि कार्यों की गणना उच्च बौद्धिक व सम्मान योग्य कार्य समझा जाता है किन्तु अपने हाथ से कृषि करना, झाड़ू लगाना अथवा मेज कुर्सी को साफ करना इत्यादि कार्य को केवल मजदूरी समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। इस मनोवृत्ति का अन्त होना चाहिये, विद्यार्थियों में शारीरिक व मानसिक दोनों ही कार्यों के प्रति आदर की भावना पैदा करनी चाहिये। जिससे विद्यार्थियों में किसी कार्य के प्रति ऊँच-नीच की भावना न हो।

(६) विद्यार्थियो में स्वास्थ्य रक्षा व व्यायाम के प्रति अभिरुचि पैदा करनी चाहिये। प्रत्येक विद्यालय में नैतिक व अध्यात्मिक वातावरण भी पैदा करना चाहिये।

(७) शिक्षा का ध्येय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति होना चाहिये। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति में मानव समाज की एकता की भावना का बीजारोपण होना चाहिए। हर शिक्षित व्यक्ति में रंग, रूप, जाति, लिंग, वर्ग

इत्यादि का भेद भाव नहीं होना चाहिए। शिक्षा द्वारा प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा नयी मानवता की भावना की जागृति होनी चाहिए।

(८) शिक्षा में उपदेशों का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु गुरुजनों का काम केवल उपदेश देकर ही समाप्त नहीं होता है। परोक्ष तथा अपरोक्ष रीति से गुरुजनों के चरितार्थ किए हुए उपदेशों का प्रभाव विद्यार्थियों पर अधिक तथा स्थायी रूप से होता है। गुरुजनों का सद्चरित्र, सदाचरण, पवित्र व्यवहार तथा प्रेम के व्यवहार का विद्यार्थियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। उपदेशों से भी अधिक इन सब बातों से विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण होता है। आदर्श आदरणीय तथा बुद्धिमान गुरुजन ही अच्छे सद्चरित्र विद्यार्थियों का अथवा सच्चे नागरिकों का निर्माण कर सकते हैं।

सम्पत्ति

सामाजिक जीवन में सम्पत्ति का बहुत बड़ा व महत्वपूर्ण स्थान है। सम्पत्ति की उत्पत्ति कब और कैसे हुई इसका कोई ऐतिहासिक लेखा नहीं है। सम्भवतः मनुष्य के जीवन के साथ ही साथ इसकी उत्पत्ति हुई होगी। कुछ विचारकों का कथन है कि सम्पत्ति की प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि युद्ध की प्रथा। सभ्यता के प्रारम्भ में विजेता वर्ग पराजितों की भूमि, स्त्री इत्यादि अन्य सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा लेते थे। युद्ध के बाद पराजितों की सम्पत्ति विजेता वर्ग अपने सैनिकों में वितरित कर देते थे। यहीं सम्पत्ति प्रथा का जन्म हुआ। अन्य विद्वानों का कथन है कि निजी सम्पत्ति का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अपने परिश्रम को प्रकृति की देन से मिश्रित करके उत्पादन प्रारम्भ किया। निजी सम्पत्ति प्रथा का जन्म सामाजिक जीवन के प्रारम्भ में हुआ होगा। जब मनुष्य में संग्रह करने की भावना ने जन्म लिया होगा और आवश्यक वस्तुओं को आदान-प्रदान की प्रथा का प्रारम्भ हुआ होगा।

निजी सम्पत्ति की शुरुआत कब और कैसे हुई यह कहना कठिन है। सम्भवतः भूतकाल में जब प्रथम बार मनुष्य ने प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाई तथा अपने उपभोग की वस्तुएँ परिश्रम से उत्पादन की उसी समय निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति हुई। क्रमशः समाज व राज्य ने सम्पत्ति की रक्षा की तथा कुटुम्ब व व्यक्ति को उसके उपभोग, दान इत्यादि की स्वाधीनता प्रदान की। व्यक्ति के विकास के लिए सम्पत्ति आवश्यक मानी जाती है। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—स्थिर तथा अस्थिर। स्थिर सम्पत्ति में घर, कल-कारखाने, कृषि की जमीन, खानें इत्यादि हैं। अस्थिर सम्पत्ति में रुपये-पैसे इत्यादि की गणना है। राज्य के अन्तर्गत जितना धन व सम्पत्ति होती है उस पर राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। परन्तु मनुष्य के तथा समाज के हित के लिए राज्य तथा समाज मनुष्य को निजी सम्पत्ति के उपयोग का अधिकार प्रदान करता है। समाज और राज्य के सामूहिक हित के लिए राज्य द्वारा निजी सम्पत्ति का हरण भी हो सकता है। किन्तु न्याय युक्त दलीलें दिए बिना अथवा हरजाना दिये विना राज्य ऐसा नहीं कर सकता है।

निजी सम्पत्ति वह सम्पत्ति है जो व्यक्ति अपने पौरुष से पैदा करे अथवा वह सम्पत्ति जो उसे बाप दादा से प्राप्त हो। व्यक्ति को और उसके कुटुम्ब को निजी सम्पत्ति बेचने का, दान करने का, समुचित उपभोग करने का, तथा उसमें वृद्धि करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। राज्य का पुनीत कर्त्तव्य है कि वह जान माल की रक्षा करे। यदि राज्य इस कर्त्तव्य से चूक जाए तो राज्य में उथल पुथल तथा क्रान्ति मच जायेगी। इस प्रकार राज्य सम्पत्ति की केवल रक्षा ही नहीं करता है वरन, दूसरे व्यक्ति की दखल व चोरी से उसे बचाता है।

प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सामाजिक आवश्यकता तथा उसकी उपयोगिता पर निर्भर है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य, उसके उत्पादन में व्यय किए हुए मजदूरी तथा कष्ट पर निर्भर है। सोना चाँदी तो उपभोग की वस्तु

धन के प्रति उपयोग की दृष्टि न होकर उपभोग की दृष्टि होती जा रही है। आधुनिक समाज में आर्थिक असमानता ही संघर्ष का मुख्य कारण हैं। आबादी की द्रुत गति से वृद्धि, मनुष्यों में उपभोग की भावना की वृद्धि, आवश्यक वस्तुओं तथा उपभोग की वस्तुओं की कमी और उन वस्तुओं का असंतोषजनक वितरण, और लोप, पेट्रोल, गेहूँ, सोना इत्यादि आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन कुछ इने गिने राज्यों या स्थानों में ही भौगोलिक कारणों से हो सकना, इत्यादि के कारण राज्य व समाज में संघर्ष दिखलाई देता है। द्वितीय युद्ध के बाद सर्वतोमुखी नैतिक पतन भी सर्वत्र दिखाई दे रहा है। इसका मूल कारण है वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक असमानता। आर्थिक असमानता केवल व्यक्तियों से ही सीमित नहीं है। एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच भी आर्थिक असमानता होती है। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण कुछ राष्ट्र धनवान होते हैं तथा कुछ निर्धन। इसी कारण समाजवादी वैयक्तिक सम्पत्ति का पूर्ण रूपेण विरोध करते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति ही राष्ट्र के आर्थिक असमानता पैदा करती है। आर्थिक विषमता ही नैतिक पतन को लाती है। समाजवादियों का कथन है कि प्रकृति की देन के उपभोग का अधिकार सभी को प्राप्त होना चाहिये। राज्य को उत्पादन के साधनों को अपने नियंत्रण में रखकर, उन्हें जनहित के प्रयोग में लाना चाहिये, तथा आवश्यकतानुसार उनका वितरण करना चाहिये जिससे प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। सम्पत्ति का अविवेकपूर्ण वितरण ही घर-घर में, व्यक्ति-व्यक्ति में, देश-देश में, संघर्ष, अशान्ति, परस्पर विरोध इत्यादि भावनाओं को उत्पन्न करता है। जब तक आर्थिक दशा में सुधार नहीं होगा तब तक सामाजिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में सुधार होना संभव नहीं है।

सम्पत्ति से लाभः—(१) वैयक्तिक सम्पत्ति से ही मनुष्य स्वाधीनता, सुरक्षा का अनुभव करता है। जीवित रहने के लिए अर्थ परमावश्यक है। अर्थहीन जीवन सारहीन व दुखमय होता है। धन के अभाव में मनुष्य

चिन्ता ग्रस्त हो जाता है। (२) मनुष्य दुर्दिन के लिए धन का संचय करता है। बेकारी, बुढ़ापा, अथवा आपत्ति के समय मनुष्य संचित धन से ही अपना व अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है। सम्पत्ति की प्रथा ही मनुष्य को धन बचाने का उत्साह देती है। व्यक्ति की बचत ही समाज की स्थायी सम्पत्ति हो जाती है। राज्य इसी बचत को उद्योग व व्यापार में लगा कर अपनी आर्थिक उन्नति करता है। (३) वैयक्तिक सम्पत्ति का संचय ही मनुष्य को काम करने का उत्साह देता है। मनुष्य अधिक से अधिक धन संचय के लिए अधिक परिश्रम करता है। लाभ की आशा मनुष्य को नये नये औद्योगिक साहस करने की प्रेरणा प्रदान करता है। व्यापार, कारबार में अधिक से अधिक पूँजी तथा शक्ति लगाने के लिए बाध्य करता है। इससे राष्ट्रीय कोष की वृद्धि होती है, तथा राष्ट्र की आर्थिक उन्नति होती है। मनुष्य की उन्नति ही राष्ट्र की उन्नति है। अर्थात् वैयक्तिक सम्पत्ति का होना राष्ट्र के लिए आवश्यक व लाभदायक है। यदि सम्पत्ति प्रथा न हो तो मनुष्य उतना ही काम करेगा जितने से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जावे। इससे राष्ट्र और व्यक्ति की शक्ति व प्रेरणा कुंठित हो जावेगी।

(४) जिस व्यक्ति को सदा सर्वदा अपनी रोटी की चिन्ता लगी रहती है, उस व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए समय तथा स्वस्थता ही कैसे मिल सकती है, धनवान व्यक्ति के पास धन, समय व स्वस्थ चित्त है। इस कारण धनवान व्यक्ति अपना बहुत समय कला, साहित्य इत्यादि की वृद्धि में लगा सकता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा रचनात्मक कार्यों के लिए तथा वैज्ञानिक खोजों के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित करती है।

(५) सम्पत्ति की व्यवस्था मनुष्य को गंभीर व विचारवान बनाती है। यही प्रवृत्ति राज्य को स्थायित्व प्रदान करती है। धनवान व्यक्ति देश में उथल-पुथल, क्रान्ति एवं अविचारयुक्त सुधार जिससे समाज की रचना नष्ट-भ्रष्ट हो जाये, ऐसे सुधारों की पुष्टि नहीं करते हैं? धनहीन व्यक्ति

भावावेश में आकर क्रान्तिकारी सुधारों की पुष्टि कर सकते हैं क्योंकि वर्तमान समाज रचना से उन्हें कोई लाभ नहीं है।

(६) धनहीन मनुष्य अपनी इच्छा के विरुद्ध अपनी आत्मा को खोकर कार्य करने के लिए बाध्य होता है। धनहीन व्यक्ति बहुत काल तक चरित्र की दृढ़ता, विचारों की स्वतन्त्रता नहीं रख सकता है। उसे अर्थ प्राप्ति के लिए विवश होकर चापलूसी करने की आदत पड़ जाती है। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए वह चोरी, डकैती तथा अन्य खराब काम करने के लिए भी बाध्य होता है।

(७) चरित्र गठन में भी सम्पत्ति का महत्त्व कम दर्जे का नहीं है। मनुष्य रुपयों के लिए अपने विचारों को त्याग कर दूसरे के विचारों को ग्रहण करने के लिए बाध्य होता हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के पास पर्याप्त सम्पत्ति होनी चाहिए। जिससे वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके व कुछ हद तक उपभोग की सामग्री संग्रहित करने की शक्ति भी रख सके।

(८) सम्पत्ति ही मनुष्य को आत्मविश्वास, आत्मगौरव, विवेक, सदा-चार के पथ पर दृढ़ रखती है। धन ही मनुष्य को सतर्क, स्वावलम्बी तथा उत्तरदायित्व की भावना से पूरित करता है। धन ही मनुष्य में महत्वपूर्ण गुणों की उत्पत्ति करता है, जैसे अतिथि-सत्कार, दान, शूरता, स्वाधीनता, दया इत्यादि। पर्याप्त धन होने ही से ये गुण फलते फूलते हैं। धनहीन व्यक्ति में ये गुण पनप ही नहीं पाते हैं।

हानियाँ:—(१) वैयक्तिक सम्पत्ति के दुष्परिणाम भी हैं। अधिकांश देशों में मुट्ठीभर धनवान व्यक्ति लाखों नागरिकों को सम्पत्ति द्वारा दबा कर, चूसकर सब प्रकार के अत्याचार द्वारा आर्थिक असमानता व विषमता का साम्राज्य स्थापन कर रहे हैं। इससे धनी अत्यधिक धनी व गरीब अत्यधिक गरीब हो जाते हैं। समृद्धि के साथ-साथ अत्यधिक गरीबी का दिग्दर्शन

हो रहा है। इससे चूसने वाले तथा चूसे जाने वालों के पृथक्-पृथक् दल बन जाते हैं। जो राज्य के अन्दर व अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध व संघर्ष का द्योतक है। सम्पत्ति के लिए धनी निर्धनों को चूसते हैं, डाका डालते हैं, चोरी करते हैं, काला बाजार को गरम करते हैं। सम्पत्ति प्रथा ही पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, की जननी है। साम्राज्यवाद, दासता, पराधीनता, गुलामी, आर्थिक शोषण को जनता है। यही विश्वयुद्ध को जनता है जिससे सभ्यता संस्कृति का नाश होता है मानवता दानवता का रूप धारण करती है।

(२) सम्पत्ति प्रथा न अमीर को शान्ति प्रदान करती है और न गरीब को सुख देती है। गरीब अर्थाभाव से दुःखी व चिन्तित रहता है। तथा अमीर रात-दिन धन को सुरक्षित रखने की चिन्ता में तथा उसको अधिकाधिक वृद्धि की चिन्ता में घुलता रहता है।

(३) सम्पत्ति प्रथा असमानता के साथ-साथ अयोग्यता की जननी एवं पोषक है। जो व्यक्ति स्वयं धन नहीं कमाता है वह मेहनत और धन के सच्चे मूल्य से सर्वदा अनभिज्ञ रहता है। वो व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति पाकर धनवान होता है और जिसने कभी खून पसीना एक करके धन नहीं कमाया है अथवा जिसने कभी 'अभाव' शब्द को जाना ही नहीं है वह अधिकतर अयोग्य, व्यसनी, व्यभिचारी तथा विषय वासनाओं में लिप्त होता है। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के पास अत्यधिक फालतू समय होता है। अतः अधिकांश धनी व्यक्ति समाज के अपार सम्पत्ति को जिससे लाखों के पेट का पालन हो सकता है देश की उन्नति के लिए व्यय न करके व्यर्थ नष्ट करते हैं तथा उसका दुरुपयोग करते हैं।

(४) सम्पत्ति प्रथा समाज में निकम्में, आलसी, अयोग्य एवं व्यसनी लोगों की वृद्धि करती है। धनी मनुष्य का आदर होता है चाहे व आदर के योग्य हो अथवा न हो। इससे समाज में ऊँच-नीच की भावना

बढ़ती है और धनवान व्यक्ति में गर्व की भावना बढ़ती है। समाज धन का पुजारी बन बैठता है। सदाचार, बुद्धि, शिक्षा व विद्वत्ता का समाज में गौण स्थान या कम दर्जा हो जाता है। इससे आलस्य व दूसरों के धन पर जीने की प्रवृत्ति बढ़ती है। उदाहरणार्थ पूँजीपति, जमींदार, ताल्लुकेदार आदि बिना परिश्रम के बहुत अधिक धन कमा लेते हैं। उनमें बहु समाज हिताय अथवा जन साधारण के कल्याण की भावना का लेशमात्र भी नहीं होता है।

(५) पूँजीपति राज्य व समाज में अपनी धौंस व प्रभुत्व जमाए रखते हैं। सम्पत्ति प्रथा से प्रजातन्त्र राज्य ढकोसला मात्र बन जाता है। आर्थिक असमानता के बिना जनतन्त्र राज्य का सफल होना असम्भव है क्योंकि धन के बल पर राजनैतिक दलों को अनुचित सहायता देकर, समाचार पत्रों को खरीद कर, एवं मतदाताओं के मत को खरीद कर धनवान व्यक्ति सरकार पर अपना प्रभुत्व कायम रखता है। परिणाम स्वरूप सरकार केवल कुछ धनवान व्यक्तियों के हितों को महत्व प्रदान करके जनसाधारण के हितों व अधिकारों को ठुकरा देती है।

(६) सम्पत्ति प्रथा कुछ दुर्गुणों की भी जननी है। सम्पत्ति मनुष्य में असहिष्णुता, गर्व, असत्य आचरण, धोखेबाजी, अत्याचार, अश्रद्धा, बेईमानी, इत्यादि दुर्गुणों को जन्म देती है। इन दुर्गुणों से समाज व राष्ट्र को हानि पहुँचती है। ये प्रवृत्तियाँ सच्ची नागरिकता के विकास में बाधक स्वरूप हैं।

दण्ड

दंड और शिक्षा समाज की दो आँखें हैं। जिनके द्वारा समाज में शान्ति, व्यवस्था, सदाचर स्थापित किया जाता है। शिक्षा द्वारा नागरिकों को उनके कर्तव्य व अधिकारों के लिए सचेत किया जाता है। जिससे ये अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों की शान्तिपूर्वक रक्षा कर सकें तथा उनका उपभोग शान्ति पूर्वक कर सकें और दूसरों के कर्त्तव्यों तथा

अधिकारों में हस्तक्षेप न करें। शिक्षा मनुष्य को उपरोक्त विषयों के लिये सचेत करती है तथा दण्ड मनुष्य को उपरोक्त विषयों की सीमा के लिये आदेश देता है। जनसाधारण के लिये शिक्षा का बहुत महत्व है। परन्तु हर समाज में नाना प्रकार के, नाना प्रवृत्तियों के मनुष्य विद्यमान हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने कर्तव्यों का पालन तो करते ही नहीं और दूसरों के अधिकारों को हरण करने से चूकते भी नहीं। ऐसा मनुष्य अज्ञानतावश, आंतरिक संघर्ष के कारण, दुष्ट हेतु के कारण अथवा आर्थिक संकट में फँस कर अनेकों कारणों से करता है। यदि इस प्रकार के मनुष्यों को स्वतन्त्रता पूर्वक विचरने दिया जावे तो समाज का कार्य सुचारु रूपसे चल ही नहीं सकता है। इसलिये समाज ऐसे व्यक्तियों के अधिकारों को छीन लेता है जिससे वे समाज व समाज के अन्य व्यक्तियों को अधिक हानि न पहुँचा सकें। इसी को दण्ड कहते हैं। अतः दण्ड की परिभाषा यह है। राज्य के नियमों को भंग करने वालों अथवा अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण करनेवाले व्यक्ति को राज्य उसके अधिकारों से वंचित कर देता है। राज्य के इस कार्य को दण्ड कहते हैं।

दण्ड का प्रयोजनः—दण्ड क्यों दिया जाता है व इसकी आवश्यकता ही क्या है? व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये सुचारु, अनुशासित, सुव्यवस्थित जीवन के लिये कुछ विशिष्ट वातावरण कुछ विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता होती है। नैतिक व विवेकपूर्ण जीवन के लिये तथा शान्ति व्यवस्था प्रस्थापित रखने के समाज दण्ड विधान की व्यवस्था करता है। दण्ड विधान द्वारा ही राज्य व समाज, व्यक्ति,समुदाय व, अन्य सभी सम्बन्धों का सम्बन्ध उचित रूप से प्रस्थापित करता है। राज्य और समाज उन व्यक्तियों के अधिकारों का हरण कर लेता है जो इस कार्य में विघ्न डालते हों और समाज की रचना में व्यत्यय लाते हों। अतः दण्ड देना समाज का पुनीत कर्तव्य है। दण्ड विधान ही से नागरिकों के अधिकारों की रक्षा हो सकती है अतएव राज्य नियमों की अवहेलना करने वालों को तथा व्यक्तियों के अधिकारों

का अपहरण करने वालों को राज्य अपने महत्वपूर्ण अंग न्याय-पालिका द्वारा दण्डित करता है। दण्ड के परिमाण और गुरुता का निर्णय अपराध के परिमाण व गुरुता के अनुपात में होता है। यदि दण्ड न दिया जावे व व्यक्ति की असामाजिक प्रवृत्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जावे तो राज्य में अराजकता का साम्राज्य फैल जावेगा। व्यक्ति का विकास व राज्य की उन्नति अवरुद्ध हो जायेगी। अतः दण्ड का उद्देश्य राज्य के नियमों का पालन करना व राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना है।

दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त

(१) प्रतिशोधक अथवा बदला लेने का सिद्धान्त:—कुछ लोगों का कथन है कि जब अपराधी किसी व्यक्ति को क्षति पहुंचाता है तो आहत व्यक्ति को क्षति पूर्त्ति के लिये बदला लेना स्वाभाविक है। अपराधी को दण्ड मिलने से विपक्षी को कुछ मिलता नहीं केवल संतोष मिलता है। तथा व्यक्ति की व्यथित भावनाओं को शक्ति व शान्ति मिलती है। अतएव आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत, नाक के बदले नाक काट लेने का अधिकार समुचित व न्यायपूर्ण माना जाता था। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का निश्चय पीड़ित व्यक्ति को ही करना चाहिये और राज्य का कर्त्तव्य है कि पीड़ित व्यक्ति को बदला लेने में सहायता प्रदान करे। यदि हरेक व्यक्ति क्षतिपूर्ति के लिये बदला लेने लगे तो संगठित समाज समाप्त हो जायेगा और चारो ओर हाहाकार मच जायेगा। इसलिये समाज इस क्षति को अपनी क्षति मान कर अपराधी से बदला लेता है। पुराने समय में छोटे छोटे अपराधों के लिये हाथ पैर काटना और हर प्रकार की शारीरिक वेदना पहुँचाने की अमानुषिक दण्ड विधान की प्रथा थी। कालापानी, फाँसी, कालकोठरी, कोड़े से मार इत्यादि कई प्रकार की दण्ड विधि थी। परन्तु आज कल ऐसी कठोर दण्ड विधि निन्दनीय मानी

जाती है। कुछ सभ्य देशों ने अमानुषिक दण्ड विधि का परित्याग भी कर दिया हैं क्योंकि बदले की भावना का अन्त नहीं होता है। वरन् वह बढ़ती ही जाती हैं यह भावना बर्बरता व अराजकता को प्रोत्साहित करती है। सिद्धान्ततः तथा व्यवहारिक दृष्टि से दण्ड देने का अधिकार व्यक्ति को न होकर राज्य अथवा समाज को होना चाहिये। दण्ड की सीमा इतनी ही होनी चाहिये कि जिसे भोग कर अपराधी में यह भावना उत्पन्न हो कि भविष्य में ऐसा करना उचित नहीं है तथा दूसरे लोग भी यह अनुभव करें कि यदि हमने भी ऐसा अपराध किया तो हमारी दशा यही होगी।

आजकल अपराधी को कारावास में बन्द कर दिया जाता है किन्तु उससे अच्छा वर्ताव किया जाता है। दण्ड कई प्रकार का होता है। खून इत्यादि के लिये मृत्यु-दण्ड दिया जाता है। कारावास कुछ समय के लिये अथवा आजीवन होता है। इसमें भी दो प्रकार हैं। साधारण कारावास तथा कठोर कारावास। कठोर कारावास में अपराधी को कड़ी मजदूरी करनी पड़ती। इसके अलावा कारावास में तीन श्रेणियाँ होती हैं। अ, ब, स। तीनों श्रेणियों के रहन-सहन, खाना, कपड़ा इत्यादि में भेद किया जाता है।

(२) भयावह अथवा दृष्टान्त सिद्धान्त :—इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि दण्ड इतना कठोर होना चाहिये कि जिससे अपराधी इतना भयभीय हो जाय कि दुबारा अपराध करने का साहस न कर सके, तथा अपराध के लिये इतना कठोर दण्ड दिया जावे कि भविष्य में अपराध करने वाले सब व्यक्तियों के मन में दण्ड की कठोरता देख कर भय उत्पन्न हो जावे। अर्थात् अपराध के अनुपात से दण्ड बहुत कड़ा व अधिक होना चाहिये। जिससे अपराध करने का किसी की हिम्मत ही न हो। पुरातन काल में चोरी के अपराध के लिये हाथ काटना व राज्य विरोधी भाषण के लिये जीभ काटना इत्यादि दण्ड प्रचलित थे। इन लोगों का कथन है कि इससे समाज व व्यक्तियों के अधिकारों

की रक्षा हो सकती है। आधुनिक समय में इस सिद्धान्त को कठोर व अमानुषिक समझ कर त्याग दिया है। आधुनिक विचार द्वारा यह है कि अपराधी को कठोर दण्ड देने से अपराध कम न होकर बढ़ते हैं और अपराधी कठोर अपराधी बन जाता हैं। अतः दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को सुधारना व समाज में अपराध को कम करना—इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती है।

(३) **सुधारवादी सिद्धान्तः—**क्रमशः मनुष्यों के विचारों में परिवर्त्तन होता जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि राज्य में अपराध होना राज्य की अपूर्णता का द्योतक है। इन लोगों का कथन है कि अपराध करने के अनेकों कारण हो सकते हैं। जैसे सामाजिक कुरीति, आर्थिक कठिनाई, मानसिक रोग, दोषयुक्त कौटुम्बिक वातावरण, दोषयुक्त सामाजिक संगठन व वातावरण, सामाजिक अन्याय तथा उचित शिक्षा का अभाव। अतः अपराध व अपराधियों की संख्या कम करने के लिये उचित शिक्षा का प्रबन्ध, सामाजिक संगठन में सुधार तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इलाज किया जाना आवश्यक है। अपराधी को असामाजिक व अवांछित समझना भारी भूल है। बहुत बार व्यक्ति परिस्थिति के कारण अपराध करता है यदि परिस्थिति बदली जाय, योग्य शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, तथा मनोवैज्ञानिक उपायों से अपराधी के अपराध के कारण समझे जाँय तो अधिकांश अपराधियों को सुधारा जा सकता है और अपराधी सुयोग्य नागरिक में परिवर्तित किया जा सकता है। अतः दण्ड का उद्देश्य अपराधी को सुधारना ही होना चाहिये। इसलिये कारावास का वातावरण शुद्ध, धार्मिक और नैतिक दृष्टि पवित्र होना चाहिये। उन्हें जेलों में रखने के बदले सुधार गृहों में रखना चाहिये। हर एक कठोर अपराधी व खूनी को कुछ व्यवसाय सिखाना चाहिये, जिससे वे नागरिक बन जाँय। मनोविज्ञान की सहायता से उसके अन्दर पैदा हुये संघर्ष को कम करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे प्रत्येक अपराधी उत्तम सामाजिक प्राणी बन जाय। और उत्तम नागरिक बन कर

समाज की सेवा कर सके। उपरोक्त सिद्धान्त सभी सभ्य एवं उन्नत देशों में अपनाया जा रहा है। इन प्रयोगों से रूस, अमेरिका में काफी सफलता प्राप्त हुई है।

दण्ड समाज के हित के लिये दिया जाता है अतः दण्ड व अपराध का अनुपात बराबर होना चाहिये। दण्ड उतना ही देना चाहिये जितना मनुष्य सहन कर सकें। दण्ड इस प्रकार का होना चाहिये कि मनुष्य को उससे आत्मग्लानि हो जिससे अपराधी भविष्य में ऐसा अपराध न करें। आधुनिक युग में अमानुषिक दण्ड के विरोधी अधिकांश व्यक्ति हैं। अमानुषिक दण्ड से व्यक्ति सुधरने के बदले काफी बिगड़ जाता है। उसकी कोमल भावनायें लोप हो जाती हैं। अपराधी की अन्तरात्मा कुचली जाती है। मनुष्य का अंग भंग करके उसका जीवन भार स्वरूप हो जाता है।

आधुनिक सिद्धान्तः—उपरोक्त तीनों सिद्धान्तों के मिश्रण से आधुनिक दण्ड नीति निर्धारित की गई। प्रतिशोधक सिद्धान्त का प्रयोग दीवानी मुकदमों में किया जाता है अर्थात् अपराधी द्वारा पहुँचाई हुई क्षति की पूर्ति अर्थात् माली नुकसान की भरपाई अपराधी को करने के लिये, राज्य बाध्य करती है। नये अपराधियों के साथ तथा बालकों के साथ सुधारक सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक युग में केवल राज्य ही को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त है, पीड़ित व्यक्ति को नहीं। दण्ड देने के समय राज्य अपराधी की अवस्था, परिस्थिति, अपराध का स्वरूप एवं समाज पर अपराध का प्रभाव इत्यादि बातों के विचारान्तर दण्ड निर्धारित करता है। दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार व राज्य व समाज से अपराध करने की मनोवृत्ति को कम करना ही है।

अध्याय २२

राष्ट्र, राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता का सिद्धान्त आधुनिक युग की देन है। १९ वीं तथा २० वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण तथा व्यापक प्रभाव मानव समूह पर पड़ा। इस सिद्धान्त का क्रान्तिकारी परिणाम हुआ। राष्ट्र के एकीकरण में इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान रहा। राष्ट्र के प्रति भक्ति व प्रेम, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र के लिये त्याग की भावना, राष्ट्रीय उत्थान की कामना, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की इच्छा तथा प्रयत्न। इन विचारों का उद्‌गम राष्ट्रीयता की भावना सामाजिक व राजनैतिक संगठन को दृढ़ बनाने के लिये अति आवश्यक है। मनुष्य राष्ट्र के गौरव के लिये जान तक देने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रीयता एक अद्‌भुत भावना है। राष्ट्रीयता की भावना का दूसरा नाम देश प्रेम है। मनुष्य अपने देश के लिये सब कुछ त्यागने के लिये प्रस्तुत होता है। राष्ट्र निर्माण या राजनैतिक संगठन को दृढ़ बनाना ही राष्ट्रीयता का अन्तिम ध्येय है।

राष्ट्रीयता की परिभाषाः—(१) राष्ट्रीयता वह इच्छा या भावना है जो लोगों को किसी एक राजनैतिक संगठन में रहने को बाध्य करती है। (२) यह एक आध्यात्मिक भावना है जो लोगों को राजनैतिक रूप से एकता के बन्धन में रहने को प्रेरित करती है। समान गुणों के होने के कारण जब एक जनसमूह के अन्दर प्रेम तथा एकता की भावना उत्पन्न होती है तो उस भावना को राष्ट्रीयता की भावना कहते हैं। यदि जन समूह में समान धर्म, समान भाषा इत्यादि हो तो वे राष्ट्रीयता की भावना से बँध जाते हैं। राष्ट्र में राष्ट्रीयता के अतिरिक्त राजनैतिक संगठन भी

होना चाहिये। अर्थात् राष्ट्रीयता तथा राजनैतिक संगठन के होने से ही राष्ट्र बन जाता है। देश प्रेम अथवा राष्ट्र प्रेम वह भावना है जो अपने देश को स्वाधीन करना चाहती है अथवा स्वाधीनता बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील है। राष्ट्रीयता वह भावना है जो एक देश को दूसरे देश से अलग रखती है। राष्ट्रीयता कोई स्थूल वस्तु नहीं जिसे देखा जा सकता है। वह केवल भावना मात्र है। इस भावना से एक समुदाय के व्यक्ति एक दूसरे से बँध जाते हैं और समान उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होते हैं। तथा उन व्यक्तियों से विभिन्नता का अनुभव करते हैं जो इस समुदाय के सदस्य न हों।

राष्ट्र की परिभाषाः—(१) गार्नर की परिभाषाः—राष्ट्र समाज का वह भाग है जो प्राकृतिक भौगोलिक सीमा द्वारा अन्य राष्ट्रों से पृथक है, जिनका जातीय मूल एक है, जिसके निवासी एक भाषा बोलते हैं, जिनकी सभ्यता व संस्कृति एक सी ही है, जिनका चरित्र एक सा है, जिनकी रीति-रिवाज, साहित्य एक से हैं।

बर्गेस की परिभाषाः—राष्ट्र वह जनसंख्या है जिसकी भाषा, साहित्य, परम्परागत रीति-रिवाज तथा इतिहास समान है, जिनमें भले-बुरे की चेतना के समान भाव है और जो ऐसी भूमि पर वास करते हैं जिसमें भौगोलिक ऐक्य है।

उपरोक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्र के निर्माण के लिये दो आवश्यक शर्तें हैं। सर्वप्रथम राष्ट्र के निर्माण के लिये मनुष्यों का संगठन आवश्यक है। मनुष्यों के बिना राष्ट्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। राष्ट्र के लिये कितनी जन संख्या होनी चाहिये इसका कोई निश्चित आँकड़ा नहीं है। राष्ट्र बड़े व छोटे सब प्रकार के होते हैं। एक नगर तथा एक गाँव के निवासियों से राष्ट्र नहीं बनता है। राष्ट्र के निर्माण के लिये दूसरी आवश्यक वस्तु है एकता की भावना। यह एकता की

भावना समान संस्कृति, समान धर्म, समान ऐतिहासिक घटनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। अतः राष्ट्र उस मानव समाज को कहेंगे जो उपरोक्त समानताओं के कारण एकता की भावना से बँधे हों तथा अन्य जनसमुदायों से अपने आपको पृथक समझते हों। अतः राष्ट्र निश्चित भौगोलिक सीमा में रहने वाले मनुष्यों का समाज है। इसके निवासी समान भाषा, समान धर्म, समान साहित्य, समान जाति, समान रीति रिवाज, समान संस्कृति के कारण एक सूत्र में बन्धे हों और जिनका भिन्न राजनैतिक संगठन हो राज्य व राष्ट्र की परिभाषा में समानता है। राज्य के लिए निश्चित भौगोलिक सीमा, सरकार, राज्यप्रभुता, तथा मनुष्य समूह की आवश्यकता है। परन्तु राष्ट्र के निर्माण के लिए और अनेकों गुणों की आवश्यकता है। जैसे समान जाति, भाषा इत्यादि। राज्य का अर्थ है मनुष्यों का राजनैतिक संगठन जिसमें राज्यप्रभुता हो। राष्ट्र की परिभाषा में जनता के समान गुणों की चर्चा होती है। जैसे भाषा, धर्म, संस्कृति इत्यादि।

अभी तक प्रत्येक राष्ट्र का अपना स्वाधीन राज्य नहीं है। स्वीजरलैंड में दो राष्ट्र के लोग रहते हैं। अमेरिका राज्य है, किन्तु उसके अन्तर्गत कई राष्ट्र के निवासी निवास करते हैं।

राष्ट्र व राष्ट्रीयता ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। परन्तु इनका उपयोग बोल चाल की भाषा में ऐसा ही किया जाता है।

राष्ट्रीयता के निर्माण के मूलतत्व :—जिन तत्वों से राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति होती है और राष्ट्रों का निर्माण होता है उन प्रमुख तत्वों की विवेचना निम्नलिखित पंक्तियों में की जायेगी।

भौगोलिक एकता :—राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति के लिये निश्चित भूमि भाग का महत्व है। किसी भी स्थान की भौगोलिक परिस्थियों का गहरा प्रभाव वहाँ के निवासियों पर पड़ता है। उस देश की जलवायु

रहन-सहन, उनके उद्योग धन्धे, कारबार, कृषि इत्यादि सब बातों में समानता होती है, यही समानता की भावना भ्रातृभाव को जगाती है। अतः एक भौगोलिक सीमा के अंतर्गत रहने वाले व्यक्ति राष्ट्रीयता, आत्मीयता अथवा प्रेम के सूत्र से बँध जाते हैं। निश्चित भूमि भाग पर रहने से प्रेम का भाव जाग्रत होना स्वाभाविक ही है। नहीं वरन् अनिवार्य है। मनुष्य को अपनी मातृ-भूमि अथवा पितृ-भूमि के लिए स्वाभाविक प्रेम होता है। जन्म भूमि का बन्धन राष्ट्रीयता का जन्मदाता व आधार स्तम्भ है। स्पेन, पुर्तगाल, स्वीडन प्राकृतिक सीमा से विभक्त होने के कारण समान भाषा समान धर्म के होते हुए भी विभिन्न राष्ट्र हैं। प्राकृतिक विभिन्न सीमा उनके आदान प्रदान में बाधक है। अतः इन स्थानों का इतिहास संस्कृति-रहन-सहन भिन्न होता जाता है। विभाजन से पूर्व हिन्दुस्तान की प्राकृतिक सीमा निश्चित तथा सुदृढ़ थी। अब भारत व पाकिस्तान के बीच कृत्रिम विभाजन हो गया है। प्राकृतिक विभाजन जैसे नदी, पहाड़ समुद्र, इत्यादि कुछ भी नहीं है। ऐसी परिस्थिति राज्य के बचाव व रक्षा के लिए आशंकाजनक है।

(२) **समान धर्म** :—प्राचीन काल में राष्ट्र के निर्माण में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था। जब मनुष्य असभ्य तथा पिछड़ा हुआ था, उस समय मानव समाज धर्म के आधार पर ही राष्ट्रीय संगठन करता था। समान धर्म के अनुयायी पूजा पाठ की विधि, रीति रिवाज, खानपान, रहन सहन, तथा संस्कृति की समानता के कारण अपने आपको राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर लेते थे तथा उपरोक्त समानता राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ बनाती थी।

धर्म राष्ट्रीयता के निर्माण में बाधक भी रहा है और सहायक भी रहा है। एक ही धर्म के अनुयायियों में स्वाभाविक रूप से एकता व प्रेम की भावना पैदा होती है। परन्तु अपने धर्म की रक्षा विधर्मियों से करने के लिये ऐतिहासिक समय में धर्म युद्ध भी हुये हैं। उस काल में धर्म की रक्षा

ही राष्ट्र की रक्षा का स्वरूप था। हिन्दुओं में मुसलमानों के आक्रमण से देश की रक्षा धर्म की रक्षा के निमित्त की गयी थी। हिन्दुओं में देश की रक्षा अथवा राष्ट्रीयता की भावना का स्पर्श भी नहीं था। १९ वीं तथा २० वीं शताब्दी में धार्मिक भेद-भाव हिन्दू-मुसलमानों का भेद-भाव ही राष्ट्रीय एकता का प्रमुख रूप से बाधक रहा है। यहूदियों का धर्म प्रेम देखिये, वे जिस देश में रहते हैं, उस देश के नागरिक बन जाते हैं किन्तु अपने धर्म को नहीं भूलते हैं। परन्तु आधुनिक युग में राष्ट्र का आधार धर्म नहीं है। अब धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु मानी जाने लगी है। विभिन्न धर्म के अनुयायी आधुनिक राष्ट्रों में प्रेम पूर्वक समान रूप से रहते हैं। धर्म का राजनीति से अब कोई सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से नहीं है। आधुनिक युग धार्मिक सहिष्णुता का युग है। अतः धर्म की सीमा व्यक्तिगत विचारों तथा आचरणों से सीमित है। कुछ पिछड़े हुये तथा प्रतिक्रियात्मक राष्ट्र हैं जिनका आधार धर्म है जैसे पाकिस्तान। बेलजियम व हालैण्ड का सम्बन्ध भी धार्मिक विभिन्नता के कारण भंग हो गया है।

(३) **जाति या वंशः**—धर्म के समान ही जाति एवं वंश का बन्धन राष्ट्रीयता की भावना की जागृति में तथा राष्ट्र के निर्माण में महत्व पूर्ण स्थान रखता था। एक जाति या एक वंश के लोगों में समान रीति-रिवाज संस्कार इत्यादि की समानता राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक हुई है। अतः एक जाति के लोगों में स्वभावतः ही एकता की भावना तथा प्रेम होता है। एक जाति के लोग अपनी उत्पत्ति का मूल एक ही मानते हैं। राष्ट्र के निर्माण में तथा प्रारम्भिक अवस्था में जाति एवं वंश राष्ट्र निर्माण व राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति में एक महत्वपूर्ण सूत्र रहा है। परन्तु आधुनिक काल में जातीयता का महत्व नहीं के बराबर है। युगों से सर्व प्रथम तो जातियों का सम्मिश्रण हो गया है। सच पूछिये तो कोई भी जाति पवित्रता का दावा नहीं कर सकती है। यह सच है कि बीसवीं शताब्दी में हिटलर ने जर्मनी का संगठन आर्य जाति की पवित्रता के आधार पर ही

किया था और उसका कथन था कि आर्य जाति का निर्माण संसार पर शासन करने के लिये ही हुआ है। हिटलर के इस सिद्धान्त में कोई भी तथ्य नहीं था। जातीयता राष्ट्र संगठन में बाधक भी हुई है और सहायक भी हुई है। इंगलैण्ड, स्वीटजरलैण्ड आदि योरोपीय देशों में एक ही राष्ट्र के अन्तगत अथवा एक ही भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत दो और तीन जातियाँ प्रेम पूर्वक निवास कर रही हैं। आधुनिक काल में जातीयता राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक नहीं है। परन्तु हिन्दुस्तान में जाति भेद ही सुसंगठित राष्ट्रीयता की उत्पत्ति में बाधक रहा है। जाति विशेष तथा जाति विभिन्नता का परिणाम स्वरूप भारत विभाजन का उदाहरण हमारे सामने है।

वर्तमान युग के नवीन आविष्कारों ने संसार में राष्ट्रीयता की भावना में परिवर्तन कर दिया है। उद्योग, व्यापार एवं यातायात की सुविधा के कारण राष्ट्रों में आदान-प्रदान बहुत अधिक मात्रा में बढ़ गया है। अतः संकुचित राष्ट्रीयता की भावना का ह्रास होता जा रहा है और मानव समाज अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो रहा है।

(४) **समान रीति-रिवाज तथा समान ऐतिहासिक घटनायें** :—संस्कृति की समानता का अर्थ केवल विचारों की समानता से ही नहीं है। संस्कृति में अन्य बातें भी सम्मिलित हैं। संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्यों की परम्परागत रीति रिवाज साहित्य, प्राचीन कथायें व गाथायें आदि अनेकों बातें सम्मिलित हैं। मनुष्यों के समान विचार, समान आदर्श उन्हें परस्पर प्रेम व सहानुभूति की भावना में जकड़ देता है। अतः संस्कृति भी राष्ट्रीयता का एक महत्वपूर्ण आधार है। समान विचार समाज आदर्श व समान रीतिरिवाज एवं प्रथायें राष्ट्रीयता के प्रचार में बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं। अर्थात् ये राष्ट्रीयता की उत्पत्ति तथा राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायक हुये हैं। क्योंकि समान इतिहास, समान रीति-

रिवाज मनुष्यों को परस्पर आकर्षित करता है। समान ऐतिहासिक घटना व संस्कृति हजारों वर्षों के सम्मिलित जीवन की देन है।

समान ऐतिहासिक घटनायें देश की उन्नति व अवनति का चित्र है। देश के उत्थान की आकांक्षा भी इसमें निहित है। ऐतिहासिक घटनायें, हार जीत, व दासता की यातनायें राष्ट्र के निर्माण का महत्वपूर्ण आधार है। देश के वीर वीरांगनाओं की गाथायें तथा ऐतिहासिक घटनायें राष्ट्र के निर्माण में अद्भुत कार्य करती हैं। परतन्त्र देशों में स्वतन्त्रता संग्राम में ही राष्ट्रीयता का जन्म होता हैं। भारत व योरोप के कतिपय देशों के इतिहास से इसकी सत्यता स्थापित हो सकती है। ये सूक्ष्म अपनत्व की भावनायें देशवासियों को एक सूत्र में बाँधती हैं। ये ही राष्ट्रीयता की भावना के द्योतक हैं।

(५) **भाषा व साहित्यः**—आमतौर से एक जाति के लोग एक ही भाषा बोलते हैं। ऐतिहासिक काल से देखा गया है कि भाषा एक महत्व पूर्ण बन्धन है। एकीकरण का बहुमूल्य सूत्र है। भाषा व साहित्य राष्ट्रीयता के बन्धन को सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भाषा और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा द्वारा ही मनुष्य अपने भावों व विचारों को एक दूसरे से प्रकट करता है। अर्थात् भाषा हमारे विचारों के विनिमय का माध्यम होती है। एक भाषा भाषी लोग दूसरे भाषा भाषियों को गैर समझते हैं। समान भाषा भाषी लोग समान रूप से विचार करते हैं और समान रूप से अपने विचार प्रकट करते हैं। अतः समान भाषा बोलने वालों का आचार विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाव प्रवृत्तियों आदि समान होती हैं। अर्थात् भाषा राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भाषा ऐतिहासिक परम्परा को स्थापित करती है। यही परम्परा राष्ट्रीय साहित्य को जन्म देती है। प्राचीन काल के राष्ट्रीय महान पुरुषों का स्मरण कराकर राष्ट्रीयता के भाव को जाग्रत करती है।

भाषा राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने में सहायक अवश्य हुई है। संसार के इतिहास को पढ़ने से यह स्पष्ट है। परन्तु भाषा राष्ट्र निर्माण के लिये अनिवार्य नहीं है। कनाडा में दो भाषायें बोली जाती हैं स्विटजरलैंड में तीन भाषायें बोली जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में ये राष्ट्र राष्ट्रीयता के सूक्ष्म बन्धन से बँधे हुये हैं। परन्तु भारत की ओर देखिये। राष्ट्र भाषा न होने के कारण भारत एक सम्पन्न सम्मिलित राष्ट्र नहीं बन सका है।

इसीलिये देश हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में प्रयत्नशील है। भारत में प्रत्येक प्रान्त प्रान्तीय भाषा की उन्नति करते हुये अन्तर प्रान्तीय सम्बन्ध के लिये हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनायेगा। अतः भारत के प्रत्येक नागरिक को प्रान्तीय भाषा के साथ साथ राष्ट्र-भाषा हिन्दी को सीखना होगा। समान भाषा व समाज साहित्य राष्ट्रीयता के निर्माण में बहुत अंश तक सहायक है।

(६) समान आर्थिक स्वार्थ व समान शासन :—समान आर्थिक स्वार्थ भी राष्ट्रीयता को जाग्रात करता है। जापन व आस्ट्रेलिया में भी आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिये, उद्योग-धन्धों और व्यापार को बढ़ाने के लिये तथा अपने बने माल को खपाने के लिये राष्ट्रीय एकता का निर्माण हुआ। एक सुदृढ़ शासन के अन्तर्गत रहने से भी अनेक जाति व अनेक धर्म के लोग अपने समान हित को समझते हुये राष्ट्रीयता के सूत्र में बँध जाते हैं। इंग्लैण्ड, वेल्स, स्विटजरलैंड इत्यादि इसके उदाहरण हैं। अर्थात् राजनैतिक एकता राष्ट्रीय निर्माण में सहायक है। जब केन्द्रीय सरकार सुदृढ़ होती है तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित करती है तब राष्ट्रीयता जागृत होती है। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारत के इतिहास को देखिये। केन्द्रीय शासन के निर्बल होने के कारण देश पृथक पृथक राज्यों में बँट गया था। राज्य की बागडोर ढीली होने

के कारण देश के टुकड़े टुकड़े हो गये थे। व्यक्तिगत स्वार्थ की मात्रा समाजहित से अधिक बलवती हो गई थी। ये सब अवनति के लक्षण हैं। वह युग भारत की अवनति का युग था। अंग्रेजों ने आकर देश में मजबूत केन्द्रीय शासन स्थापित किया। इस एकीकरण के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय भावना की जाग्रति हुई।

(७) **लोकमत** :—लोकमत द्वारा राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता है जब तक मनुष्यों में परस्पर सहयोग की भावना नहीं होगी तब तक राष्ट्रीयता की स्थापना नहीं हो सकती है। राष्ट्र बनाने की इच्छा ही राष्ट्रीयता का प्रधान तत्व है तथा लोकमत राष्ट्रीयता का आधार है।

(८) **सम्मिलित स्वार्थ व आन्तरिक प्रेरणा**:—मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। मनुष्य आन्तरिक प्रेरणा के वश होकर समाज में रहने की इच्छा करता है। समाज के बिना मनुष्य उन्नति भी नहीं कर सकता है। आन्तरिक प्रेरणा के कारण ही मनुष्य बहुमत की आज्ञापालन करने के लिये प्रेरित होता है। राष्ट्रीय संगठन के लिये मनुष्य की अन्तरात्मा उसे प्रेरित करती है। इसके अतिरिक्त सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य की अनेकों आवश्यकतायें परस्पर सहायता से ही पूर्ण हो सकती हैं तथा ये आवश्यकतायें एक दूसरे से परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। अर्थात् एक राज्य के निवासियों का सम्मिलित स्वार्थ भी होता है। इसकी पूर्ति वह सम्मिलित रूप से ही कर सकता है। समाज परस्पर लाभ के निमित्त ही बनाया जाता है। इसलिये देश के नागरिक देश की विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि सामाजिक व राष्ट्रीय हित में व्यक्ति का स्वार्थ निहित है। देशभक्ति व देश-प्रेम में व्यक्ति का स्वार्थ छिपा हुआ है। अर्थात् वैयक्तिक, राजनैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, व्यवसायिक, सामाजिक उन्नति राष्ट्रीय शान्ति व सुव्यस्था पर निर्भर है, और व्यक्ति ही इस सर्वतोमुखी उन्नति का संस्थापक है।

उपरोक्त तत्वों के विवेचना से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की भावना के विकास में उपरोक्त तत्व आवश्यक हैं। इन तत्वों में से जितने अधिक तत्व एक समुदाय में होंगे वह राष्ट्र उतना ही अधिक शक्तिशाली व स्थायी होगा। उपरोक्त सभी तत्व राष्ट्र के निर्माण में सहायता प्रदान करते हैं। राष्ट्रीयता की भावना मनुष्य स्वभाव का एक अंग है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से समान गुणों के कारण आकर्षित होता है। एक स्कूल में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में, एक कुटुम्ब में रहने वाले व्यक्तियों में, एक समाज में रहने वालों में, एक राष्ट्र में रहने वाले नागरिकों में समानता के कारण प्रेम तथा अपनत्व की भावना होना स्वाभाविक है। अपने से पृथक दलों से वे विभिन्नता का अनुभव करते हैं। उनको समान भाषा, समान रूचि, समान स्मृतियाँ, समान सुख दुःख, परस्पर आकर्षित करते हैं यही भावना प्रेम, राज्यभक्ति, देश प्रेम इत्यादि नामों से सम्बोधित होती है।

राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का सम्बन्धः—राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्रीयता के गुणों के अतिरिक्त राजनैतिक संगठन भी होना चाहिये। अर्थात् राष्ट्रीयता तथा राजनैतिक संगठन के होने से ही राष्ट्र बन जाता है। एक निश्चित जनसमूह में निम्नलिखित गुण जैसे समान भाषा, समान धर्म,समान ऐतिहासिक आधार, स्थायी राजनैतिक संगठन, अथवा एकता, समान भौगोलिक दशा के होने ही से राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति होती है। ये गुण एक साथ उत्पन्न नहीं होते हैं परन्तु ऐतिहासिक काल से इन गुणों का समय समय पर महत्व रहा है। अर्थात् राष्ट्र के निर्माण में इन गुणों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

राष्ट्रीयता १६ वीं तथा २० वीं शताब्दी की देन है। इसके पहले धर्म ही मनुष्य को एक सूत्र में बांधता था। वैज्ञानिक युग के प्रारम्भ से, भौतिकवाद के प्रचार के कारण लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन होने लगा है। क्रमशः धर्म व्यक्तिगत विश्वास तथा आचरण की वस्तु मानी जाने

लगी है। धर्म राष्ट्रीय नियन्त्रण के परे हो गया है। धर्म, अन्ध विश्वास, ढोंग, पाखण्ड तथा मादक वस्तु जिसके द्वारा मनुष्य की मति वश में की जाती है, ऐसी वस्तु मानी जाने लगी। क्रमशः धर्म का स्थान राष्ट्रीयता की भावना ने ले लिया है। प्रत्येक निश्चित भूमिभाग में राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक भूमिभाग राष्ट्र बनने के लिए उत्सुक हुआ। क्रमशः राजनैतिक संगठन बनने लगे और प्रत्येक जाति में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अथवा स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए करने के लिये जनसमूह संगठित होने लगे। त्याग तथा राष्ट्र की सेवा ही देश प्रेम की कसौटी मानी जाने लगी। राष्ट्र के अनेकों वीर सुख सम्पत्ति को त्यागकर देश की सेवा में रत होने लगे। भारत में भी स्वाधीनता युद्ध में अनेकों नवयुवकों ने आत्म-बलिदान किया है।

राष्ट्रीयता का आत्मनिर्णय सम्बन्धी सिद्धान्तः—१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोप में 'एक राष्ट्र एक जाति' का नारा लगा–अर्थात् प्रत्येक जाति का स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये और प्रत्येक राष्ट्र व प्रत्येक जाति को अपने देश पर स्वयं शासन करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

इस सिद्धान्त के पक्ष में तर्कः—(१) प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति, भाषा, धर्म, व्यवसाय, इत्यादि में विभिन्नता एवं वैशिष्ट्य होता है। प्रत्येक राष्ट्र की विशेषता की रक्षा करने के लिये उसके अनुकूल राष्ट्र की राज्यपद्धति होनी चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक ही उस प्रतिभा से पूर्णरूप से परिचित हो सकते हैं, और उसकी रक्षा कर सकते हैं। विदेशी दूसरे देश की आत्मा को पहिचान नहीं सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी भाषा संस्कृति एवं साहित्य की रक्षा तभी कर सकता है जब वह राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो।

(२) संसार में स्वतंत्रता एवं समानता के उच्च आदर्शों की प्राप्ति स्वतंत्र राष्ट्र ही में पायी जा सकती है। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से युद्ध

का कारण पराधीनता ही है। पराधीन व परतंत्र राष्ट्र अपना विकास व उन्नति नहीं कर सकते हैं। अतएव प्रत्येक राष्ट्र को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। व्यक्ति एवं राष्ट्र की उन्नति के लिये आत्म-निर्णय का सिद्धान्त आवश्यक है।

(३) प्रत्येक राष्ट्र के स्वतंत्र होने ही से संसार में शान्ति एवं संस्कृति की रक्षा हो सकती है। पराधीन राष्ट्र स्वाधीनता प्राप्ति के लिये निरंतर युद्ध, विद्रोह, उपद्रव, करते रहते हैं। जिन राष्ट्रों के पास साम्राज्य नहीं है वे साम्राज्यशाही राष्ट्र का द्वेष करते हैं, और साम्राज्य स्थापना के लिये प्रयत्नशील होते हैं। इन दोनों कारणों से संसार की शान्ति भंग होती है। संसारव्यापी दो महायुद्धों से यह पूर्णरूप से स्पष्ट है।

(४) एक राष्ट्रीय राज्यों में देशप्रेम की भावना बलवती रहती है। बहुराष्ट्रीय राज्यों में यह भावना निस्तेज रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता:—राष्ट्रीयता के अनेक गुण होते हुए भी यह कहना होगा कि विकृत राष्ट्रीयता के कारण ही संसार को दो महायुद्धों का सामना करना पड़ा है। राष्ट्रीयता की भावना मनुष्यों को स्वार्थी, संकुचित मनोवृत्ति का तथा अत्याचारी बना देता है। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता एक भयंकर रोग सा हो गया है। आधुनिक युग में राष्ट्र प्रेम का अर्थ है दूसरे राष्ट्रों को दबाना तथा उनसे द्वेष करना और स्वराष्ट्र को समृद्धिशाली बनाने के लिये दूसरे देशों को नाश करना। राष्ट्रीयता का दूसरा नाम है साम्राज्य वाद अथवा एक देश का दूसरे देश पर आर्थिक अधिकार। राष्ट्रीयता का अर्थ है एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र द्वारा शोषण। राष्ट्रीय गौरव की अभिलाषा ने हजारों लोगों के जान-माल का नाश किया है और संसार की सुख-शान्ति का हरण किया है।

परन्तु वर्तमान संसार में एक नवीन जागृति पायी जाती है। आधुनिक जनमत साम्राज्यशाही राष्ट्रों द्वारा शोषित व दबाये हुए देशों के प्रति

सहानुभूति व संवेदना की भावना रखता है। सम्पूर्ण मानव जाति इकाई है इसका बोध आधुनिक जनमत को होता जा रहा है। परिणाम स्वरूप मानव समाज के हित में ही प्रत्येक व्यक्ति का हित निहित है इसका बोध क्रमशः संसार के नागरिकों को होता जा रहा है। अतः भिन्न राष्ट्रोंकी सदस्यता के साथ-साथ विश्वनागरिकता के सिद्धान्त का भी प्रचार होता जा रहा है। अर्थात् संसार का जनमत राष्ट्रीय सिद्धान्त से अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत की ओर अग्रसर हो रहा है। विश्वबन्धुत्व का भी सिद्धान्त हमारे सामने आता जा रहा है।

कलह अथवा युद्ध विनाशकारी होता है। कुटुम्ब में कलह होने से कुटुम्ब का नाश होता है। संस्थाओं में कलह अथवा प्रतिद्वन्द्विता होने से संस्थाओं का नाश तो होता ही है और साथ ही साथ प्रान्त का नाश होता है। प्रान्तीयता तथा जातीयता बड़े बड़े राष्ट्रों के टुकड़े-टुकड़े कर देती है। इससे राष्ट्र की प्रतिभा व समृद्धि का ह्रास होता है। उसी प्रकार राष्ट्रों का संघर्ष विश्वशान्ति में बाधक है। अतः मानव समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं वरन् एक दूसरे पर निर्भर हैं। मानव समाज इकाई है इसका बोध विश्व निर्भरता के कारण अधिकाधिक होता जा रहा है। विभिन्न स्तरों में प्रतिद्वन्द्विता ही युद्ध का मूल कारण है। आधुनिक युद्ध, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक सभी क्षेत्रों पर प्रभाव डालता है। युद्ध राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति में बाधक है। युद्ध से जान-माल एवं राष्ट्रों का तो नाश होता ही है साथ ही साथ युद्ध, संघर्ष, विप्लव इत्यादि से मनुष्य की बुरी अथवा असामाजिक प्रवृत्तियाँ जैसे द्वेष, शोषण, क्रोध, रक्तपिपासा इत्यादि को भी प्रोत्साहित करती है। इन पाशविक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटित होना समाज के लिये हानिकारक है। जब ये प्रवृत्तियाँ एक बार जाग्रत हो जाती हैं तब इन्हें दबाना अथवा शान्त करना कठिन हो जाता है। युद्ध से देश के नवजवानों का बलिदान होता है। युद्ध में भाग लेने वालों की

शारीरिक हानि के अतिरिक्त मानसिक एवं नसों की (nerves) शक्ति का भी ह्रास होता है। युद्ध में भाग लेने वालों में ऐसी मानसिक विकृति पैदा हो जाती है कि कभी कभी उन्हें सामाजिक जीवन यापन करना कठिन व असम्भव हो जाता है। मानव समाज के लिये युद्ध अथवा संघर्ष हर प्रकार से हानिकारक है। युद्ध से मनुष्य के व्यक्तित्व का नाश होता है। युद्ध के समय अथवा राष्ट्रीय संकट के समय राष्ट्र की रक्षा के निमित्त राज्य प्रभुशक्ति द्विगुणित हो जाती है। राष्ट्र की रक्षा के निमित्त नागरिकों के स्वतन्त्र अधिकारों का भी हरण राज्य द्वारा होता है। युद्धकाल में नागरिक राज्य का निर्जीव घटक मात्र बन जाता है। अतः युद्ध नागरिकों के अधिकारों तथा व्यक्तित्व के विकास में बाधक है तथा कुछ काल के लिये राष्ट्रों के विकास, उन्नति एवं समृद्धि में घातक सिद्ध होता है।

उपरोक्त विवेचना से युद्ध द्वेष तथा विप्लव की भयंकरता स्पष्ट है। आधुनिक युग में अन्तराष्ट्रीयता के सिद्धांत को कार्य रूप में परिणित करना नितान्त आवश्यक है।

अन्तराष्ट्रीय निर्भरता:—वैज्ञानिक उन्नति के कारण तथा यातायात की सुविधा के कारण एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के समीप आ गया है। तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर विभिन्न कारणों से अवलम्बित है। जैसे एक व्यक्ति समाज में रह कर अपनी भौतिक, नैसर्गिक, तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। उसी प्रकार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र द्वारा अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। खास करके एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आर्थिक आवश्यकताओं के लिये निर्भर है। जैसे भारत पाकिस्तान से पाट खरीदता है, कनाडा से गेहूँ खरीदता है तथा इंगलैंड से कल पुरजे खरीदता है। अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र अपनी विभिन्न आवश्यकतायें अपने आप पूरी नहीं कर सकता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का उपार्जन करता है। इन वस्तुओं को अन्य राष्ट्र

को बेचकर धन का उपार्जन करता है आधुनिक राष्ट्रों का आर्थिक जीवन राष्ट्रों के क्रयविक्रय पर निर्भर है। प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक उन्नति व आर्थिक जीवन इस क्रय-विक्रय के सिद्धांत पर हीनि भंर है। युद्ध अशान्ति व विप्लव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध को असम्भव बना देता है। युद्ध से प्रत्येक राष्ट्र को आर्थिक हानि का सामना करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र में विचार विनिमय द्वारा तथा आविष्कारों द्वारा राष्ट्रों में अनेकों प्रकार से आदान-प्रदान होता ही रहता है। संसार के सब राष्ट्रों का एक दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध हो गया है कि संसार के किसी राष्ट्र में अशान्ति या हलचल हो जाने से उसका न्यूनाधिक असर संसार भर में हो जाता है। किसी भी देश की राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव दूसरे राष्ट्र पर अवश्य पड़ता है। कोई भी देश अन्य देशों के परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। यदि एक देश पर आपत्ति आती है जैसे महामारी, युद्ध या अकाल तो उसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है। अतः प्रत्येक राष्ट्र का कल्याण विश्व के कल्याण का अविभाज्य अंग बन गया है। अतः एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से पृथक् हो ही नहीं सकता है। भविष्य के युद्ध के भयानक शस्त्र हैं कीटाणु बम तथा अणु बम। इन शस्त्रों से युद्ध का स्वरूप भयानक हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके द्वारा मानव समाज व मानव संस्कृति पूर्णतया नष्ट हो जायेगी। प्रतिदिन यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि मानव समाज इकाई है। अतः प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक राष्ट्र तथा प्रत्येक समाज की क्रिया की प्रतिक्रिया एक दूसरे पर होती ही रहती है, और ये एक दूसरे पर प्रभाव डालते ही रहते हैं।

यह युग अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीय जीवन तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन प्रतिस्पर्धी नहीं है। वे एक दूसरे के सहायक व पूरक हैं। प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय हित को मध्यनजर रखते हुये अन्तर्राष्ट्रीयता, मानवता एवं

विश्व बन्धुत्व की ओर अग्रसर होना चाहिये। समानता, स्वतन्त्रता तथा विश्वबन्धुत्व का पाठ संसार के प्रत्येक नागरिक को पढ़ना होगा। तथा संसार के प्रत्येक नागरिक को इस भावना को अपने आचरण में कार्यरूप में लाना होगा। संसार के राष्ट्रों का परस्पर सहयोग तथा राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता के सिद्धान्त की स्थापना करनी होगी। शिक्षा, आचरण, रेडियो तथा समाचार पत्रों द्वारा इन सिद्धान्तों का प्रचार किया जा सकता है। इस नवीन विचारधारा की ओर संसारव्यापी लोकमत को झुकाना होगा। जिससे कि भविष्य के नागरिकों के समक्ष यह सिद्धान्त सदैव रहे तथा वे उसकी आवश्यकता को पूर्णतया समझें। इसी मार्ग से संसार का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा तथा इसी मार्ग से मानव संस्कृति तथा मानव समाज की रक्षा हो सकेगी।

आजकल संसार की ऐसी अवस्था हो गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, प्रेम तथा सहानुभूति की नीति ही अन्तराष्ट्रीय शान्ति सुख एवं उन्नति को सम्भव बना सकती है। इसी परस्पर सहयोग का नाम अन्तराष्ट्रीयता है।

क्या राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता विरोधात्मक तत्व हैं ?

राष्ट्रीयता का विकृति स्वरूप साम्राज्यवाद को आव्हाहन देता है। राष्ट्रीयता का शुद्ध स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रतिपक्षी है। राष्ट्रीयता के विकृत स्वरूप का आधार है संकीर्णता, छल, द्वेष युद्ध तथा अन्य राष्ट्रों का शोषण। शुद्ध राष्ट्रीयता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार है विशाल हृदयता, मानवता, परस्पर सहयोग तथा अन्य राष्ट्रों को स्वतन्त्रता एवं समानता का उपयोग करने का पूर्ण अवसर देना। विकृत राष्ट्रीयता एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से पृथक रखने में गौरव समझती है। शुद्ध राष्ट्रीयता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रों तथा व्यक्तियों के सम्पर्क को महत्व देती है। विकृत

राष्ट्रीयता संकुचित मनोवृत्ति की पक्षपाती है। विशुद्ध राष्ट्रीयता विशाल दृष्टिकोण की पक्षपाती है।

अतः निष्पक्ष रूप से देखने से मालूम देता है कि राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता एक दूसरे के सहायक व पूरक हैं। राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र विभिन्न हैं परन्तु विरोधात्मक नहीं। राष्ट्रीयता प्रत्येक राष्ट्र की स्वतन्त्रता को महत्व देती है। राष्ट्रीयता प्रत्येक राष्ट्र की भाषा, संस्कृति, आर्थिक, एवं सामाजिक उन्नति को आवश्यक समझती है। विशुद्ध राष्ट्रीयता सर्वाङ्गीण उन्नति की पक्षपाती है, किन्तु वह अन्य राष्ट्रों की उन्नति में बाधक नहीं है परन्तु सहायक है। अन्तर्राष्ट्रीयता इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। विकृत राष्ट्रीयता से राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता दोनों ही संकट में रहेंगे विकृत राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता सदैव संकट में रहेगी। विकृत राष्ट्रीयता युद्ध एवं अशान्ति की जड़ है। अतः शुद्ध राष्ट्रीयता के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीयता सम्भव नहीं। तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के अभाव में राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र सुरक्षित नहीं हैं। मानवता व अन्तर्राष्ट्रीयता पर्यायवाची शब्द हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये उनको प्रयत्न किये गये हैं। प्रथम महा-युद्ध के बाद (१९१४–१९१८) राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना की गई थी। युद्ध की भीषणता देखकर संसार में शान्ति व सुरक्षा प्रस्थापित करने के लिये १९२० में राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। राष्ट्रसंघ के मुख्य उद्देश थे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा निसस्त्रीकरण युद्ध सामग्रियों पर नियंत्रण, अल्पसंख्यकों के हित की रक्षा तथा लोकहित कार्य का संगठन करना जैसे स्वास्थ-रक्षा, समाज सुधार श्रमिकों की अवस्था में सुधार इत्यादि, राष्ट्र के परस्पर झगड़ों को शान्ति से तथा समझौते द्वारा निपटाना अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा नियमों का पालन करना।

संगठनः—(१) प्रथम संस्था लीग काउन्सिल थी, जो व्यवस्थापक मंडल के सदृश्य थी। लीग काउन्सिल के चार स्थायी सदस्य थे तथा कुछ

अस्थायी सदस्य थे । (२) लीग असेम्बली व्यवस्थापिका सभा के समान थी । यह एक विराट सभा थी । राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त सभी राज्य इसके कार्यक्रम में भाग ले सकते थे । ये दोनों सभायें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्बन्धी मामलों पर विचार विनिमय करते थे । तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाने में प्रयत्नशील होते थे । (३) सेक्रेटेरियट भी था जिसमें विभिन्न देश के स्त्री पुरुष कर्मचारी पद पर नियुक्त किये जाते थे । ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जो कार्य-कुशल होते थे तथा अपने विभाग के विशेषज्ञ होते थे । (४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी स्थापना की गई थी । अन्तर्राष्ट्रीय न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी झगड़ों को मिटाने के लिये एक स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई थी । ११ से १५ की संख्या तक विभिन्न देशों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी । (५) मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम समीति की भी स्थापना की गई थी ।

राष्ट्रसंघ के कार्य की विवेचना:—राष्ट्रसंघ लोकहित कार्य में पर्याप्त मात्रा में सफल रहा । मानव समाज को इससे काफी लाभ हुआ । बहुत लोकहित कारिणी संस्थाओं का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ । परन्तु राष्ट्रसंघ का मुख्य ध्येय था युद्ध का अन्त करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को स्थापित करना इस कार्य में राष्ट्रसंघ सर्वथा असफल रहा । इसके अनेकों कारण थे । संसार के प्रभावशाली तथा विजेता राष्ट्र जैसे फ्रांस, जापान, जर्मनी, इटली इत्यादि अपने राष्ट्र की स्वार्थ सिद्धि में तथा अपने राष्ट्र के उत्थान में रत थे । उनमें अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता लेशमात्र भी नहीं थी । जब तक संसार में संकुचित एवं स्वाथ प्रवृत्ति के दो चार भी राष्ट्र होंगे तब तक संसार की शान्ति की रक्षा असम्भव है । जापान तथा इटली मन्चूरिया तथा अबिसीनिया पर चढ़ाई करने के लिये राष्ट्रसंघ से निकाले गये । प्रत्युत्तर में जापान तथा इटली ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ठुकरा दी, और युद्ध

जारी रक्खा। राष्ट्रसंघ के पास कोई प्रभावशाली अस्त्र नहीं था। जिसके द्वारा वह अपने अन्तर्गत राष्ट्रों को आज्ञा-पालन के लिये विवश करता। अतः राष्ट्रसंघ के आदेशों का पालन करना न करना राज्य की व्यक्तिगत शक्ति पर निर्भर था। संसार को लोकमत इतना जागृत नहीं था कि वह अपने बल से युद्ध को रोकता अथवा उसका विरोध करता। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य जनता द्वारा परोक्ष रूप से निर्वाचित व्यक्ति नहीं थे। इसके सदस्य राज्य के उच्चाधिकारी अथवा राष्ट्र के मन्त्री नामजद होते थे। वे अपने राजनीतिक दल की परराष्ट्र नीति को ही पृष्ठभाग में रख कर कार्य करते थे। इसके अलावा उन एशियायी देशों का जो जागृत हो रहे थे, जिनका संसार की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान होने जा रहा था राष्ट्र-संघ में गौण स्थान था। अतएव राष्ट्रसंघ में योरोपीय देशों का प्रमुख स्थान था। रूस तथा अमेरिका जैसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राष्ट्र जिनके निर्णयों का संसार की राजनीति पर उच्चतर प्रभाव पड़ सकता था वे दोनों ही देश राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बने। इस प्रकार राष्ट्रसंघ एक निष्फल एवं निरर्थक संस्था साबित हुई, और इसका प्रभाव क्रमशः कम होने लगा। अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त है कि राष्ट्र राष्ट्रीयता तथा स्वार्थसाधना को ही प्रमुख स्थान देते रहे। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर ही प्रत्येक राष्ट्र का अभ्युदय व उन्नति निर्भर है, वे इस सत्य को सर्वथा भूल गये। परस्पर सहयोग व सहानुभूति से ही मानव समाज उन्नति की ओर कदम उठा सकता है। क्योंकि बारम्बार युद्ध से राष्ट्र की शक्ति का ह्रास होता है और राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में क्षति पहुँचती है। संघर्ष कूटनीतिज्ञता शक्ति मदांधता ने संसार के राष्ट्रों को द्वितीय महायुद्ध के लिये विवश किया। द्वितीय महायुद्ध का स्वरूप प्रथम महायुद्ध से भी अधिक व्यापक व विध्वंसक रहा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि विज्ञान के आविष्कार लोकहित साधक न होकर लोक विध्वंसक होते जा रहे हैं। अणुबम व कीटाणुबम के आविष्कार ने युद्ध के स्वरूप को और भी भीषण व विध्वंसक बना दिया है।

जान व माल पर इन आविष्कारों का क्या परिणाम होगा यह विचार भी भयावह मालूम देता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माता अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट थे। जैसे राष्ट्रसंघ के निर्माता अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन थे। राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने सम्मिलित रूप से १६४१ में एक घोषणा की जिसे अटलांटिक चार्टर कहते हैं। जिन सिद्धान्तों का उल्लेख अटलांटिक चार्टर में किया गया था उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई १९४८ में ५६ राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की। अनेकों सम्मेलनों के उपरान्त इसकी रूपरेखा खींची गई। इसके मुख्य सिद्धान्त ये हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्त

संयुक्तराष्ट्र के प्रत्येक निवासी को :— (१) संसार को महायुद्ध से बचाने, स्त्री और पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त करने, मनुष्य की मान-मर्यादा और व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित करने तथा मानवता को दृष्टिकोण में रखते हुये मौलिक अधिकारों को स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय सन्धि तथा नियमों का आदर करना चाहिये।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिये अथक परिश्रम करना तथा सम्मिलित प्रभाव व सहयोग द्वारा तथा सैनिक बल का प्रयोग बंद करते हुये विश्वशान्ति को भंग करने वालों को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष तथा भेदभाव को शान्ति तथा सहयोग द्वारा मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(३) विश्वशान्ति को मध्य नज़र रखते हुये राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण भावना को उत्पन्न करना तथा राष्ट्रों में सहिष्णुता की भावना को उत्पन्न करना चाहिये।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक सामाजिक तथा मानव-समाज की अन्य समस्याओं को हल करना चाहिये।

संयुक्तराष्ट्र संघ की पांच मुख्य संस्थायें हैं।

(१) **साधारण असेम्बली**:—प्रत्येक सदस्यता प्राप्त राष्ट्र को अधिक से अधिक पांच प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त है। इसकी बैठक प्रति वर्ष कम से कम एक बार होना अनिवार्य है। जरूरत पड़ने पर साधारण असेम्बली का विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। समस्या का निर्णय ⅔ बहुमत के आधार पर होता है।

साधारण असेम्बली का कार्यक्षेत्र :—(१) विश्व की शान्ति कालीन विभिन्न समस्याओं पर विचार करना। (२) नये सदस्यों की भरती करना तथा सुरक्षा कौंसिल की सिफारिश पर किसी राष्ट्र को सदस्यता से वंचित करना। (३) सुरक्षा कौंसिल के छः और आर्थिक-सामाजिक कौंसिल के १८ सदस्यों को चुनना।

(२) **सुरक्षा कौंसिल** :—इसके ग्यारह सदस्य हैं। (अ) स्थायी सदस्य इंग्लैंड, फ्रांस, सोवियटसरूस, चीन व संयुक्त राष्ट्र अमेरिका है। (ब) अस्थायी सदस्य छः होते हैं। वे साधारण असेम्बली द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्येक सदस्यराष्ट्र बारी बारी से सुरक्षा कौंसिल का सदस्य होने का अधिकारी है। जब संयुक्तराष्ट्र संघ के सब राष्ट्रों को सुरक्षा कौंसिल की सदस्यता प्राप्त हो जायेगी तभी किसी राष्ट्र को पुनः निर्वाचन का अधिकार प्राप्त हो सकता है। सुरक्षा कौंसिल के सब निर्णय इस नियम के अनुसार मान्य होंगे। कोई भी निर्णय तभी मान्य होगा जब सुरक्षा कौंसिल के सात सदस्य उसके पक्ष में मतदान करेंगे। साथ ही साथ पांचो महाशक्तियों का सम्मिलित रूप से मत के पक्ष या विपक्ष में मत प्रदान करना परमावश्यक है। यदि एक भी महान राष्ट्र निर्णय के विरोध में मत प्रदान करता है तो निर्णय रद्द किया जायेगा और इसे (Veto, Power) कहते हैं यह समझा जायेगा कि निर्णय को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

कार्य प्रणाली :—जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय मामला कौंसिल के समक्ष पेश होता है तो सर्व प्रथम यह देखा जाता है कि कौंसिल के सदस्य इस पर विचार करने के पक्ष में हैं या नहीं। यदि कौंसिल के सदस्य मामले को जांचने के पक्ष में नहीं हैं तो मामला वहीं खतम कर दिया जाता है। यदि सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर विचार करने के पक्ष में हैं तो निम्न-लिखित प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। (अ) सुरक्षा-कौंसिल मामले की जांच करने के लिये जांच कमीशन बैठाती है। तथा पंचायती न्याय द्वारा दोनों पक्षों के मनमुटाव को सहयोग द्वारा मिटाने का प्रयत्न करती है (ब) यदि सुरक्षा-कौंसिल का यह प्रयत्न असफल हो जाता है तथा दोनों ही पक्ष आपस के निपटारे या समझौते के लिये तैयार नहीं होते हैं तो सुरक्षा कौंसिल अपने तरीके से समस्या को हल करके निर्णय दे देती है। (स) यदि दोषी राष्ट्र इस पर भी तैंय्यार नहीं होते हैं तो संयुक्तराष्ट्र अपने सदस्यों को दोषी राष्ट्रों के प्रति आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का आदेश देता है। अर्थात् दोषी राष्ट्रों से आयात तथा निर्यात रोकने का आदेश देता है। सुरक्षा कौंसिल आर्थिक दबाव द्वारा दोषी राष्ट्रों को ठीक अथवा शान्ति मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। (द) सुरक्षा कौंसिल शान्ति तथा दबाव के मार्ग द्वारा समझौता करने का प्रयत्न करती है परन्तु जब दोनों ही मार्ग असफल हो जाते हैं तब सुरक्षा-कौंसिल अन्तिम अस्त्र का उपयोग करती है। सुरक्षा-कौंसिल दोषी राष्ट्रों को युद्ध अथवा सैनिक बल द्वारा ही शान्ति के मार्ग पर लाने के लिए विवश करती है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दोषी राष्ट्र अपने मामले में मतप्रदान करने से वंचित किये जाते हैं। तथा प्रत्येक निर्णय के लिए पांचो महान् राष्ट्रों की सम्मिलित स्वीकृति अनिवार्य है। आजतक सुरक्षा-कौंसिल के सामने काश्मीर, कोरिया पलस्तीन तथा दक्षिण आफ्रिका के मामले पेश हुए हैं।

(३) संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल :— इनके अठारह सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य तीन वर्ष के लिए चुना जाता

है। इस कौंसिल के अधिवेशन साल भर में आवश्यकतानुसार कई बार होते रहते हैं। कोई महान राष्ट्र अपनी प्रभुशक्ति द्वारा इसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। कोई भी राष्ट्र इसके निर्णय को बदल नहीं सकता है। ये संगठन स्वाधीन रूप से कार्य करते हैं। इनके विभिन्न कार्य कमीशन व संगठनों द्वारा किए जाते हैं। यह कौंसिल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं उन्नति के उपाय सोचती है। तथा आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, मानवीय एवं स्वास्थ्य संबंधी विषयों पर विचार करती है और रचनात्मक उपायों से इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करती है।

आर्थिक व सामाजिक कौंसिल के अन्तर्गत ये कमीशन हैं :—आर्थिक, सामाजिक, आंकड़ा, मानवीय अधिकार, यातायात स्त्रियों की स्थिति तथा जन सम्बन्धी कमीशन, आर्थिक व सामाजिक कौंसिल के अन्तर्गत ये संगठन हैं। स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन, शैक्षिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, खाद्य-कृषि, अन्तर्राष्ट्रीय निधि, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन, युद्ध द्वारा आहत देशों को पुनः स्थापन करने के लिए तथा उनका शासन करने के लिए संगठन। इन संगठनों द्वारा यही आशा की जाती है कि प्रत्येक राष्ट्र में सुख, शान्ति तथा सम्पदा विराजेगी और प्रत्येक राष्ट्र में आर्थिक, व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति पर्याप्त मात्रा में होगी। ये ही संगठन विश्व-शान्ति की नींव को सुदृढ़ बनायेंगे।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय** :—यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की व्यवस्था करता है। यदि कोई सदस्य राष्ट्र न्यायालय के निर्णय की अवज्ञा करता है अथवा ऐसा कार्य करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होने की सम्भावना हो तो सुरक्षा-कौंसिल उपवर्णित रीति से युद्ध के लिए उद्यत राष्ट्र को आज्ञापालन के लिए बाध्य करती है।

(५) **कार्यालय** :—संयुक्त राष्ट्र संघ के दैनिक कार्य के लिए एक कार्यालय की योजना की गई है।

(६) **ट्रस्टीशिप कौंसिल :**—संसार के कुछ महान राष्ट्रों को संसार के कुछ पिछड़े हुए राष्ट्रों के शासन का भार दिया गया है। ऐसे पिछड़े हुए प्रदेशों को मॅण्डेटस कहते हैं। ये राष्ट्र ऐसे हैं जो आर्थिक व राजनैतिक स्वाधीनता के योग्य अभी नहीं है, तथा जिनकी रक्षा करना परमावश्यक है। चीन तथा सोवियट रूस की महान राष्ट्रों में गणना होते हुए भी इन दोनों महान राष्ट्रों के अन्तर्गत कोई मॅण्डेट नहीं हैं।

मॅण्डेटरी राष्ट्रोंका महान कार्यः—पिछड़े हुए राष्ट्र का निरीक्षण उसकी अनुमति से करना, मॅण्डेट में निवास करने वाली प्रजा के हित की चिंता करते हुए सुयोग्य रीति से राज्य शासन करना, मॅण्डेटरी राष्ट्र पत्र द्वारा, प्रार्थना द्वारा अपने शासकों के नीति का विरोध कर सकता है। मॅण्डेट शासन का मुख्य ध्येय यही है कि मॅण्डेटरी राष्ट्र उपयुक्त समय उपयुक्त स्थिति प्राप्त करने के बाद स्वाधीनता प्राप्त करलें। केवल शर्त इतनी ही है कि मॅण्डे-टरी राष्ट्र स्वाधीनता पूर्वक शासन करने की योग्यता प्राप्त कर लें।

संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्यः—सामाजिक, शैक्षिक, व सांस्कृतिक क्षेत्र में संयुक्तराष्ट्र संघ को काफी सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु संयुक्त-राष्ट्र संघ का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को सम्पन्न करना, युद्ध का समूल नाश करना तथा राष्ट्रों में परस्पर सहयोग तथा सहकार्य की प्रवृत्ति को जगाना। परन्तु इसकी स्थापना के पाँच वर्ष बाद ही उत्तरी कोरिया तथा दक्षिणी कोरिया में युद्ध छिड़ गया है। जिसमें उत्तरी कोरिया की तरफ से सोवियट रूस (अपरोक्ष रीति) से दक्षिणी कोरिया की तरफ से संयुक्तराष्ट्र अमेरिका तथा संयुक्तराष्ट्र संघ के अन्य सदस्य युद्ध के लिये प्रस्तुत हुये। चीन ने भी तिब्बत पर धावा बोल दिया है। इण्डोनेशिया तथा इण्डोचीन हॉलैण्ड तथा फ्रांस के साम्राज्य से मुक्ति पाने के लिये अशान्त एवं व्याकुल हो उठे हैं। युद्ध के लिये पर्याप्त वातावरण तैयार हो रहा है। चिनगारी सुलगने की देरी है। उपरोक्त घटनाओं का मुख्य कारण है संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा सोवियट रूस का मनमुटाव तथा विरोधात्मक राजनीति।

दोनों महान राष्ट्रों के सिद्धान्तों में जमीन आसमान का फर्क है। दोनों ही संसार को अपने सिद्धान्तों पर संगठित करने पर तुले हुये हैं। दोनों ही के पास युद्ध की भीषण से भीषण सामग्री पर्याप्त मात्रा में है। विज्ञान के नवीनतम तथा विनाशकारी आविष्कार प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। अनुमान है कि दोनों ही महान राष्ट्रों को अणुबम तथा कीटाणुबम बनाने की विधि ज्ञात है। दोनों ही राष्ट्र पीछे हटने को तैयार नहीं हैं। दोनों ही अपना प्रभाव योरोप तथा एशिया के देशों में फैलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। संघर्ष तथा युद्ध का वातावरण मौजूद है। क्या दोनों महान राष्ट्र परस्पर सहयोग तथा परस्पर सम्बन्ध अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये तैयार हो जायेंगे? सोवियट रूस कम्यूनिजम का पक्षपाती है तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पूंजीवाद का। दोनों ही राष्ट्रों में संकुचित राष्ट्रीयता की भावना का लोप नहीं हुआ है। साम्राज्यशाही राष्ट्रों में साम्राज्य की पिपासा का लोप नहीं हुआ है। अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रीयता, राज्यप्रभुता, साम्राज्यवाद, असमानता की भावना का प्रतिपादन करते हुये विश्वशान्ति, भ्रातृत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का सुखद स्वप्न देख रहा है। विश्वशान्ति, भ्रातृत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का नामोच्चारण कर रहा है। क्या ऐसी स्थिति में सच्ची पवित्र मानवता का प्रादुर्भाव सम्भव है? क्या द्वेष, प्रतिद्वन्दिता एवं अविश्वास की नींव पर जैसे संयुक्तराष्ट्र अमेरिका एवं सोवियट रूस में है—प्रेम और परस्पर सहयोग की स्थापना हो सकती है? क्या अणुबम तथा कीटाणु-बम तथा युद्ध की नाना प्रकार की सामग्री के उत्पादन से विश्वशान्ति सम्भव है?

नवीन मनोवृत्ति के उत्पत्ति के बिना तथा हृदय परिवर्तन के बिना विश्वशान्त असम्भव है। विश्व-बन्धुत्व का पाठ तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का पाठ प्रत्येक नागरिक तथा प्रत्येक राष्ट्र को पढ़ाना होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व सब को सिखाना होगा साथ ही साथ दृढ़ निश्चय होकर राष्ट्रों को विद्वानों की सहायता से राष्ट्रों के आर्थिक सहयोग एवं अन्तर्राष्ट्रीय

आर्थिक आयोजन के लिये प्रयत्न करना पड़ेगा नहीं तो संसार का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। यह कार्य शिक्षा द्वारा, प्रचार द्वारा, पुस्तकों द्वारा तथा विश्वशान्ति संगठन द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर करने की आवश्यकता है। प्रत्येक सुशिक्षित नागरिका यह पुनीत कर्तव्य है कि वह इस कार्य में दिलचस्पी ले तथा इसको सफल बनाने में भरसक प्रयत्न करे।

अध्याय २३

विद्यार्थियों से दो शब्द

राष्ट्र का भविष्य तथा समाज का दारोमदार विद्यार्थियों पर नि र है। अतः इस स्थान पर विद्यार्थियों से कुछ कहना आवश्यक सा प्रतीत होता है। आज के ही विद्यार्थी कल के राजनीतिज्ञ, सरकारी अफसर, अध्यापक, समाज सुधारक इत्यादि हैं। जिन विचार, भावनायें, व्यवहार इत्यादि का बीजारोपण उनमें आज होगा वही व्यवहार व विचार उनमें मृत्युपर्यंत रहेंगे। यदि वे सद्गुणी होंगे तो वे अपने सद्गुणों से समाज को प्रभावित करेंगे। यदि वे दुर्गुणी होंगे तो वे समाज पर अपने दुर्गुणों की छाप डालेंगे।

लोकतन्त्र के सफलता का दायित्व प्रत्येक नागरिक पर निर्भर है। आज के विद्यार्थी कल के नागरिक हैं। लोकतन्त्र की सफलता नागरिकों के दायित्वपूर्ण आचरण, निष्पक्ष भाव से योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन, शासकों, शासितों एवं प्रतिनिधियों का पवित्र एवं विवेकपूर्ण आचरण पर ही निर्भर है। नागरिकों और शासितों के परस्पर सम्बन्ध पर ही लोकतन्त्र की सफलता निर्भर है। अर्थात् नागरिकों के पवित्र एवं नैतिक पूर्ण आचरण पर ही लोकतन्त्र राज्य की पवित्रता सम्भव है। आज के विद्यार्थी ही कल के नागरिक हैं। अतः स्कूल तथा कॉलेजों में अच्छा व्यवहार, अच्छी आदतें, पवित्र एवं नीति-पूर्ण आचरण इत्यादि चरित्र निर्माण की ओर ध्यान देना परमावश्यक है। क्योंकि आजके विद्यार्थी तथा कल के नागरिक का बनने व बिगड़ने का समय यही है। सच्चरित्र नाग-

व छोटों का बड़ों से सम्बन्ध, गुरु का शिष्य व शिष्य का गुरू के सम्बन्ध में अनादर व उपेक्षा की मात्रा बढ़ती जाती है। अनादर की प्रवृत्ति हानिकारक ही नहीं है किन्तु यह विनाशकारी प्रवृत्ति है। अनादर सामाजिक बन्धनों व सम्बन्धों को शिथिल करता है। अनादर समाज के भेद को व मनुष्य की विभिन्नता को प्रोत्साहित करता है। अतः अनादर सामाजिक एकता का शत्रु है। उपरोक्त सम्बन्ध प्रेम व आदर की भित्ती पर निर्भर होने चाहिये, तभी देश व समाज का कल्याण हो सकता है। इसका दायित्व सभी पर है। यदि माता-पिता गुरुजन व बड़े-बूढ़े अपने कनिष्ठों के प्रति केवल भरण-भोषण का ही सम्बन्ध न रखकर प्रेम, आदर व मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करेंगे तभी यह अनादर की नाशकारी प्रवृत्ति के वातावरण का अन्त होगा और एक नया पवित्र और स्वस्थ सम्बन्ध पैदा हो सकेगा जिसमें बड़ों के व छोटों के प्रति, उच्च ध्येयों के प्रति व सामाजिक व राजनैतिक सम्बन्धों के प्रति, आदर की भावना रहेगी। अतः बड़ों और छोटों के बीच की खाई जो डर, दूरी, व एक दूसरे को न समझने के कारण पैदा होती है वह मिट जायगी। अर्थात् समाज के प्रत्येक अंग स्त्री, पुरुष, माता-पिता, अभिभावक सन्तान, भाई-बहन, बड़े-छोटे, गुरू-शिष्य इत्यादि के सम्बन्ध पवित्रता तथा आदर पर स्थित होंगे। प्रेम और निकट सम्बन्ध ही मनुष्य को समीप लाते हैं। प्रेम व निकट सम्बन्ध दूरात्व भावना का शत्रु है। ऐसे सम्बन्ध ही आदरसूचक हो सकते हैं। अतः आदर का बीजारोपण करके अनादर का बहिष्कार करना होगा। तभी सुदृढ़ सुस्वस्थ समाज रचना सम्भव है। जब कुटुम्ब के सम्बन्ध सुस्वस्थ व आदर-पूर्ण होंगे तो उसका प्रभाव समाज व राज्य पर होगा। ऐसे वातावरण में पला हुआ व्यक्ति सच्ची नागरिकता को बरतेगा।

(३) उत्तरदायित्व रहित, अनुशासन रहित व अनियमित आचरण:—'स्वतन्त्रता व स्वाधीनता' शब्दों से उन्मत्त होकर विद्यार्थियों में कानून भंग, अनुशासन को तोड़ना, उत्तरदायित्व रहित आचरण

व अनियमित आचरण की परम्परा भी चल पड़ी है। उपरोक्त दुर्गुणों के कारण विद्यालयों का वातावरण विपाक्त हो गया है। व्यवस्थित कार्य प्रणाली उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार एवं नियमित जीवन पर ही समाज की रचना सम्भव है। क्योंकि कानूनमय आचरण पर ही समाज कायम रह सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के दायित्वपूर्ण आचरण पर ही समाज सुसंगठित रह सकता है। अर्थात् अनुशासन रहित स्वतन्त्रता भयंकरता में परिणित हो गई है। इस कारण कुटुम्ब समाज राष्ट्र का वातावरण विपाक्त हो गया है।

समाज की स्थिति देखिये सम्पत्तिवान व्यक्ति सम्पत्ति एकत्रित करने में व्यस्त रहता है। उसे समाज व राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य व दायित्व का ज्ञान नहीं तथा कभी कभी इससे वह पूर्ण रूप से उदासीन भी रहता है। उसके स्वार्थ सुख व भोग की सीमा में अनुशासन नहीं, नियम नहीं, नीति व अनीति का ज्ञान नहीं। शासकवृन्द की भी मनोवृत्ति इसी प्रकार की है। उन्हें भी अपने कर्त्तव्य व दायित्व का ज्ञान नहीं है। जब शासक बड़े बूढ़े, समाज सेवक नीति, नियम का पालन नहीं करेंगे, अपने विभाग के प्रति अपना दायित्व समझते हुये मन पूर्वक यथाशक्ति काम नहीं करेंगे, तब शासन की बागडोर शिथिल हो जायेगी। अव्यवस्थित एवं अनियमित वातावरण शासन में बढ़ जायेगा। ऐसे व्यवहार से नागरिकों के हित की रक्षा नहीं हो सकेगी। संपत्तिवान व्यक्तियों के उपरोक्त व्यवहार से दुःख दारिद्रय की मात्रा बढ़ जायेगी। इससे समाज व राष्ट्र की वह विस्खलित हो जायेगी। ऐसी मनोवृत्ति समाज व राष्ट्र की उन्नति में बाधक है। आज के विद्यार्थी कल के नागरिक हैं। उनके आज के अव्यवस्थित अनुशासन रहित, अनियमित जीवन का प्रभाव कल के समाज पर अवश्य पड़ेगा। क्योंकि जो आदतें वे आज सीखेंगे उन्हीं की पुनरावृत्ति वे अपने कल के नागरिक जीवन में करेंगे 'वैयक्तिक अधिकार' 'व्यक्ति का विकास' इत्यादि विचारों का ठीक ठीक अर्थ नहीं समझने के कारण हमारे सामाजिक जीवन

में अनर्थ हो रहा है। समाज व व्यक्ति, विद्यार्थी व विद्यालय, व्यक्ति व कुटुम्ब इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इस सिद्धान्त को भूल जाने के ही कारण आज के विद्यार्थियों का अनुशासन रहित व अनियमित जीवन नजर आ रहा है वैयाक्तिक अधिकार व स्वतन्त्रता का उपभोग सुसंगठित समाज व राष्ट्र के अन्तर्गत ही हो सकता है, इसको हम भूल गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक विद्यार्थी छोटी व बड़ी मात्रा में एक दूसरे को प्रभावित करता है। अतः इस प्रकार की विनाशकारी प्रवृत्ति का समाज की व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(४) उपरोक्त मनोवृत्ति की सहचरी उच्छृङ्खलता है। विद्यालयों की पुस्तकें, अन्य सामान इत्यादि का भी दुरुपयोग विद्यार्थी करते हैं। सामान व पुस्तकों का उपभोग करना अपना अधिकार समझते हैं परन्तु उन्हें यथा स्थान रखना, नियमबद्ध रीति से उनका उपयोग करना अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं। हमारे विद्यार्थियों में विशाल सामाजिक व नागरिक दृष्टि कोण की कमी है उनमें दूसरों की वस्तुओं के प्रति तथा सार्वजनिक हित अथवा वस्तु के प्रति आदर व दायित्व की भावना नहीं है। साथ ही साथ व्यवस्थित जीवन के प्रति उनमें उदासीनता की भावना की मात्रा अधिक नजर आती है। यह मनोवृत्ति नागरिक जीवन में प्रवेश करने के बाद स्वतः व्यक्ति के लिए तथा उसके चारो ओर स्थित समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। क्योंकि अव्यवस्थित दायित्व रहित अनियमित आचरण समाज व राष्ट्र के लिये हानि-कारक है। नागरिक जीवन में प्रवेश करने के बाद सावजनिक हित के प्रति उदासीनता राष्ट्र तथा समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक होगी। अतः समाज, विद्यालय तथा घरों में अव्यवस्थित आचरण दृष्टिगोचर होता है। सार्वजनिक वस्तुओं का दुरुपयोग तथा उनको यथास्थान रखने का आलस्य नजर आता है। इस अव्यवस्थित मनोवृत्ति का प्रभाव नागरिक जीवन पर गहरा पड़ता है। स्कूलों में विद्यार्थी सामान व पुस्तकों का सदुपयोग करना जानते ही नहीं हैं। अतः हमारे विद्यालयों तथा

घरों में व्यवस्थित जीवन की शिक्षा ही नहीं दी जाती है। इस अव्यवस्थित जीवन प्रणाली के कारण प्रत्येक कार्य समयानुकूल नहीं होता है। इससे समाज की शक्ति का ह्रास होता है। इससे समाज व राष्ट्र को क्षति पहुँचती है।

(५) सफाई व स्वास्थ्यः—सफाई व स्वच्छता का ख्याल भी विद्यार्थियों में नहीं पाया जाता है। केवल ऊपरी वेशभूषा, शकल-सूरत को ठीक-ठाक रखने में उनका ध्यान रहता है। किन्तु उनमें सच्ची नागरिक भावना की कमी पाई जाती है। कागज के टुकड़े इधर-उधर फेंकना, खाकर दोने या छिलके इधर-उधर फेंकना, खाने के बाद हाथ-मुँह की सफाई ठीक से नहीं करना इत्यादि अनेकों अवगुण विद्यार्थियों में विद्यमान हैं। आजकल एक ही तश्तरी में खाना एक ही गिलास में पानी पीना इत्यादि अवगुण भी विद्यार्थियों में दिखलाई देते हैं। जूठा इत्यादि का विचार केवल धार्मिक ढोंग नहीं है इसमें स्वास्थ्य रक्षा का नियम छिपा हुआ है। जूठन द्वारा ही संक्रामक रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में पहुँचते हैं। सफाई की भावना केवल व्यक्ति तक ही सीमित है। हमारे विद्यार्थियों का ध्यान इर्द-गिर्द की सफाई की आवश्यकता की ओर नहीं जाता है। स्कूल की सफाई, मुहल्ले की सफाई में ही व्यक्ति का स्वास्थ निहित है। इस ओर विद्यार्थियों का ध्यान नहीं गया है। वातावरण का दुष्प्रभाव हमारे स्वास्थ पर पड़ेगा। तथा वातावरण को स्वच्छ तन्दुरुस्त रखना प्रत्येक का पुनीत कर्तव्य है। इस ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान कम हैं। दूसरों के सुख व आवश्यकताओं के प्रति भी हमारे विद्यार्थी उदासीन हैं। इस प्रकार की स्वार्थ बुद्धि अथवा एकांगिता का अन्त करना होगा। हमारे विद्यार्थियों को सार्वजनिक हित की ओर ध्यान देने के लिये प्रवृत्त करना होगा। नागरिक जीवन में इसकी आवश्यकता होती है। सच है हम अपने घर को साफ करने के लिये अपने घर का कूड़ा दूसरे के घर में डालकर अपने सम्पूर्ण वातावरण को अस्वस्थ बना देते हैं। इस भावना को जागृत करना आवश्यक है।

प्रत्येक क्षेत्र में सीमोल्लंघन की प्रवृत्ति अनादर, उपेक्षा व विवेक रहित जीवन नजर आता है। इस वातावरण को बदलना होगा। सीमित स्वतन्त्रता को लक्ष बनाकर जीवन यापन करना सीखना होगा।

(६) **अनमोल समय व शक्ति का नाशः**—विद्यार्थीगण सार रहित बात-चीत, गुलगपाड़ा इत्यादि में काफी समय नष्ट कर देते हैं। आज के विद्यार्थियों के व्यवहार, विचार में किसी प्रकार की सीमा, ध्येय, बन्धेज नहीं दिखलाई देता है। असीमित बन्धन रहित जीवन व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के लिये हानिकारक है। विद्यालय केवल आमोद-प्रमोद के स्थान होते जा रहे हैं। अधिकतर विद्यार्थियों के जीवन में कोई लक्ष नहीं होता है। अतएव केवल समय काटने के लिये वे भरती हो जाते हैं। अधिकांश विर्थियों को बौद्धिक जीवन की ओर अभिरूचि नहीं होती है। अतः विद्यार्थियों को तथा शिक्षकों को विद्यालयों में बौद्धिक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा राष्ट्र की शक्ति एवं समय का अच्छा उपयोग करना विद्यार्थियों को सिखलना चाहिये। दिनों-दिन भारत का बौद्धिक स्तर घटता जा रहा है क्योंकि अधिकांश विद्यार्थियों का मन पटन-पाटन में नहीं लगता है। विद्यार्थी जीवन का ध्येय बुद्धि का विकास एवं ज्ञान का संग्रह होना चाहिये। विद्यार्थी जीवन में ही बालक को इसके लिये पर्याप्त समय मिलता है। यही समय है जब विद्यार्थी विभिन्न दृष्टिकोण को पढ़ कर, समझ कर विभिन्न विद्वानों की कृतियों को पढ़ कर अपना बौद्धिक व मानसिक स्तर ऊँचा कर सकता है। इसी से राष्ट्र व समाज का बौद्धिक स्तर ऊँचा हो सकेगा।

(७) **वेषभूषा** :—भौतिक विपुलता के इस युग में विद्यार्थियों के प्रलोभन की अनेकानेक वस्तुएँ पर्याप्त हैं। अतः अधिकांश विद्यार्थी बाहरी आडम्बर जैसे वेषभूषा, शकल, सूरत में निमग्न रहते हैं। मन व शरीर को, उपभोग प्रिय है। मन मनुष्य को प्रलोभना की ओर खींचता है। इच्छा व लोभ का कोई अन्त नहीं। हजारों युवक व युवतियां विद्यार्थी जीवन में

अपने माता-पिता के कठोर प्रयत्न से उत्पादन किये हुये धन को वेषभूषा, सिनेमा, अनावश्यक विलास की वस्तुओं में व्यर्थ खर्च कर देते हैं। इससे न विद्यार्थी का और न देश का ही कुछ काम होता है। सादगी से रहना, उच्च आदर्शों का पालन करना तथा बौद्धिक स्तर को ऊँचा करना यही विद्यार्थी जीवन का ध्येय होना चाहिये। ये ही गुण सम्पन्न एवं सुदृढ़ राष्ट्र निर्माण के लिये परमावश्यक हैं।

यहां पर यह भी कहना उपयुक्त होगा कि विद्यार्थी जीवन में विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। जब विद्यार्थी अपने आप को पूर्णरूप से आर्थिक, सामाजिक व कौटुम्बिक जीवन का दायित्व ग्रहण करने के योग्य बना ले तब ही व्यक्ति को ग्राहस्थ्य जीवन में पदार्पण करना चाहिये। अतः विद्यार्थी जीवन में पर-स्त्री के प्रति मां बहिन का ही सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। इस प्रकार का संयम ही शरीर व मन का समतुलन बनाये रख सकता है।

पठन-पाठन एवं मनन ही विद्यार्थी जीवन का ध्येय होना चाहिये प्रत्येक बुद्धिमान विद्यार्थी का कर्तव्य है कि मन को प्रलोभन से विभक्त करके नये खोज व आविष्कारों में लगावें। जिससे देश व राष्ट्र का लाभ हो। अभाग्यवश बुद्धिमान युवक प्रलोभना में फँसकर अपनी बुद्धि का पूर्ण रूप से विकास नहीं करते हैं। वे अपना समय और धन खोते हैं और उनकी बुद्धि का उपयोग राष्ट्र के लिये नहीं हो पाता है। इस प्रकार राष्ट्र के धन समय व बौद्धिक शक्ति का नाश होता है।

अतः विद्यार्थी जीवन में खोया हुआ समय व खोया हुआ अवसर फिर लौट नहीं सकता है। अतएव विद्यार्थी जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शारीरिक व बौद्धिक विकास के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। तथा विभिन्न समस्याओं जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक इत्यादि को समझने का प्रयत्न करना चाहिये और उनसे सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोण पर परिपक्व विचार करने का प्रयत्न करना चाहिये। नागरिक जीवन में अधकचरे विचारों को लेकर प्रवेश करना महत्पातक है।

अध्याय २४

उच्च नागरिकता की ओर

आधुनिक भारतीय समाज :—आधुनिक भारतीय समाज की रचना विस्खलित हो गई है। पुरातन विचारों को सनातन समझकर भारतवासियों ने उनका परित्याग किया है। अधिकार के साथ जुड़े हुए कर्तव्यों की विस्मृति हो गई है। इसलिए आज भारतीय समाज में उच्छृङ्खलता नजर आ रही है। सामाजिक संबंधों में शून्यता नजर आती है। कर्तव्य और अधिकार ही मनुष्य मनुष्य के सम्बन्ध को जोड़ता है। इसके बिना समाज असंख्य टुकड़ों में विभाजित हो गया है। आप के समाज में अधिकारों को महत्व है कर्तव्यों को नहीं।

इसके अतिरिक्त भारतीय समाज ने बिना मनन किये हुये पाश्चात्य सभ्यता के ऊपरी आडम्बरों को अपना लिया है। अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता से हमने खान-पान, शराब, सिगरेट, कपड़े-लत्ते, रहन-सहन, बोल-चाल, नाच-गाना इत्यादि ऊपरी गुण सीख लिए हैं परन्तु उनके सभ्यता व संस्कृति के मूल तत्वों पर तो गौर ही नहीं किया है। उनकी मुस्तैदी, ठीक समय पर काम करने की आदत, प्रजातन्त्रात्मक भावना, नागरिकता, उनका सुप्रबन्ध, कार्यकुशलता व कार्य दक्षता, कायदे से काम करने के तरीके, व्यक्तिगत व सार्वजनिक जीवन के क्षेत्रों को विभाजित करना, सार्वजनिक कार्यों की पवित्रता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण इत्यादि चारित्रिक गुण जो प्रत्येक सभ्यता व संस्कृति के प्राण हैं इन्हें तो ग्रहण ही नहीं किया। अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता की आत्मा व सार को तो हमने अपनाया ही नहीं। उपरोक्त गुणों को भारतीय जीवन में लाने का प्रयत्न करना होगा।

अधिकांश भारतियों ने पूर्वात्य सभ्यता के पवित्र स्पष्ट, खुले भाई चारे के व्यवहार को त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता के कृत्रिम व्यवहार को अपना लिया है। परन्तु शादी विवाह, रीति रस्म इत्यादि मामलों में अधिकांश नागरिक पुरानी भारतीय परिपाटी पीटते हैं। किन्तु दिन प्रतिदिन के व्यवहार में पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करते हैं। जैसे रहन-सहन व्यवहार इत्यादि में पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करते हैं। अतः आधुनिक भारतीय के विचार, व्यवहार तथा भावनायें अलग-अलग दिशाओं में जा रहे हैं। दिल-दिमाग, व्यवहार व विचारों में पूर्वात्य एवं पाश्चात्य सभ्यता का समिश्रण है। बिना विचारे ही इन सबको ग्रहण किया गया है इससे विचार और भावनाओं में कशमकश चलती है।

पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवाद के मूलतत्वों पर स्थित है तथा पूर्वीय सभ्यता आध्यात्मिक तत्वों पर निर्भर है। पाश्चात्य सभ्यता, भोगवाद, शारीरिक सुखों की तृप्ति पर ही स्थित है। सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक सभी क्षेत्रों में पाश्चात्य सभ्यता, भोगवाद को ही उच्च स्थान देती है। भोग का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति 'अपनी' प्रगति को सर्वप्रथम स्थान देकर जीवन-यापन करे। अर्थात् स्वार्थ का, अधिकारों का अत्यधिक महत्व है, कतव्य निस्वार्थ जीवन, सेवा भाव, परोपकार, सहानुभूति, प्रेम इत्यादि भावनाओं का निम्न स्थान है। अतः पाश्चात्य सभ्यता ईर्षा, द्वेष, संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता, प्रलोभना, आचार भ्रष्टता इत्यादि का सक्रिय रूप से विरोध नहीं करती है। कुछ हद तक इन प्रवृतियों की प्रशंसा एवं प्रोत्साहना ही की जाती है अर्थात् बुद्धिबल व पाशविक बल को पाश्चात्य सभ्यता के दृष्टि से महत्व है। उपरोक्त प्रवृत्तियों के पुष्टि के कारण पाश्चात्य सभ्यता की शोचनीय स्थिति हो रही है। विज्ञान का चक्र जोर से घूम रहा है। अणुबम और किटाणुबम इसी सभ्यता के प्रतीक हैं। विज्ञान के चक्कर में फंसकर पाश्चात्य सध्यता अपने आपको नष्ट करने जा रही है। इस चक्कर से हम भारतीयों को अलग होना पड़ेगा।

एक नवीन विचार धारा को अपनाना होगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चरित्रबल, आत्मबल को मुख्य स्थान देना होगा। भारतीय सभ्यता के अध्यात्मिक तत्वों को पुनः जन्म देना होगा। भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का सुन्दर समिश्रण करना होगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र आर्थिक, राजनैतिक, बौद्धिक, शैक्षिक, सामाजिक इत्यादि में अधिकारों के साथ साथ कर्तव्यों को उच्च स्थान देना पड़ेगा। धर्म (जिसे समाज धारण करे) की भावना को पुनर्जन्म देना होगा।

भोगवाद हमें वैयक्तिक सम्पत्ति को एनकेनप्रकारेण संग्रहित करना सिखलाता है। सम्पत्ति ही भौतिक सुख व भोग की सब वस्तुओं की प्राप्ति सम्भव करती है। अतः प्रत्येक नागरिक के जीवन का मुख्य ध्येय अधिकाधिक सम्पत्ति को एकत्रित करना है अर्थात् लोभ व भोग जीवन का ध्येय बन गया है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि समाज धनवान व्यक्ति का आदर करता है। इस भावना के कारण हिंसात्मक प्रवृत्तियों की उत्पत्ति होती है। सामाजिक विषमता द्वेष व संघर्ष को बढ़ाती है। राष्ट्र व समाज में शोषक दल व शोषित दल—दो दल दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह हिंसात्मक व भोगवाद प्रवृत्ति समाज को विनाश की ओर ले जा रही है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसने अपना घर बना लिया है।

उपरोक्त भावना का वातावरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कालाबाजार, असत्य, झूठ, तृष्णा-लोभ इत्यादि इसी भावना की सहचरी हैं। सर्वत्र संघर्ष दिखलाई देता है। राष्ट्रों के बीच संस्थाओं के बीच और आर्थिक, समाजिक, बौद्धिक इत्यादि क्षेत्रों में भी संघर्ष की मात्रा बढ़ती हुई दिखलाई देती हैं। साम्राज्यवाद शोषण, प्रवृत्ति, संकुचित राष्ट्रीयता, जात-पात अर्थात् हर प्रकार के संघर्ष का मूल भौतिकवाद ही है।

अतः इन अनेकों कारणों से संसार में सर्वत्र नैतिक अधःपतन दिखलाई देता है। तेजी से भारत भी इस ओर जा रहा है। यह भारतीय समाज व

नवीन संस्थापित भारतीय राष्ट्र के लिये भयपूर्ण, हानिकारक व नष्टप्रद मालूम देता है। इन समस्याओं की ओर विद्यार्थियों का तथा समाज व राष्ट्र के नेताओं का ध्यान आकृष्ट करना परमावश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रभाव दूसरे पर डालता है, और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से प्रभावित होता है। यह भी सत्य है कि साधारण व्यक्ति का प्रभाव साधारण व कम होगा। प्रतिभाशाली व आत्मोन्नत व्यक्ति का प्रभाव अधिक होगा। गुणवान महात्मा जैसे बुद्ध भगवान, अशोक, इसामसीह, मोहम्मद इत्यादि का प्रभाव दूर दूर देशों की जनता पर पड़ा और शताब्दियों तक पड़ता रहेगा। उसी प्रकार इस जमाने में फ्राइड, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द, मार्क्स, म्याडम, माण्टेसरी, डॉ. बेसेण्ट इत्यादि का प्रभाव सारे भूखण्डों पर पड़ रहा है। अतः प्रत्येक विचारवान सच्चे नागरिक का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वह उपरोक्त दलदल से अपने आप को उठाये और छोटी बड़ी सीमा में जितना उसका प्रभाव है—नूतन विचार धारा को उत्पन्न करे। भविष्य के नागरिक होने के नाते इसका बहुत बड़ा दायित्व विद्यार्थियों पर भी है। राष्ट्र के नेता, समाज सुधारक, सरकारी अफसर, न्यायाधीश, प्रान्तीय व केंद्रीय परिषद, इत्यादि प्रत्येक स्तर के व्यक्ति का इस ओर ध्यान आकर्षित होना चाहिये। इन्हें नवीन वातावरण को प्रस्थापित करने का सचेत रूप से प्रयत्न करना चाहिये, और अपने कार्यों से, उदाहरण से, तथा अपने जीवन से नैतिक व आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा करने के लिये उन्हें प्रस्तुत होना चाहिये।

प्रत्येक नागरिक को उपदेश व उदाहरण से विश्वबंधुत्व, विश्व सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीयता स्वतंत्रता, समानता, समता इत्यादि की भावनाओं को सच्चे व पवित्र रूप से पुनर्जन्म देना होगा। ये सब भावनायें विद्यमान हैं। परन्तु इनका प्रचार करके उन्हें जीवन का ध्येय बनाने की आवश्यकता है। आधुनिक लोकतन्त्र भोग और हिंसा पर स्थित है उसमें आध्यात्मवाद अथवा ईश्वर के लिये स्थान नहीं है। आत्मबल, संयम, धर्म, ईश्वर, ये सब उपहास

की वस्तु समझी जाने लगी हैं। आत्मा ही में विश्वास नहीं तो परमात्मा की पूछ कहाँ। शारीरिक ऐश आराम व भौतिक सुख की तृष्णा मे आध्यात्मिक विचारों को, ईश्वर को स्थान कहां। विश्वबन्धुत्व, सहिष्णुता, समता, स्व-तन्त्रता, दया, धर्म, सेवा इत्यादि उच्च आदर्शों में आकार है, इन आदर्शों से शाब्दिक सहानुभूति है किन्तु इनमें वास्तविकता नहीं इनमें आत्मा या जीवन नहीं है। सच्चे नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण को उत्पन्न करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। आत्मबल, आत्मशान्ति, संतोष, वसुधैव कुटुम्बकम, संयम, दया, धर्म, अहिंसा, सहिष्णुता इत्यादि भावनाओं को समाज व राष्ट्र का अंग बनाकर, उन्हें पुनः स्थापित करना भारतीय नागरिकों का पुनीत कर्तव्य है। यह सब करने के लिये नई विचारधारा अथवा नई मनोवृत्ति निर्माण करनी होगी। पाश्चात्य सभ्यता के भौतिक विज्ञान अनात्मवाद के साथ ही साथ अध्यात्मिक ध्येय भी रखने होंगे। निरवालिस देहवाद या भौतिकवाद मानव समाज को नाश की ओर ले जा रहा है। सामाजिक जीवन को विनाश की ओर ले जा रहा है। सामाजिक जीवन को नये सिरे से संगठन करना होगा। शरीर सम्बन्धी सब ही सुखों व आवश्यकताओं की समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार पूर्ति के साथ ही साथ, प्रत्येक नागरिक को आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जिससे जीवन अच्छा व पूर्ण हो सके—ऐसी मनोवृत्ति का निर्माण करना होगा।

प्रजातन्त्रात्मक भावना तथा उसके उत्पत्ति के साधनः—प्रजा-तन्त्र राज्य को सफल बनाने के लिये प्रजातन्त्रात्मक भावना की उत्पत्ति की आवश्यकता है। इस भावना की नींव घरों में तथा स्कूलों में डाली जा सकती है। यदि समाज के नेता व माता-पिता सक्रीय रूप से उपरोक्त विचारों का प्रचार करें, तथा इन विचारों को अपने दिन प्रतिदिन के जीवन में सचेत होकर लाने का प्रयत्न करें तो कुछ वर्षों में समाज में एक नई व स्वच्छ प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जायेगा और प्रजातंत्र मनोवृत्ति समाज की मनोवृत्ति का एक अंग हो जायेगी। जब अधिकांश नागरिक

इस प्रकार सोचने लगेंगे तो सच्ची नागरिकता भारतीय समाज का अंग हो जायेगी। (१) प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिये सर्वप्रथम माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध में परिवर्तन आवश्यक है। माता-पिता केवल बच्चे का लाड़-प्यार करना तथा भरण-पोषण करना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। बहुत कम माता-पिता बच्चे के विचार व भावना को समझने का प्रयत्न करते हैं। बिना विचारे अत्यधिक लाड़ प्यार व अत्यधिक कठोरता व कठोर अनुशासन दोनों ही व्यवहार बच्चों में सुस्वस्थ व संतुलित मनोवृत्ति पैदा नहीं कर सकती हैं। माता-पिता बच्चों को केवल आज्ञापालन का यंत्र मात्र समझते हैं या कुछ उन्हें अनुशासन रहित स्वतन्त्रता देते हैं। बालक एक सजीव प्राणी है वह सोचता है, समझता है और उसमें भावना भी है। माता-पिता इस बात को भूल जाते हैं। जब सन्तान सोचने समझने के लायक हो जाय तो माता-पिता को अपनी सन्तान से मैत्री और बराबरी का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये, और हर कार्य में उनकी अनुमति व विचार का भी ध्यान रखना चाहिये। बच्चों को स्वतंत्र विचार करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। इस प्रकार से प्रेम, सुरक्षा, सच्ची समानता, मैत्री व सच्ची स्वतंत्रता में पला हुआ बालक संतुलित होगा, और बड़ा होकर इसी परम्परा की अभिवृद्धि करेगा माता-पिता का सन्तान के प्रति प्रेम व समानता का व्यवहार बच्चे के पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायक होगा। (२) स्कूल तथा कॉलेजों ही में बच्चों के विचार ढाले जाते हैं। स्कूलों में विविध विषयों पर वाद-विवाद द्वारा, चुनाव द्वारा तथा विभिन्न प्रकार के विषयों पर भाषण द्वारा विद्यार्थियों को विभिन्न विषयों की जानकारी दिलाई जानी चाहिये। धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक सांस्कृतिक सभी विषयों पर निष्पक्ष रूप से विद्यार्थियों को जानकारी दिलाई जानी चाहिये। स्कूलों में किसी विशिष्ट दलबन्दी का पक्षपात नहीं करना चाहिये। परन्तु विद्यार्थियों को विभिन्न विषयों पर स्वतंत्र रूप से विचार करने का अवसर देना चाहिये। इसका प्रभाव राष्ट्र व समाज पर हितकर होगा।

इसी प्रकार स्कूलों में कौंसिल द्वारा तथा अन्य प्रकार के कार्यभार देकर विद्यार्थियों में दायित्व ग्रहण करने की क्षमता अथवा शक्ति का निर्माण करना चाहिये। राष्ट्र व समाज के निर्माण में इस गुण की आवश्यकता है। जहाँ तक सम्भव हो सब कार्य समझा बुझाकर करना चाहिये बल-प्रयोग द्वारा नहीं। प्रेम, भ्रातृत्व, समानता, अन्तर्राष्ट्रीयता इत्यादि भावनाओं का निर्माण शिक्षा संस्थाओं में ही होना चाहिये। गुरुजनों द्वारा इन गुणों का व्यवहार भी होना चाहिये। इसका प्रभाव विद्यार्थियों पर अच्छा पड़ेगा क्योंकि गुरुजनों के व्यवहार का अनुकरण विद्यार्थी करते हैं। आज के संसार में इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। आज कल के विद्यार्थियों में बड़ों के प्रति, धर्म के प्रति, माता-पिता के प्रति सबके प्रति उपेक्षा की वृत्ति बढ़ती जा रही है। यह प्रवृत्ति विनाशकारी प्रवृत्ति है अतः जब बड़े छोटों के व्यक्तित्व का आदर करेंगे तभी छोटों में भी वैसे ही आचरण का बीजारोपण होगा। प्रेम, आदर, परस्पर सहानुभूति व समझ की नींव पर स्थित, कुटुम्ब विद्यालय व सच्चे, सुस्वस्थ व सन्तुलित नागरिकों का निर्माण कर सकेगा। ऐसा ही नागरिकता से प्रजातन्त्र की नींव सुदृढ़ बन सकती है।

(३) स्कूलों में तथा कुटुम्बों में दूसरों के धर्म तथा विचारों के प्रति सहिष्णुता की भावना का बीजारोपण करना चाहिये, और समाज से जाति-पाँति, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे की भावना का क्रमशः सक्रीय विधि से लोप होना चाहिये। समाज की रचना समानता के ध्येय पर होना चाहिये। प्रत्येक नागरिक में समान सेवा तथा नागरिकता की भावना की उत्पत्ति होनी चाहिये। इसकी शिक्षा भी स्कूल तथा कुटुम्ब द्वारा ही दी जा सकती है। कुटुम्ब तथा स्कूलों को चरित्र संगठन की ओर ध्यान देना चाहिये। सामाजिक समानता तो आर्थिक तथा राजनैतिक समानता के सम्बन्धित है। जब तक राज्य आर्थिक समानता की ओर प्रयत्नशील नहीं होगा तब-तक सामाजिक और राजनैतिक समानता "वास्तव में हो ही नहीं सकती है और उसका स्वप्न देखना निरर्थक है। सर्वप्रथम प्रत्येक राज्य की रचना

ऐसी होनी चाहिये कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को खाना, कपड़ा, रहने का स्थान, शिक्षा धनोपार्जन का साधन तथा सांस्कृतिक जीवन के साधन उपलब्ध होने चाहिये। जबतक प्रत्येक व्यक्ति को ये जीवि-कार्जन के न्यूनतम साधन उपलब्ध नहीं होंगे तबतक राष्ट्र और समाज में संघर्ष होता रहेगा क्योंकि इन साधनों के बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता है, और इनके बिना उनके व्यक्तित्व पर चोट पहुँ-चती है। जिसकी चोट से मनुष्य असमाजिक व्यवहार करने के लिये प्रस्तुत होता है।

इसके अलावा राज्य को प्रत्येक व्यक्ति के सांस्कृतिक, शारीरिक तथा बौद्धिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। राज्य को नागरिकों को इसके लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। ये साधन उनके सम्मुख प्रस्तुत करने चाहिये।

(४) यदि कुटुम्ब व विद्यालयों का वातावरण उपरोक्त रीति से बदला जायेगा तो इसका प्रभाव समाज, सामाजिक संस्थाओं पर भी पड़ेगा। क्रमशः इस स्वच्छ वातावरण का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों में जैसे धार्मिक राजनैतिक आर्थिक इत्यादि पर भी पड़ेगा।

(५) नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा देने के लिये प्रत्येक नगर वं गांव में तथा शहरों के वॉर्डों में ऐसी सभाओं की स्थापना होनी चाहिये, जिनका मुख्य उद्देश्य सच्ची नागरिकता की शिक्षा प्रदान करना ही होना चाहिये। अतः ऐसी नागरिक संस्थाओं में किसी विशेष राजनैतिक दल का पक्षपात न करके विस्तृत राजनैतिक शिक्षा की योजना होनी चाहिये। साधारण नागरिक को उसके कर्त्तव्य व अधिकारों का ज्ञान कराना चाहिये, मतप्रदान की रीति उसके दोष व गुण की विवेचना करनी चाहिये, तथा विविध राजनैतिक व सामाजिक समस्याओं पर चर्चा व वादविवाद द्वारा नागरिकों की राजनीति के प्रति एवं विविध समस्याओं के प्रति अभिरुचि

बढ़ानी चाहिये। इससे सचेत, विवेकपूर्ण व सुस्वस्थ नागरिकता का निर्माण होगा। अर्थात् नागरिकों में निष्पक्ष रूप से नागरिकता की जागृति करने का महत्वपूर्ण कार्य समाज के नेताओं पर अवलम्बित है। ये नागरिक संस्थायें इसके अतिरिक्त सफाई, स्वास्थ, रक्षा, मनोरंजन इत्यादि अन्य कार्यों का भी दायित्व ग्रहण करके नगर को सुन्दर व सुरम्य बनाने का प्रयत्न कर सकती हैं। इस प्रकार की छोटी-छोटी संस्थाओं में एक ही विभाग में रहने वाले व्यक्तियों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होगा, तथा ऐसी संस्थाओं का नागरिक के जीवन पर गहरा तथा स्थायी प्रभाव पड़ेगा। इन्हीं साधनों से नवीन वातावरण तैयार किया जा सकता है।

(६) **नैतिक व धार्मिक प्रभाव** :—प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण से प्रभावित होता है। प्रत्येक व्यक्ति तभी सुखी व स्वस्थ हो सकता है जब उसके निकट सम्बन्धी व निकटवर्ती व्यक्ति भी सुखी व स्वस्थ हों। यदि मैं अपने मकान को साफ सुथरा रखती हूँ किन्तु मेरे पास पड़ोसी गन्दे हैं तो उनके वातावरण का दुष्प्रभाव मुझ पर भी पड़ता है। मेरे गली की गन्दगी मेरे मुहल्ले को गन्दा करती। मुहल्ले की गन्दगी शहर को तथा शहर की प्रांत को तथा प्रान्त की राष्ट्र को तथा राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों को। उदाहरणार्थ जब प्लेग, महामारी चेचक इत्यादि फैलता है तो वह केवल मुहल्ले से सीमित नहीं रहता है किन्तु वह कई शहरों में फैल जाता है। उसी प्रकार मैं अपने बच्चे को अच्छी शिक्षा देती हूँ। किन्तु जब मेरा बच्चा अपने अन्य अशिक्षित असभ्य साथियों के सम्पर्क में आता है तो वह बहुत कुछ बातें उनसे सीखता है। इसी प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति पर भी वातावरण का, देश काल का, जाति धर्म का प्रभाव पड़ता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। साधारण व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से विचार करने की क्षमता नहीं रखता है। वह केवल सामाजिक व धार्मिक रीति-रिवाज का अनुकरण मात्र करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति आत्मोन्नत व्यक्ति देशकाल से अधिक प्रभावित नहीं होते

हैं। किन्तु व्यक्ति जैसे गाँधी जी, मार्क्स, बुद्ध भगवान, इसामहीम, डारबिन इत्यादि महान व्यक्ति देश के विचार एवं वातारवरण को अपने आत्मबल एवं विद्वता से बदलते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण पर प्रभाव डालता है, और प्रत्येक व्यक्ति वातावरण से प्रभावित होता है। आधुनिक काल में तो यह सर्व विदित है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने समीपवर्ती वातावरण से ही प्रभावित नहीं है किन्तु वह अपने दूर के वातावरण से ही प्रभावित हो रहा है। हमारी धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, विचारधारा हमारे खान पान, रहन-सहन, वेषभूषा, भाषा, साहित्य निखालिस भारतीय ही नहीं है किन्तु आचार विचार पर अन्य देशीय छाप भी विद्यमान है। आधुनिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के कारण प्रत्येक नागरिक परस्पर प्रभावित है।

प्रजातन्त्र राज्य की नींव निर्वाचन पर ही निर्भर है। आज के हिन्दुस्तान के किये प्रजातन्त्र निर्वाचन पद्धति पाश्चात्य सम्पर्क की देन है। भारतियों ने इसकी सफलता एवं उपयोगिता देख कर अपने संविधान में इसे आत्मसात कर लिया है। यदि देश में सुस्वस्थ व सच्ची नागरिकता हो, यदि नागरिकों में विवेक हो तो यह स्वाभाविक है कि हम अच्छे उम्मेदवारों का ही निर्वाचन करेंगे। यदि राष्ट्र का नैतिक वातावरण अच्छा हो तो प्रलोभन, गुटबन्दी, धमकी, जाति-पांति का भेद-भाव इत्यादि विकारों से निर्वाचन मुक्त रहेगें। अतः यदि नैतिक वातावरण अच्छा हो तो योग्य, विद्वान, विचारवान, राष्ट्रहित से प्रेरित व्यक्ति ही निर्वाचित होकर शासन की बागडोर थामेंगे। परिणाम स्वरूप वे कर्तव्यपरायण होंगे, आलस्य रहित होंगे, विशाल तथा उदार दृष्टि वाले होंगे, स्वार्थी एवं लोभी नहीं होंगे। अर्थात् ये व्यक्ति निष्पक्ष रूप से कानून बनायेंगे और निष्पक्ष रूप से उसका पालन करेंगे। ऐसे व्यक्ति नैतिक वातावरण से प्रभावित होंगे और उसके वृद्धि के साधन होंगे सरकार समाज को प्रतिबिम्बित करती है

व समाज सरकार को। ये एक दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। मनुष्य जीवन इकाई है अतः न्याय आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक जीवन का परस्पर प्रभाव पड़ता ही है। उसी प्रकार यदि राष्ट्र का नैतिक वातावरण शुद्ध होगा तो शासक वृन्द अनीति, चापलूसी, कार्य शिथिलता, कार्य के प्रति उदासीनता, पद पाकर उमान्द आदि बीमारियों से वंचित रहेंगे। जैसे ऊपर कई बार कहा जा चुका है राजनीति का प्रभाव मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता है। अतः यदि राजनीतिक क्षेत्र को स्वच्छ व नि र्मल बनाया जायेगा तो जनता का बहुत हित होगा। शासकवृन्द के पवित्र आचरण का प्रभाव क्रमशः जनता के मनोभावों पर पड़ेगा। इसी प्रकार वातावरण की शुद्धी की जा सकती है। रेल यात्रा को ही लीजिये। जन साधारण इस विभाग से बहुत अधिक सम्पर्क में आता है। इस विभाग के अशुद्ध वातावरण का असर साधारण जनता को पत्यक्ष रूप से दिखता व मालूम देता है। टिकिट कलक्टर, स्टेशन मास्टर, माल अफसर इसके अतिरिक्त रेल के बड़े से बड़े अफसरों के लोभ-अनीतिपूर्ण आचारण का प्रभाव साधारण जनता पर दो प्रकार से होता है। इनके लोभ के शिकार हो कर जनता पिसी जाती है तथा उच्च अफसरों के अनीतिपूर्ण व्यवहार को देखकर साधारण जनता भी अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करती है और उनके आचरण का अनुकरण करने लगती है क्योंकि साधारण जनता समझती है कि अनीति का मार्ग ही ठीक मार्ग है। इसी मार्ग से ही तो ये व्यक्ति सुखी व समृद्धिशाली हुये फिर मैं क्यों इससे वंचित रहूँ? पुलिस व पुलिस अफसरों का भी सम्बन्ध जनसाधारण से बहुत निकट है। इनके व्यवहार का प्रभाव जनसाधारण पर परोक्ष रूप से होता है। यदि पुलिस व पुलिस अफसर लोक-सेवक व कर्तव्यनिष्ट हैं तो वे धनी व्यक्ति जो चीनी, चावल, इत्यादि का संग्रह करते हैं उन्हें सुगमता से पकड़वा सकते हैं परन्तु धनी व्यक्ति लालच दिखाकर घूस देकर इनका मुँह बन्द कर सकता है। यदि ये लालच में पड़ कर ऐसा करते हैं तो इसका प्रभाव

समाज पर बुरा पड़ता है। बड़े-बड़े अफसर व धनवानों का अनुकरण साधारण प्रजा करती है। अतः समाज में अनैतिक वातावरण प्रचुर मात्रा में फैलता है। दूसरी तरफ संग्रह करने वाले को इतनी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती है। अतः वे उसे काला बाजार में बेंचते हैं अथवा नष्ट कर देते हैं। अतः अनाज व चीनी पर्याप्त मात्रा में होते हुये भी जन साधारण तक पहुँच नहीं सकती है। परिणाम स्वरूप जनता में असन्तोष दारिद्रय, व अनैतिकता बढ़ती है। इसी प्रकार न्याय भी शुद्ध व न्याय संगत होगा। यदि न्याताधीश न्याय पीठ पर बैठकर झूठ, फरेब नहीं करेंगे गवाह भी लोभ वश झूठ नहीं बोलेंगे। अतः न्याय अन्याय मूलक न होकर न्याययुक्त तथा निष्पन्न होगा। अतएव न्याय, शासन इत्यादि प्रत्येक मनुष्यकृत संस्था पर नैतिक वातावरण का बहुत गहरा एवं स्थायी प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक विचारवान, समाज सुधारक, शासक, राजनीतिज्ञ इत्यादि का यह पुनीत कर्तव्य है कि देश के नैतिक वातावरण को शुद्ध एवं पवित्र बनाने का प्रयत्न करें। यह काम शिक्षा संस्थाओं द्वारा भी किया जा सकता है। यदि अध्यापक वर्ग इस ओर ध्यान दें तो वे विद्यार्थियों को नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा देकर उनको जीवन में पवित्र तथा उच्च ध्येय पालन करने की शिक्षा प्रदान कर सकते हैं। विद्यार्थियों पर भी नैतिक वातावरण को शुद्ध व पवित्र बनाने का दायित्व है। वे ही भविष्य के शासक, शासित निर्वाचक, न्यायाधीश हैं।

प्रत्येक धर्म दया सहानुभूति, उच्च आदर्श, परोपकार, प्रेम, सदाचार इत्यादि का उपदेश देता है। प्रत्येक धर्मयुक्त सर्वोच्च शक्ति को मानता है। अतः उपरोक्त रीत्या प्रत्येक धर्म भ्रातृभाव को ही महत्व देता है। किन्तु आज कल धर्म संकुचित मनोवृत्ति का पोषक हो गया है। क्योंकि अधिकांश धर्म पुरातन की परिपाटी पीटते हैं, और अधिकांश धर्मों में उसकी आत्मा का अभाव है। धर्म एक मानने की वस्तु हो गई है, आचरण की नहीं। धर्म युद्ध व ईर्षा का केन्द्र बन गया है। धर्म साम्प्रदायिकता